प्रकाशक :
प्रो० दूधनाथ चतुर्वेदी
अध्यक्ष : अर्थशास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

लेखक की अन्य रचनायें :

(१) अर्थशास्त्र की विवेचना
(२) आर्थिक योजनायें और गाँधी जी
(३) श्रम-सिद्धान्त
(४) आर्थिक विकास एवं लोक-कल्याण
(५) प्राथमिक अर्थशास्त्र

प्रथम संस्करण : १००० प्रतियाँ

मुद्रक :
काशी विद्यापीठ मुद्रणालय
वाराणसी

आत्मनिवेदन

करुणा, सत्य, प्रेम और अहिंसा के अवतार, एक बुड्ढे फकीर को इस पृथ्वी पर डग भरते हमने देखा है। भविष्य के लिए आज वह एक गाथा बन रहा है। मेरे ऐसे कितने हिंसा, नास्तिकता में विश्वास करने वालों को अहिंसा, आस्तिकता का मंत्र इस महात्मा से प्राप्त हुआ। "मैं इतना जानता हूँ कि भगवान् की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।" ये वाक्य आज भी गुञ्जित हो रहे हैं। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते, आर्थिक सिद्धान्तों और समस्याओं के भीतर जाने का अवसर प्राप्त हुआ और महात्मा के सिद्धान्तों को आँखों से देखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब यह विश्वास सन्त की वाणी से आया; "मैं कहता आँखों देखी।" दरिद्रनारायण की पूजा-अर्चना हेतु यह अभिलाषा जगी कि इस कल्याणमय, सौन्दर्यमय तथा सत्यमय सर्वोदय दर्शन के आर्थिक पक्ष का विश्लेषण करूँ। सन्त विनोवा की दुन्दुभी भी बजी। मन में चेतना आयी। काशी विद्यापीठ की गोद पाकर यहाँ की परम्परागत त्याग, तपस्या के मन्द-मन्द समीर से मन झूम उठा।

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे० के० मेहता के चार वर्षों तक के उपदेश मस्तिष्क में उमड़ रहे थे इसी मध्य मेरे आध्यात्मिक गुरु पूज्य दादा धर्माधिकारी के मौलिक विचार उन उपदेशों को पूर्ण स्थिरता प्राप्त कराने में सहायक हुए। सभी प्रकार से एक अटूट विश्वास सर्वोदय दर्शन लेकर हमारे जीवन में आया। मैंने इस दर्शन से सम्बन्धित जगत् की ओर जब झाँका तो विद्वानों की अमृत वाणी का शाश्वत् सागर हिलोरों से पूरित दृष्टिगत हुआ। उसी सागर की कुछ बूंदें अपनी प्यास बुझाने हेतु यहाँ लाया हूँ।

भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ बाबू सम्पूर्णानन्द जी का यह प्रेरक वाक्य "लगता है आप कोई पुस्तक लिखने वाले हैं।" सागर में तैरने की शक्ति तथा साहस प्रदान कर सका। पंडित कमलापति त्रिपाठी जी की मौलिक देन 'बापू और मानवता' और उनके सत्संग

से उपलब्ध विद्वतापूर्ण विचारों का स्पष्ट चित्र, सर्वोदय दर्शन के चित्र उरेहने में मुझे रत्नों की लड़ियाँ प्राप्त कराने में सहायक हो सके। गाँधी संस्थान गाँधी विद्यापीठ, की कल्पनायें काशी विद्यापीठ में 'गाँधी अर्थनीति' का साकार स्वरूप ले सकीं और वे ही कल्पनायें 'आर्थिक दर्शन' को एक रूप दे सकीं।

गाँधी अर्थनीति का प्रथम प्रिय छात्र अवध प्रसाद मेरे पीछे लेखनी लेकर मौन भाव से निरन्तर खड़ा रहता। अवकाश के दिनों में कुछ लिखाकर ही उठता। लिपिबद्ध कराने का श्रेय उसी को है। मेरे कनिष्ठ पुत्र सत्येन्द्रनाथ नियमित ढंग से प्रूफ ठीक करवाते। मुद्रणालय के पाठक बन्धुओं की तत्परता सराहनीय है। परन्तु ब्रह्म रूप रामदुलार सिंह तथा उनके सहयोगी निष्ठा, तत्परता तथा कर्मठता के अवतार हैं। मेरा मन उनके साथ है। मैं अपने सभी शुभ चिन्तकों, मित्रों, सहृदय आत्माओं का ऋणी हूँ जिनके बार-बार टोकने और उत्साह देने की प्रेरणा आज पुस्तक का रूप ले सकी।

काशी विद्यापीठ
२६ नवम्बर १९६५

दूधनाथ चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम-परिच्छेद

प्रारूप

गांधीजी के चिन्तन का केन्द्र मनुष्य है। उन्होंने मानव को केन्द्र बिन्दु मान कर उसके समग्र विकास के लिये एक जीवन-दर्शन दिया है। उनके विचारों का विश्लेषण करने के उपरान्त हम उन्हें मानवीय कल्याण के अर्थशास्त्री के रूप में पाते हैं। गांधी जी ने मनुष्य को उसकी तीन मूलभूत शक्तियों—शरीर शक्ति, प्रकृति शक्ति, तथा समाज शक्ति की परिधि में देखा और उन शक्तियों को आध्यात्मिकता के साथ-साथ भौतिकता के आधार पर परखा। स्वस्थ शरीर, सम्पन्न प्रकृति तथा समृद्ध समाज उनकी योजना है। मनुष्य उनकी प्राप्ति तथा विकास के लिए सामाजिक व्यवस्था जिसे तन्त्र कहते हैं तथा भौतिकता-प्राप्ति की व्यवस्था जिसे यन्त्र कहते हैं, को अपनाता है। इसमें से कई शाखाएँ और प्रशाखाएँ पल्लवित होती हैं। मनुष्य किस प्रकार सुखी, स्वस्थ एवं सम्पन्न हो और एक ऐसी सन्तुलित जीवन-पद्धति का विकास करे जिसमें भौतिक कल्याण के साथ-साथ आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का भी निर्वाह किया जा सके, इसके लिये अर्थशास्त्र और नीति शास्त्र के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है। अर्थ के साथ नीति और भौतिकता के साथ अध्यात्म का सामंजस्य यही गांधी की सबसे बड़ी देन है।

इसी सत्य की खोज भारतीय वांङमय-वेद, उपनिषद्, पुराण आदि ने की है और इसकी खोज पाश्चात्य वांङमय-विज्ञान, यन्त्र, धर्मग्रन्थ तथा अर्थशास्त्र ने की है। अर्थशास्त्र की शृंखला में एडम स्मिथ, रिकार्डो, कार्ल मार्क्स, सीमान्तवादी तथा वैज्ञानिक अर्थशास्त्रियों में पियरो साफा ने इसी सत्य की खोज की है। विचार की इस गंगा में प्रारम्भिक स्थिति में जिस तथ्य की खोज ये अर्थशास्त्री न कर सके—केवल संकेत मात्र ही छोड़ गये, उसी तथ्य को गांधी ने खोज निकाला और एक नया समग्र मानव जीवन का आर्थिक दर्शन विश्व को दिया।

भौतिक दर्शन की व्यावहारिकता

गांधी के विचार से मानव के लिए न तो अति भौतिकता और न तो अति आध्यात्मिकता ही आचारसंहिता बन सकती है। इन दोनों में सन्तुलन ही मानव जीवन की पूर्णता तथा सफलता है। तीन महान चिन्तकों ने विश्व को तीन दिशाएँ दीं। ईसा ने कहा—"मनुष्य केवल रोटी से जीवित नहीं" कार्लमार्क्स ने कहा—"मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित है" और गांधी ने कहा—"मनुष्य को रोटी भी चाहिये।" रोटी में भगवान-को गांधी द्वारा देखा जाना भौतिकता में अध्यात्म की स्थिति का ज्ञान है। इन विचारों के आधार पर हम गांधी को व्यावहारिक आदर्शवादी कह सकते हैं। उन्होंने इस दर्शन को वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के आचरण में उतारा। गांधी का दर्शन एक ओर जीवन के रहस्यों का भान कराता है और गांधी का विज्ञान दूसरी ओर सृष्टि के नियमों और शक्तियों की खोज करता है और यही नहीं बल्कि आत्मज्ञान तथा विज्ञान दोनों सम्मिलित होकर उन शक्तियों को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के व्यवहार में उतार लेते हैं। यही गांधी की सबसे बड़ी विशेषता है। मलमूत्र से लेकर परमात्मा तक की व्यावहारिक कला इनसे प्राप्त होती है। गांधी जी ने जिसे जीवन में व्यवहृत किया उसी को पूर्ण तथ्य तथा सत्य के साथ समाज को दिया।

जीवन-दर्शन में गांधी जी ने नया मोड़ दिया, उनका धर्म न्याय नहीं अपितु करुणा है। 'दूसरों पर जीने का दर्शन', 'जीओ और जीने दो' के सह अस्तित्व पर अभी आज पहुँच रहा है परन्तु गांधी ने नया जीवन दर्शन 'दूसरों के लिए जीओ' का समाज को दिया। इस दर्शन को न केवल उपदेश तथा कल्पना का रूप दिया बल्कि इसे वैयक्तिक तथा सामुदायिक-आचरण में लिया। अब तक दर्शन ने जीवन के रहस्यों को समझा और समझाया, विज्ञान ने सृष्टि के नियमों और शक्तियों का आविष्कार तथा शोध किया परन्तु वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन और व्यवहार में परिवर्तन करने की सामर्थ्य न तो अकेले दर्शन में है और न शुद्ध-विज्ञान में ही। यही कारण है कि दार्शनिक व्यवहार विमुख तथा वैज्ञानिक प्रयोगशाला के बन्दी रह गये, परन्तु व्यवहार कुशल गांधी ने सर्वोदय दर्शन में विज्ञान के साथ-साथ आचारात्मक प्रक्रिया भी जोड़ ली। आत्मज्ञान को विज्ञान से जोड़ कर गांधी केवल विवेकयुक्त

सदाचारी, वस्तुनिष्ठ व्यक्ति ही नहीं बने बल्कि इन व्यक्तिगत शक्तियों तथा गुणों का विनियोग सामाजिक जीवन में भी किया। करुणा, अहिंसा, प्रेम तथा सत्य के व्यक्तिगत गुणों को सामाजिक गुणों में परिवर्तित करने की कला गांधी ने अपने सर्वोदय दर्शन से विश्व को दी है।

युग की जटिल उत्पादक समस्याएँ और गांधी

तीव्र गति से तकनीकी प्रगति, मिश्रित वर्गमय समाज, भौतिक विचारों, पद्धतियों, राजनीतिक व्यवस्थाओं में दुराव, प्राचीन सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक मूल्यों और अर्वाचीन सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों में संघर्ष, व्यक्ति तथा समाज का द्वन्द, कर्त्तव्य तथा अधिकार में विरोध, भौतिकता के बाहुल्य में आध्यात्मिकता की क्षीणता, सम्पन्नता में विपन्नता, नैतिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक मान्यताओं में असंगति, आदि विषम परिस्थितियों का गहन अध्ययन गांधी ने किया और इनके निराकरण के लिए युग के चलन में आनेवाले कार्यों तथा विचारों को मानवीय मूल्यों की कसौटी पर परखा और उन्हें अपनाया। गांधी जी ने इनके परिवर्तन द्वारा क्रांतिमय नये समाज, नये मानव तथा नये मूल्यों की सृष्टि की है। आर्थिक समता, कल्याण तथा न्याय की स्थापना के लिए मार्क्स के समान ही गांधी ने वर्ग-विहीन, राज्य विहीन, शोषण विहीन समाज की स्थापना में मानवता का उत्कर्ष माना है, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए गांधी ने संस्कारबद्ध कर्मठता के द्वारा सम्पूर्ण समाज को एक ही 'उत्पादक वर्ग' में परिवर्तित करने की नयी योजना प्रस्तुत की है। श्रमनिष्ठ, एक रस समाज नये मानव को साम्ययोगी बनायेगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र, स्वावलम्बी व चेतन बनकर समाज का अणु बनेगा। सत्ता तथा सम्पत्ति के घोर केन्द्रीकरण का गांधी ने पूर्ण परीक्षण किया और मनुष्य को अपने उत्पादन के साधन और विधियों को बदलने के लिये बाध्य किया। विकेन्द्रीकरण के पथ पर अग्रसर होने का संकल्प कर केन्द्रीकरण और पूँजीवादी प्रवृत्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करने वाला कदम उठाया। बिना मनुष्य को स्वसम्पन्न बनाये सार्वभौम सम्पन्नता सम्भव नहीं है। भौतिक समृद्धि के लिये गांधी ने एक नयी व्यवस्था तथा तकनीक अर्थात् तन्त्र और यन्त्र का विधान दिया। इस प्रकार गांधी ने एक सम्पूर्ण सर्वांगीण जीवन प्रयोग करके हमें नया मार्ग

बताया। अर्थनीति, राजनीति एवं समाजनीति में उन्होंने कोई विलगाव नहीं देखा।

वैयक्तिक स्वसम्पन्नता हेतु, शरीर तथा मन से स्वस्थ मनुष्य की क्या मूलभूत आवश्यकताएँ हैं, उनका निर्धारण गाँधी ने सबसे पहले किया। तदुपरान्त उनकी तृप्ति की प्रक्रिया में उत्पादक श्रम की अनिवार्यता का विश्लेषण किया। इसमें यन्त्रों की मर्यादा, केन्द्रित, विकेन्द्रित व्यवस्था का निरूपण, नयी व्यवस्था की कल्पना एवं मूल्यों का निर्धारण नये ढंग से गाँधी ने किया है।

स्वास्थ्यवर्धक न्यूनतम् आवश्यकताओं की मीमांसा, कर्ममीमांसा ('ब्रेड लेबर'), श्रम की पवित्रता, मानवीय मूल्यों का मापदण्ड, स्वावलम्बन से परस्परावलम्बन की व्यवस्था का निरूपण, खेतीबारी, पशु, उद्योग की प्राथमिकता तथा महत्व के पूर्ण विश्लेषण के उपरान्त गांधी जी ने एक ऐसी सहकारी समाज-व्यवस्था और सामूहिक जीवन पद्धति को विकास का प्रारूप दिया, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण हो और मानव व्यक्तित्व के उच्चतम विकास में वह सहायक बन सके। व्यक्तिगत स्वार्थों का सामाजिक स्वार्थों एवं कल्याण के साथ सामंजस्य स्थापित हो सके, मानवीय दृष्टि को सर्वोत्तम महत्व प्राप्त हो, आध्यात्मिक मूल्यों को भौतिक मूल्यों की तुलना में प्राथमिकता प्राप्त हो, यही गांधी की आन्तरिक इच्छा थी। कार्य की प्रक्रिया में सर्जनात्मक आनन्द की उपलब्धि हो, ऐसी यांत्रिक व्यवस्था हो। आर्थिक शोषण ही नहीं सभी प्रकार के शोषण का अन्त, पूर्ण उद्यम की स्थापना, पूर्ण साधनों का उपयुक्त प्रयोग, श्रम की उत्पादक शक्ति को पूर्ण महत्व तथा सम्मान प्राप्त हो। श्रम ही उत्पादन का साधन, विनिमय का माध्यम, उत्पादन का स्वामी और नियामक तथा नियन्त्रण कर्त्ता हो, तभी समाज समृद्धमय, शान्तिमय और सुखमय बन सकता है।

अर्थशास्त्र के उस दर्शन की, जो भारतीय वाङ्मय, वेद, उपनिषद्, महाभारत, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि में मनु, बृहस्पति, शुक्र, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, पिशुन, विशनलाक्ष आदि द्वारा प्रस्फुटित है, भूमि पर रस्किन, कार्लाइल, थोरियो, टाल्सटाय, सेन्ट साइमन के पाश्चात्य मानव अर्थशास्त्र की खुराक से नवीनतम मानवीय अर्थशास्त्र का सृजन महात्मा गांधी ने किया है। मानव अर्थशास्त्री के रूप में गांधी का सबसे बड़ा स्थान है। मानवीय आर्थिक क्रियाओं की उनकी अपनी एक नवीन और भिन्नतम व्याख्या

है। जो कुछ भी उन्होंने कहा, जो कुछ भी सोचा, वह सब मानव को केन्द्र मान कर ही है।

विश्लेषणात्मक आर्थिक क्षेत्र

ग्रामीण अर्थशास्त्र का पूर्ण नया विश्लेषण करके गांधी ने इसे सर्वोपरि स्थान दिया है। इसके चार स्तम्भ—खेती, बारी, पशु तथा उद्योग की सारी समस्याओं का जो चित्र उपस्थित किया है, वह प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों तथा वर्तमान युग तक के अर्थशास्त्रियों के निरूपण से मेल खाता हुआ भी विचित्र है। खाद्यान्न, उपयोगी कच्चे माल की मात्रा तथा प्रकार का निर्धारण और नशीली व्यावसायिक वस्तुओं के उत्पादन का निषेध एक नये कृषि अर्थशास्त्र का सृजन करता है। ग्रामोद्योग तथा खादी का अर्थशास्त्र नये मूल्य का आधार बनता है। लोक अर्थशास्त्र नियोजन, श्रम, पूँजी, यन्त्र, स्वामित्व, बेकारी, मुद्रा, विनिमय, वितरण, व्यवस्था, पद्धति का नया स्वरूप गांधी जी ने दिया। अब तक के प्रचलित स्वरूपों में नवीनता तथा स्थायित्व प्रदान करने का इन्हें बहुत बड़ा श्रेय है। युग की मानवीय माँग के अनुकूल ही इनका विचार है। सभी का विकास हो, सभी सुखी हों, यही गांधी का सर्वोदय दर्शन है।

मनुष्य, मशीन, व्यवस्था, साधन तथा पद्धति के ये पंच तन्त्र गांधी जी के आर्थिक दर्शन में पूर्णतया मानव कल्याणकारी स्वरूप धारण कर लेते हैं। कैसे इनका नया रूप स्थायी रहे, यही गांधी जी की मौलिकता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को काम, दाम तथा प्रतिष्ठा गांधी ने प्रदान की है। इन तीनों की पुनः अलग-अलग व्याख्या तथा मीमांसा की है। सामूहिक सफाई, कताई तथा प्रार्थना को दैनिक व्रत बना दिया है।

आर्थिक द्वन्द्वों का समाधान

व्यक्ति का व्यक्ति से द्वन्द, व्यक्ति का समाज से द्वन्द, व्यक्ति तथा प्रकृति का द्वन्द, एक आर्थिक पद्धति का दूसरी आर्थिक पद्धति से द्वन्द। पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, पूँजी तथा श्रम का द्वन्द, मशीन तथा मनुष्य का द्वन्द, उत्पादन तथा विनिमय में द्वन्द, मानवीय मूल्यों तथा भौतिक मौद्रिक मूल्यों में द्वन्द, केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उद्योगों में द्वन्द, काम तथा आराम में द्वन्द, आदि का समाधान अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, राजशास्त्रियों ने विविध रूप से प्रस्तुत किया है, परन्तु अभी तक उनका

सही समाधान न प्राप्त होने के कारण सम्पूर्ण विश्व क्षुब्ध है और समाधान की खोज में है। यही समाधान गांधी जी ने एक नये मूल्य तथा नये समाज और नयी पद्धति द्वारा नये सुखी मानव को दिया है। सभी द्वन्दों का समाधान न तो आज का नोचनहारी केन्द्रित समाज, न तो सम्पन्नशील समाज और न तो प्रबन्धात्मक समाज दे पा रहा है। इसका कारण यही है कि इनके मूल्यों, पद्धतियों और भावनाओं में विभिन्नता है ही नहीं। गांधी जी ने अपनी नवीन पारिवारिक समाज की कल्पना द्वारा सभी द्वन्दों का समाधान प्रस्तुत किया है। पारिवारिक गुणों—प्रेम, करुणा, अहिंसा, त्याग के द्वारा ये द्वन्द आर्थिक क्रियाओं में रह ही नहीं जाते। गांधी जी की यही कला है। उनके साध्य तथा साधन एक ही पूर्ण कसौटी—मानवीय मूल्यों पर आधारित हैं। इसलिये गांधी जी ने सत्य को पूर्ण-रूपेण प्राप्त किया। मानवीय कल्याण-अर्थशास्त्री की संज्ञा से वे सम्बोधित किये जा सकते हैं।

उपभोग का अर्थशास्त्र

गांधी ने विकासशील देशों की आर्थिक कठिनाइयों का भारतीय अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में चिंतन किया। विदेशों की भाँति दिखावटी उपभोग को छोड़, स्वास्थ्यवर्द्धक जीवनदायिनी आवश्यकताओं की तृप्ति पर बल दिया है। सादा जीवन, उच्च विचार, उनका लक्ष्य है। अर्थव्यवस्था विदेशों की भाँति उपभोग-प्रधान न होकर उत्पत्ति-प्रधान हो तथा सर्वप्रथम मूलभूत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की जाय। विलासिता सम्बन्धित आवश्यकताओं की तृप्ति, समाज में सबकी मूलभूत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के उपरान्त ही होनी चाहिये। उपभोग की मात्रा उतनी ही हो जितना उपभोक्ता उत्पादन कर सकता हो। उपभोग करते समय इस बात का भी ध्यान रहना चाहिये कि उपभोग इन्द्रियों के क्षणिक आनन्द के लिये न हो अपितु सुख एवं कल्याण के लिये हो। साथ ही यह उपभोग अहिंसा के आधार पर होना चाहिये जिससे उसका किसी भी सम्बन्धित व्यक्ति पर विपरीत प्रभाव न पड़ने पाये।

उपभोग का लक्ष्य गांधी ने जीवनमान तथा मानवीय मूल्य उठाना माना है न कि विलासिता का स्तर उठाना। उनके विचार से व्यक्ति को अपनी आवश्यकतायें मर्यादित करके केवल उन्हीं आवश्यकताओं की तृप्ति

करनी चाहिये, जिनसे स्वास्थ्य वृद्धि हो। स्वाद के लिये उपभोग की निन्दा की गई है। गांधी ने व्यक्तिनिष्ठ उपभोग के स्थान पर समाजनिष्ठ उपभोग में अपनी आस्था एवं निष्ठा व्यक्त की है।

विनिमय तथा मुद्रा का अर्थशास्त्र

गांधी के विचार में आज की अर्थव्यवस्था में मुद्रा भ्रम और धोखे का स्वरूप है। यही कारण है कि इस अर्थ-व्यवस्था का रहस्य मँहगे-सस्ते का भ्रामक हौआ बना हुआ है। इसकी समाप्ति के लिये गांधी ने बहुत आसान विधि निकाली जो मानवीय मूल्यों पर आधारित है। उनके विचार से वस्तुओं का विनिमय अगर वस्तुओं से किया जाय तो इस समस्या का समाधान निकल आये। किसी वस्तु का मूल्य क्या हो, इस सम्बन्ध में मुद्रा की मापक शक्ति को नकली तथा व्यर्थ कहते हुए श्रम को ही एक मात्र मापक माना है। श्रम मूल्य का मापक ही नहीं वरन् मूल्य का माध्यम, मूल्य का संचयकर्त्ता भी है। परन्तु मुद्रा शोषण का माध्यम है। मुद्रा अनुत्पादक व्यवसायों को प्रोत्साहन देती है, जैसे दलाली पर चलनेवाले, मनुष्य के विकारों पर चलनेवाले, मनुष्य के व्यसनों पर चलनेवाले, मनुष्य की बीमारी और विवशताओं पर चलनेवाले व्यवसाय। यही नहीं गांधी ने श्रम बैंक की कल्पना की और कहा कि नैतिकता और सामाजिक स्वास्थ्य के लिए मुद्रा के स्थान पर श्रम का ही प्रयोग हो। व्यापार व्यक्तिगत नहीं समाज गत हों।

श्रम अर्थशास्त्र

कर्म मीमांसा में ब्रेड-लेबर, श्रमनिष्ठ तथा प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण मानवीय चित्रण गांधी जी के आर्थिक विश्लेषण में है। मार्क्स ने श्रम को एक आशा तथा शक्ति प्रदान की थी किन्तु महात्मा गांधी ने श्रम को पवित्रतम् मानव धर्म की दिनचर्या बना दिया। मार्क्स ने श्रमिकों को लोकात्मा के रूप में देखा, गांधी ने एक मंजिल आगे आकर, लोकात्मा को दरिद्रनारायण के रूप में देखा। नये मूल्य, नयी निष्ठा के अन्तर्गत श्रम अर्थशास्त्र की विचारधारा प्रस्तुत की है। प्रत्येक मनुष्य श्रमवान बने, श्रम से ही उत्पादन सम्भव है। श्रम प्रत्येक मनुष्य का प्रतिदिन का व्रत बने। श्रम ही उत्पादन का साधन और साध्य है। श्रम ही वस्तुओं का

मूल्य निर्धारित करता है। श्रम ही विनिमय तथा वितरण का माध्यम है। मनुष्य क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं। कार्य ही पूजा है। मानव का व्यक्तित्व श्रम से ही निखरता है। श्रम ही आनन्द तथा संस्कृति का सृजन करता है। इसे आनन्ददायक होना चाहिये। इसलिये जब कार्य इच्छा के विरुद्ध होता है तो वह दण्ड है, जब कार्य दाम के लिये किया जाता है तो वह मजदूरी है, जब कार्य दूसरे की इच्छा से किया जाता है तो वह गुलामी है, जब कार्य स्वयं की इच्छा से किया जाता है, तो वह मनोरंजन तथा आनन्द है। गांधी ने उत्पादन कार्य में मनोरंजन को घोलकर आनन्द का अनुभव कराया और मानव संस्कृति का विकास कराया है। श्रम तथा पूँजी का संघर्ष समाप्त हो गया। मार्क्स ने जहाँ श्रमिकों को अधिकार का पाठ पढ़ाया, गांधी ने उन्हें कर्मनिष्ठ बनाया।

यन्त्रों की मर्यादा और अर्थशास्त्र

यन्त्र मानव का सहायक हो, उसका विनाशक न हो। इसलिए मारक यन्त्रों के लिए कोई स्थान नहीं है। द्रुतगामी यातायात, संवादवहन के साधनों और यन्त्रों का अधिकतम प्रयोग हो। उत्पादक यन्त्रों को मर्यादित करना ताकि वे मनुष्य की शक्ति के विकास में सहायक हों। मनुष्य अपनी जीविका का उपार्जन स्वतन्त्र, स्वावलम्बी तथा स्वामी होकर कर सके। मालिक तथा मजदूर का सम्बन्ध समाज से विलीन हो जाय। शोषक तथा शोषित न हों। प्रत्येक उत्पादक साधनों का स्वामी भी हो। यन्त्र मानवीय गुणों को विकसित करे। मानव कला तथा निपुणता का विकास करे, मानव शरीर तथा मस्तिष्क का विकास करे, यन्त्र के प्रयोग से शरीर विकृत न हो जाय; यन्त्र, कार्य में ही आनन्द, मनोरंजन तथा संस्कृति का सृजन करे, मानव सुख तथा स्वतन्त्रता का सम्वर्धन करे, यन्त्र उत्पादक श्रमिक की प्रतिष्ठा तथा महत्ता की वृद्धि करे। यन्त्र प्रथम सोपान में अनुत्पादक स्वामित्व को समाप्त करे, द्वितीय सोपान में उत्पादक स्वामित्व की स्थापना कराये तथा तृतीय सोपान में सभी प्रकार का स्वामित्व समाप्त कराये, ताकि व्यक्ति का जीवन समाज-मय बन सके। सभी व्यक्ति साम्ययोग द्वारा उत्पादक बनकर समाज की सेवा करें। स्वशासन तथा स्वनियन्त्रण का व्यक्तित्व निखरे।

ग्रामीण अर्थशास्त्र

जब अर्थशास्त्र और जीवन में ग्रामदृष्टि का प्रवेश होगा, तब देहात की चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर जनता का मन झुकेगा। अपने जीवन की आवश्यक वस्तुयें देहात में तैयार कराने की ओर उसका झुकाव होगा। इसके फलस्वरूप देहात की कला और औजारों को सुधारने की, देहात के लोगों को सिखाने पढ़ाने की, देहाती जंगल तथा खेती को पैदावार तथा उपयोग करने के ज्ञान के अभाव में देहात में बेकार चली जाने वाली सम्पत्ति के अनेक प्राकृतिक साधनों की जाँच पड़ताल की प्रवृत्ति पैदा होगी। गांधी को ग्राम प्यारा था। वे आज के शहरों को देखना नहीं चाहते थे। शहर की सारी अर्थ-व्यवस्था का आधार शोषण है। समस्त शोषक और अनुत्पादक वर्ग शहरों में रहता है। शहर ग्राम के शोषणगृह हैं। सारी सम्पत्ति का सृजन ग्रामीण क्षेत्र में होता है। इसलिये ग्रामवासी किसान भगवान् है, अन्नदाता है। सबका पालनकर्त्ता है। गांधी ग्रामस्वराज्य के लिये ही जीवन भर लड़ते रहे। स्वतंत्र भारत का राष्ट्रपति किसान होगा। कांग्रेस आन्दोलन किसान आन्दोलन रहा। नये प्रकार के गाँव का निर्माण करना, गाँव को पूर्ण शक्तिशाली बनाना, प्रत्येक व्यक्ति को ग्राम सेवा की ओर संलग्न करना, गांधी का प्रथम रचनात्मक कार्य था। ग्रामीण अर्थशास्त्र जितना ही सबल तथा पुष्ट होगा उतना ही राष्ट्र सुखी तथा सम्पन्न होगा। सभी प्रकार का शोध तथा प्रयोग, सम्पत्ति के स्रोत ग्राम के निर्माण के लिये गांधी जी ने किया। खेती-बारी, पशुपालन तथा उद्योग, इन चार स्तम्भों पर ग्रामीण अर्थशास्त्र खड़ा है। पंचायत, सहकारिता, आदि का अर्थव्यवस्था के निर्माण में क्या योग है, इसकी पूरी मीमांसा गांधी जी ने की है। हिन्द स्वराज्य में इन सबका नया तथा मौलिक दृष्टिकोण गांधी ने रखा है।

स्वदेशी तथा खादी का अर्थशास्त्र

चरखा स्वराज्य का अमोघ अस्त्र है। आज भी कांग्रेस के झण्डे पर यह प्रतीक है। गांधी जयन्ती न मनाकर उनका जन्म-दिवस चर्खा जयन्ती के रूप में मनाया जाय, यह गांधी की चरखे के प्रति निष्ठा है। इसके द्वारा वे उत्पादक मजदूर की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते थे। करोड़ों भूखों तथा नंगों की उत्पादक शक्ति का भान कराना चाहते थे। उनके एकादश

व्रत में स्वदेशी की महत्ता खादी में प्रकट होती है। प्रत्येक उपभोक्ता पहले उत्पादक बने, खादी का यही अर्थशास्त्र है। उस शक्ति को जागृत करना ही स्वराज्य है। खादी के धागे-धागे में उन्होंने अपार शक्ति का अनुभव किया है। खादी जीवन दर्शन है। यह मनुष्य की अतुल कर्मठ सुप्त उत्पादक शक्ति का परिचायक है। खादी एवं ग्रामोद्योग की महत्ता, चरखा बनाम मिल का विचार पूर्ण पुष्टि प्राप्त करता है। खादी तथा ग्रामोद्योग कृषि के साथ ताने बाने के रूप में है। इससे कोई बेकार नहीं कोई संघर्ष नहीं, कोई शोषण नहीं, कोई असन्तोष एवं कोई अशान्ति नहीं। आज भी लोकशाही में राजनैतिक दलों के प्रतीक के रूप में चरखा, हल, हथौड़ा, हंसुआ, उत्पादक-वर्ग किसान, कारीगर, मजदूर की प्रतिष्ठा की वृद्धि कर रहा है। गांधी जी का स्वदेशी तथा चरखा का अर्थशास्त्र आज के युग के अनुकूल है।

लोक अर्थशास्त्र

व्यक्तिगत जीवन तथा लोक जीवन में उनके लिये कोई भेद नहीं है। कुछ कार्य लोकोपकारी होंगे। उनके प्रकार तथा विस्तार के अनुकूल उनका अर्थशास्त्र भी होगा। प्रत्येक व्यक्ति की भावना, जो लोक सेवा में संलग्न होगा, सेवा से ओत-प्रोत होगी। न्यूनतम तथा अधिकतम पुरस्कार की सीमा में बहुत बड़ा भेद नहीं होगा। लोक व्यय की निर्धारित मर्यादा होगी। लोक सेवक जैसे, मंत्रीगण के कर्त्तव्य होंगे कि वे राष्ट्र के निम्न श्रेणी के व्यक्ति के जीवन से सम्पर्क तथा तादात्म्य रखें ताकि अन्तिम व्यक्ति के सुख-दुख की अनुभूति उन्हें लगातार होती रहे।

नियोजन की इकाई अन्तिम व्यक्ति, अन्तिम भूमि तथा अन्तिम इकाई होगी। अन्न प्रधान ग्रामोद्योग मूलक संयोजन हो। कर ऐसी वस्तुओं पर नहीं लगेगा जो जीवन-दायिनी वस्तुयें हैं या जो सर्वसाधारण के उपभोग के लिए आवश्यक हैं। नमक कर आदि नहीं लगेंगे। नगरपालिका, ग्रामपालिका, राष्ट्रीय सरकार के धन प्राप्त करने की मर्यादा तथा संहिता गांधी जी ने बनाई है। गांजा, भांग, शराब ऐसी नशा की वस्तुओं का उत्पादन न होगा। मद्यनिषेध अनिवार्य होगा। इनसे धन प्राप्त करने का उद्देश्य राज्य के लिए नैतिक कलंक है।

उद्योग, कृषि, यातायात आदि के विषय में राज्य के कर्त्तव्य उसके

लिये साधन आदि के विषय में गांधी जी ने नया दृष्टिकोण रखा है। पुलिस, सेना, शोषण के प्रतीक न होकर लोक सेवा में परिवर्तित हों।

औद्योगिक सभ्यता का अर्थशास्त्र

आज की औद्योगिक सभ्यता एक महान रोग है। बड़ी मशीन, बड़े उद्योग मानवीय गुणों के नाशक हैं। बड़े यंत्रों से मनुष्य का शरीर और मस्तिष्क विकृत होता है। मनुष्य मनुष्य न रहकर मशीन का पुर्जा बन जाता है। मनुष्य की कारीगरी, कला, संस्कृति आदि का नाश हो जाता है। कृत्रिम मांग तथा कृत्रिम खपत, अन्धाधुन्ध विज्ञापन, नकली तथा विषैली वस्तुओं की सृष्टि, बेकारी, दरिद्रता, असमर्थता का प्रसार, सम्पन्नता के मध्य विपन्नता की पाशविक लीलायें, प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग, अनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन आदि मशीन के कारण हो रहे हैं। लोभ, ईर्ष्या, संघर्ष की वृद्धि हो रही है। उत्पादन स्वास्थ्य के लिये न होकर स्वाद के लिये हो रहे हैं। इस अनर्थकारी स्थिति को परिवर्तित करना, उद्योग तथा मशीन को मनुष्य के दरवाजे पर पहुँचाना जिससे प्रत्येक मनुष्य का पुरुषार्थ जगे, गांधी ने अपना लक्ष्य रखा मशीन, उद्योग के विषय में नवीनतम मानवीय आर्थिक विचार हैं, अर्थव्यवस्था में मशीन तथा उद्योग ऐसे हों जिनमें प्रत्येक मनुष्य को अपने उत्तरदायित्व का भान हो, उद्योग तथा कला में विच्छेद न हो, शरीर धारण के लिये कुछ परिश्रम आवश्यक हो, अधिक बोझिल, गन्दा कार्य मशीनों द्वारा हो। कृषि की सभ्यता तथा इसका अर्थशास्त्र सर्वोत्तम हो, यही गांधी ने प्रतिपादित किया है।

मशीन का प्रयोग सामन्तशाही में सत्ता के लिये किया गया। पूँजीवाद में शोषण के लिये किया गया। परन्तु सर्वोदय में भातृ-भावना तथा प्रेम के लिये किया जायगा। नवीन आविष्कार, प्रत्येक व्यक्ति को स्वसम्पन्न, समर्थ, स्वतन्त्र बनाने की दिशा में होगा। सबको काम, उचित दाम तथा पूर्ण प्रतिष्ठा का लक्ष्य विकेन्द्रित उद्योगों तथा कृषि द्वारा ही सम्भव है।

आर्थिक पद्धति तथा निर्माण

पूँजीवादी पद्धति में उत्पादन, विक्रय तथा विनिमय के लिये होता है; समाजवाद में उत्पादन उपभोग के लिये परन्तु सर्वोदय पद्धति से उत्पादन

स्वास्थ्य तथा पड़ोसी के लिये होता है। भ्रातृभाव के प्रसार के लिये उत्पादन होगा। उत्पादन के साधनों का, उत्पादन विधियों का पूँजीवाद में व्यक्तिकरण, समाजवाद में समाजीकरण होता है, परन्तु सर्वोदय पद्धति में उनका परिवारीकरण होगा। बाजार, दरबार की अर्थव्यवस्था, परिवार की अर्थव्यवस्था में बदल जायगी। पारिवारिक अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था के समस्त दोषों का निराकरण होगा।

प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी होगा। स्वावलम्बन की अर्थव्यवस्था होगी, पूँजीवादी परावलम्बी अर्थव्यवस्था का अन्त होगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी बनकर परस्परावलम्बी बनेगा। कोई कार्य छोटा बड़ा न होगा। प्रत्येक उपभोक्ता अपनी उपभोग की वस्तुओं का निर्माता बनने में गौरव का अनुभव करेगा। शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा होगी। प्रत्येक व्यक्ति थातेदारी के सिद्धान्त का पालन करेगा। समाज में जिस व्यक्ति के पास जो भी निर्माण तथा उत्पादक शक्ति और पूँजी है, उसका प्रयोग समाज की समृद्धि में करेगा। श्रमदान, भूदान, सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, साधनदान तथा जीवनदान की प्रक्रिया से प्रत्येक व्यक्ति समाज को सम्पन्न बनायेगा। आध्यात्मिक समाजवाद का स्वरूप सर्वोदय अर्थव्यवस्था निखारती है। इस प्रकार की पद्धति में परिवार के भीतर के सभी गुणात्मक मूल्यों का विकास होगा, जिससे विश्वबन्धुत्व के अहिंसात्मक आधार पुष्ट होंगे। उत्पादन के साधन का प्रयोग करने का अधिकार सामाजिक भूमिका में सबको है, परन्तु स्वामित्व का अनुत्पादक स्वरूप नहीं होगा। समाज सम्पत्तिनिष्ठ नहीं अपितु श्रमनिष्ठ होगा।

कुछ कार्य पंचायती तथा केन्द्रित होंगे। समाज रचना पिरामिड की तरह होगी। ग्राम प्रथम तथा प्रभावशाली इकाई होगी। व्यक्ति स्वावलम्बन, परिवार स्वावलम्बन की प्रक्रिया आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में होगी। कार्य विभाजन राष्ट्रस्तर पर, क्षेत्रस्तर पर तथा ग्रामस्तर पर प्रकार व पद्धति के आधार पर होगा। इस व्यवस्था में व्यक्ति विभूति होगा। उसका व्यक्तित्व विकसित होगा परन्तु वह विकास सामाजिक होगा। समाज तथा व्यक्ति के द्वन्द्वों का अस्तित्व ही मिट जायगा। रामराज्य, ग्रामस्वराज्य, ग्रामदान की सर्वोदय अर्थनीति की कल्पना है। कृषि, ग्रामीण उद्योग, सफाई, आरोग्य, मकान, शिक्षा, ग्राम-संगठन पर ही विशेष बल है।

अन्य आर्थिक दर्शनकारों तथा गांधी में साम्य

गांधी जी मानव-कल्याण के अर्थशास्त्री हैं। सिसमण्डी, सेन्ट साइमन, लिस्ट, आदम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, प्राउधन, मार्क्स, मिल, मार्शल, पीगू, वेन्थम पियरोलाफा आदि के विचारों से गांधी विचार की पुष्टि होती है। क्लासिकी अर्थशास्त्रियों तथा समाजवादी अर्थशास्त्रियों के विचारों के प्रयोग विश्व में हुए तथा हो रहे हैं परन्तु उनके प्रयोग से अपेक्षित सफलता तथा आकांक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकी। गांधी जी के विचारों में एक मौलिक शक्ति है और उसका प्रयोग अब तक नहीं हुआ है। इसके प्रयोग से मानवीय समग्र आकांक्षाओं की तृप्ति होगी। ऐसा विश्वास है।

आर्थिक क्रांति के सोपान

सर्वोदय अर्थव्यवस्था के अनुसार एक नये आर्थिक समाज के निर्माण के लिये कुछ आवश्यक कदम हैं—

(१) "सबै भूमि गोपाल की" "सब सम्पति रघुपति की आही"-भूमि तथा सम्पत्ति की मालकियत का विसर्जन सारे समाज के लिये हो।

(२) समाज में एक ही उत्पादक वर्ग-श्रमिक वर्ग हो।

(३) पुरस्कारों में विषमता न हो।

(४) श्रम ही विनिमय तथा जमा का साधन हो, वास्तविक सम्पत्ति हो।

(५) खेती तथा ग्रामोद्योग को प्रधानता तथा प्राथमिकता हो।

(६) यंत्रोद्योग मर्यादित तथा पंचायती हों। यंत्र केवल मानव के लिये हैं।

(७) व्यापार संस्थागत तथा सरकारी हो।

(८) जीविका के लिये उत्पादक उद्योग अनिवार्य तथा आवश्यक हो।

(९) मूलभूत उद्योग विकेन्द्रित तथा निजी हो।

(१०) कार्य तथा आराम समान तथा सहयोगी हों।

(११) बौद्धिक श्रम समाज सेवा का साधन हो।

(१२) सारी अर्थव्यवस्था व्यक्ति, ग्राम तथा राष्ट्र के स्वावलम्बन के साथ पारिवारीकरण की हो, जिससे लोकतंत्र तथा विकेन्द्रीकरण प्रत्येक मानव के गुणात्मक विकास में सहायक हो।

गांधी के आर्थिक दर्शन में ही मानव सभ्यता तथा संस्कृति का संरक्षण

भारतीय सभ्यता में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का विवेचन मानवता को प्रधानता देता है। अर्थ मानव जीवन को इस प्रकार संवर्द्धित तथा विकसित करे कि मानवीय सभ्यता को किसी प्रकार का आघात न पहुँचे। अब तक के पाश्चात्य आर्थिक विचारकों ने जो विचार प्रस्तुत किया, इससे मानवीय सभ्यता, भौतिकता से इतनी ग्रसित हो गई कि उसकी प्राणशक्ति धूमिल पड़ गई। अर्थ-विचार की गंगा में नित्य नई धाराओं का सृजन और प्रवाह हो रहा है। इस प्रवाह में मानव सभ्यता के अवयव–सदाचार, नैतिकता, मानवता, सहिष्णुता, करुणा और प्रेम विलुप्त हो रहे हैं। यह एक विडम्बना ही है। मनुष्य सम्पत्ति के मोह और भौतिकता के प्रवाह में खो गया है। क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने आधुनिक पूँजीवाद के आधार-सम्पत्ति पर गम्भीर विचार किया और यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति वही है जिसका प्रतिमूल्य होता है। सभी वस्तुयें जिनका प्रतिमूल्य है, वे सम्पत्ति हो सकती हैं। तभी यह स्पष्ट हो गया कि मानवता, नैतिकता, सदाचार, करुणा, प्रेम आदि जिनके प्रतिमूल्य होते ही नहीं और यदि इनमें प्रतिमूल्य की आकांक्षा आ जाती है तो ये अपवित्र, विकृत और आदर्शहीन हो जाते हैं, ये सम्पत्ति की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते। अतएव संस्कृति और सम्पत्ति में विरोध है। सम्पत्ति का यह स्वरूप मानव सभ्यता और संस्कृति का स्रोत नहीं हो सकता और न तो मानवता का संरक्षण और पोषण ही कर सकता है। आदमस्मिथ और रिकार्डो के सम्पत्ति के इस स्वरूप, जिसका आधार प्रतिमूल्य होता है यदि जीवन में मान लिया जाय तो जीवन का चलना ही असम्भव हो जाय। इसीलिये इसे जीर्ण मतवाद कह कर कार्ल मार्क्स ऐसे मनीषियों ने अस्वीकार किया। बिना प्रतिमूल्य के जीवन-दायिनी आवश्यकतायें और सेवायें मानव-समाज की पहली आवश्यकतायें हैं। जो भूखा है उसे अन्न, जो नंगा है उसे कपड़ा, जो आश्रयहीन है उसे आश्रय मिले, यह मानवता का तकाजा है। हमारे सामाजिक जीवन में अर्थशास्त्र का प्रतिमूल्य का सिद्धान्त 'कम से कम' चलन में है। इसी से भारतीय सामाजिक जीवन अभी तक चल रहा है। जितना ही प्रतिमूल्य का सिद्धान्त मानव जीवन में वृद्धि पाता है उतना ही जीवन का निर्वाह कठिन

होने लगता है। उतनी ही मात्रा में मानव सभ्यता और संस्कृति का ह्रास होता है।

आदमस्मिथ के उपरान्त रिकार्डो ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का विवेचन किया। मानव निर्मित वस्तुओं का उत्पादन, उपकरणों का उत्पादन आदि सभी श्रम से ही होता है। अतः सभी वस्तुओं का मूल्य श्रम ही है। आगे चलकर मार्क्स ने इसे अपना लिया और यह मान्यता दी कि श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य है। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन से अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निकला। श्रमिक जितना श्रम करता है उससे कम प्रतिमूल्य उसे प्राप्त होता है और बचे हुए श्रम का मूल्य अनुत्पादक पूँजीपति हड़प लेता है।

सबसे प्रमुख विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या श्रम का वास्तविक मूल्य हो सकता है? इसके विवेचन में हमें परिस्थिति के अनुसार मूल्य के सिद्धान्त को भी विचार में रखना चाहिये, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जब समाज में वस्तुओं की जैसी प्रचुरता या न्यूनता होती है, उसी के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त में श्रम के वास्तविक मूल्य का कोई विचार नहीं है। इसी प्रकार से जब लड़का बीमार है उसकी माँ महीनों उसकी सेवा करती है तो उसके इस दिन रात के परिश्रम का वास्तविक प्रतिमूल्य न तो पूँजीवादी व्यवस्था में और न तो साम्यवादी एवं समाजवादी व्यवस्था में ही होता है। इस श्रम का प्रतिमूल्य कभी हो ही नहीं सकता। श्रम का प्रतिमूल्य निर्धारित नहीं हो सकता, इसे सिद्धान्त रूप में समाजवाद ने भी स्वीकार कर लिया है। समाज में इस विवेचन के उपरान्त दो सिद्धान्त हमारे समक्ष आते हैं। प्रथम योग्यतानुसार परिश्रम अर्थात् प्रतिमूल्य निरपेक्ष परिश्रम, दूसरे जितनी आवश्यकता उतना ही उपभोग एवं परिश्रम। इन दोनों सिद्धान्तों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध और व्यावहारिक सामञ्जस्य नहीं दिखलाई पड़ते। हम जितना श्रम करें उतना ही उपभोग करें तो आवश्यकता गौण हो जाती है। उतना ही श्रम करें जितनी आवश्यकता है तो सामाजिकता गौण हो जाती है। जितनी योग्यता हो उतना ही श्रम करें और आवश्यकतानुसार उपभोग करें। नये आर्थिक दर्शन तथा जीवन दर्शन के क्रान्ति द्रष्टाओं ने इसी पृष्ठ भूमि में विचार विमर्श किया। परन्तु व्यवहार में इस सामञ्जस्य को फलीभूत न कर सके, यही विडम्बना रही है।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जितनी योग्यता है उतना परिश्रम क्यों किया जाय ? अर्थात् श्रम का प्रेरक क्या हो ? आज तक किसी ने इसका सही उत्तर नहीं दिया। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इसका प्रेरक प्रतिमूल्य को बतलाया अर्थात् जितना प्रतिमूल्य उतना श्रम। परन्तु जिस क्रिया में प्रतिमूल्य की अपेक्षा नहीं, वही नैतिकता, सदाचार, मानवता है। किसी के दुःख में दौड़कर सम्मिलित हो जाना यही मानवता की प्रेरणा है। जिसे साम्यवाद या समाजवाद ने सामाजिक प्रेरणा कहा है। यह स्पष्ट है कि यह सामाजिक प्रेरणा है आर्थिक प्रेरणा नहीं। परन्तु यह भी सत्य है कि यह समाजवादी प्रेरणा स्वार्थमय सामुदायिक प्रेरणा होती है। इसमें नैतिकता नहीं हो सकती क्योंकि स्वार्थ चाहे वैयक्तिक हो चाहे सामुदायिक, दोनों स्वार्थ ही हैं। परन्तु जब सामुदायिक प्रेरणा को पारस्परिक प्रेरणा में हम पाते हैं तो उसे हम मानवीय प्रेरणा कह सकते हैं। यह प्रेरणा निःस्वार्थ एवं निरपेक्ष होती है। इसमें उदारता अधिक, स्वार्थ कम होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य करने की प्रेरणा का प्रश्न अर्थशास्त्र नहीं हल कर सकता। आज समाजवाद से ऊबकर मनुष्य ऐसा महसूस कर रहा है कि इससे अब स्पष्ट हो गया कि मनुष्य को नीति एवं ज्ञान से प्रेरणा होती है।

मनुष्य दूसरे के परिश्रम की रोटी न खाये और यदि खाये तो बिना उसकी मर्जी के न खाये। अच्छा हो कि मनुष्य अपने परिश्रम की रोटी खाये और इससे अधिक बढ़कर यह भी हो सकता है कि मनुष्य अपने परिश्रम की रोटी दूसरे को खिलाये। यही मानवता है। इसमें मानव प्रेरणा है क्योंकि यहाँ प्रतिमूल्य नहीं है। ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि मनुष्य को इतना अधिक तकनीक का ज्ञान हो जाय कि मनुष्य को परिश्रम करना ही न पड़े। यन्त्र ही सब कुछ कर डाले, तब श्रम की आवश्यकता ही न होगी। यह मान्यता कि श्रम से ही उत्पादन होता है इसलिये अनिवार्य श्रम उपकार है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि हम श्रम का सम्बन्ध रोटी या उपभोग से मानते हैं तो नैतिकता का प्रश्न जटिल हो जाता है और मानव संस्कृति का आधार पेट बन जाता है। मनुष्य का दिल और दिमाग पेट में समा जाता है।

इसीलिये चाहे यह पूँजीवाद को छोड़कर समाजवाद या साम्यवाद का भेष बनाकर आये यह कभी भी मानवीय दर्शन या मानवीय सभ्यता या संस्कृति नहीं बन सकता, क्योंकि श्रम का सम्बन्ध उपभोग से सैद्धान्तिक

एवं व्यावहारिक दोनों नहीं हो सकता। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि अपनी रोटी के लिये दूसरों का पसीना बहाना। इससे उत्तम यह है कि अपने पसीने से अपनी रोटी खाना और इससे भी उत्तम है कि अपने पसीने से दूसरों को भी रोटी खिलाना। इसे हम मानवीय दर्शन का सिद्धान्त मान सकते हैं कि अपने पसीने से दूसरों को रोटी खिलाई जाय। यहाँ पर मानवीय श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं। पूँजीवाद में अपने परिश्रम से अपनी रोटी उत्पन्न करना अर्जित सम्पति माना है। समाजवाद उससे एक कदम आगे बढ़कर यह मानता है कि सम्पत्ति स्वअर्जित तथा अनअर्जित दोनों ही नहीं होगी। आवश्यकता की वस्तु सम्पत्ति नहीं। समाजवाद में इस प्रकार की सम्पत्ति जिससे दूसरी सम्पत्ति उत्पन्न हो सके, जो बेची जा सके, वह न तो पारिवारिक होगी और न तो व्यक्तिगत होगी। लेकिन समाजवाद या साम्यवादने श्रम को आर्थिक आवश्यकता ही माना है। परन्तु यह ऐसा है नहीं। गांधी जी के सर्वोदय समाज में परिश्रम मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता है। यही गांधी जी के आर्थिक दर्शन की विशिष्टता एवं महत्ता है। श्रम संस्कृति और सभ्यता का स्रोत है। सदाचार, नैतिकता और मानवता की बुनियाद यह श्रम बन जाता है, दोनों का विरोध नहीं है। मनुष्य की आकांक्षा अपरिमित है और उसकी उपभोग शक्ति सीमित है, इसलिए संयम मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता है। भोग में संयम स्वस्थ्य मानव के लिए परम आवश्यक है। उपभोग शक्ति सीमित है। आज उपभोग की वस्तुओं का बाहुल्य सामाजिक प्रतिष्ठा—द्योतक है। सामाजिक प्रतिष्ठा आज के समाज में उपभोग बाहुल्य में है। जब तक उपभोग के साधनों की बहुलता सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बनी रहेगी, तब तक मानव समाज असभ्य असंस्कृत ही रहेगा, क्योंकि यह वासना प्रधान समाज होगा। आवश्यकता कम, आकांक्षा अधिक उपभोग की शक्ति सीमित, यह त्रिविध परिस्थिति है। उपभोग शक्ति सीमित तथा उपभोग के साधनों की प्रचुरता इससे अधिक मनुष्य को अविवेक पूर्ण व्यवहार के लिए बाध्य कर देती है। इसलिए किसी समाज के संयोजन का आधार उपभोग को न बनाकर उत्पादन को ही बनाना चाहिए, इससे मनुष्य कलात्मक जीवन, सादा जीवन, स्वस्थ जीवन से विभूषित होकर अपनी गुणात्मक, आन्तरिक शक्तियों का विकास करेगा और सभ्यता और संस्कृति की नींव पुष्ट होगी। उत्पादक

मानव की प्रतिष्ठा होगी। श्रम-निष्ठ मानव प्रतिष्ठित मानव बनेगा। उसके जीवन तथा कार्य से त्याग, करुणा, प्रेम का सृजन होगा। एक स्वस्थ मन और शरीर वाला मानव प्रकट होगा। मनुष्य का स्वभाव संग्रह करने का नहीं है, इसलिए संग्रह की आवश्यकता एवं प्रवृत्ति आसानी पूर्वक उठ जानी चाहिये, जहां उत्पादन ऐसा होगा जो अभाव को कम करेगा और जहां अभाव नहीं होगा वहां अधिक उपभोग नहीं होगा और जहां अभाव न होगा, उपभोग संयम से बंधा होगा। इसके लिए आज के युग में जीवनदायिनी स्वास्थवर्द्धक आवश्यक आवश्यकताएँ जिनकी मांग विश्वव्यापी हैं, जैसे अन्न को प्राथमिकता देनी चाहिए। जब प्रधान आकांक्षा औद्योगीकरण की होती है तो कृषि का उपयोग उद्योग के लिए होने लगता है। उद्योग इसलिए बढ़ता है कि सम्पत्ति का अधिक निर्माण हो। सम्पत्ति के निर्माण का यही लक्ष्य होता है कि मानव की आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं का अधिकतम निर्माण हो। कच्चा माल तथा अन्न का संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में अन्न का बाहुल्य सभी को सुखमय बनायेगा। इसलिए अन्न प्रधान संयोजन होना चाहिए और यही संयोजन मानवीय संयोजन होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो जैसा आज हो रहा है कि मनुष्य बढ़ रहे हैं परन्तु अन्न के अभाव में मानवता कम हो रही है। आज फूल खिल रहे हैं परन्तु उनमें सुगन्ध कम है। इसी अन्न के अभाव के कारण जीवन धारण करने वाले नवीन बच्चों का स्वागत नहीं हो रहा है और जहां स्वागत नहीं वहीं सभ्यता एवं संस्कृति नहीं। इसलिए अन्न के लिए भी प्रतिमूल्य का सिद्धान्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार से जैसे श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता। प्रतिमूल्य का सिद्धान्त ही मानव सभ्यता और संस्कृति पर आघात करता है। गांधी का आर्थिक दर्शन प्रतिमूल्य सिद्धान्त को नहीं मानता। इसीलिये इस दर्शन में मानव सभ्यता और संस्कृति के स्रोत हैं। यही इस दर्शन की अपूर्व देन है।

निष्कर्ष

गांधी एक नये क्रान्तिकारी, युगद्रष्टा, मानवीय, कल्याणकारी अर्थशास्त्री हैं। इन्होंने एक नये मूल्य, नये आर्थिक दर्शन के आधार पर नये मानव तथा नये समाज की कल्पना साकार की है।

———

द्वितीय-परिच्छेद

गाँधी जी का समग्रता एवं संतुलन का सिद्धान्त

इस पृथ्वी पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो एक विशाल भूखण्ड अपनी सारी शक्तियों से पूर्ण दिखलायी देता है। इसके चारो ओर जल का विशाल भण्डार वर्तमान है। इस जल और थल के भीतर अपार शक्ति और सम्भावनाएँ हैं। दोनों में महान जीवन शक्तियाँ व्याप्त हैं। परन्तु जल और थल दोनों इस भौतिक सृष्टि को प्राण और उल्लास तथा एक गति विधि प्रदान कर रहे हैं। करोड़ों जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे इन दोनों की अपरमित शक्तियों का उपभोग करके और आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हुए इन्हीं दोनों में पुनः समा जाते हैं। क्षिति, जल, पावक गगन, समीर, इन पाँच मूलभूत तत्वों से इन सबका निर्माण होता है और इन्हीं में से सब पुनः विलीन हो जाते हैं। इन अपार शक्तियों को रहस्यमय एवं कौतूहल की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक दृष्टि से मानव देखता चला आ रहा है। आज तक इसे किसी सन्तुलित समग्र दृष्टि से न देखा जा सका। सृष्टि के प्रारम्भ से इसे सबसे बड़े चेतन प्राणी मनुष्य ने देखने का, समझने का प्रयास किया है। परन्तु दृष्टि दोष और सीमित शक्ति के कारण प्रकृति के सही और निश्चित स्वरूप का निर्धारण बुद्धिशाली मनुष्य नहीं कर सका, धार्मिक आध्यात्मिक कौतूहल पूर्ण एवं रहस्यमय भौतिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि के कारण, विचार जगत में एक विशाल वाङ्मय का सृजन हुआ। यह है इस जलथल की स्थिति।

इसके उपरान्त इस जल-थल की गोद में अनेकों प्रकार के फल-फूल, वृक्ष पाये जाते हैं, जिनकी न तो कोई भाषा है, न कोई भाव है। ये स्वयं अंकुरित होते पल्लवित होते, विकसित होते, फूलते और फलते हैं और पुनः अपना सब कुछ समर्पित करके उसी गोद में समा जाते हैं। अध्यात्म

वादियों ने, धर्मशास्त्रियों ने साहित्यकारों ने भौतिक वादियों ने तथा वैज्ञानिकों ने इन्हें अपने-अपने ढंग से देखा और जो कुछ उन्होंने समझा उसे बड़ी लगन और निष्ठा के साथ जगत को देकर आगे बढ़ाया। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार जल-थल ने बिना भाषा और भाव के सब कुछ समर्पित किया है उसी प्रकार से उनकी गोद में पली तथा पल्लवित हुई ये वनस्पतियाँ भी सब कुछ देकर इन्हीं में विलीन हो जाती हैं। इनकी भी समर्पण की भावना अपूर्व है।

तीसरे पशु-पक्षी इस जल-थल में अपनी एक भाषा, अपने एक भाव से चलायमान दिखलायी पड़ते हैं। इनकी अपनी विशेषता है। ये मूक नहीं हैं परन्तु चिंतनशील भी नहीं है। इसी गोद में जन्म लेते हैं, खाते-पीते हैं विकसित होते हैं, आनन्द से क्रीड़ा करते हैं, सुख-दुख, भय-कष्ट, हँसी-रूदन सब भावों को सहते और प्रकट करते हैं। इनकी भी अपनी एक दुनियाँ है। इनके विषय में भी चिंतनशील मनुष्य ने बहुत कुछ सोचा और लिखा है क्योंकि ये स्वयं अपनी भाषा और अपने भाव मनुष्य को समझाने में असमर्थ हैं। इनके पास भी शरीर है, हृदय है, मस्तिष्क है, परन्तु मनुष्य की भाँति इनके पास बुद्धि, विवेक, चिंतन की शक्ति और भाषा नहीं है। ये वास्तव में सब कुछ सृष्टि को समर्पित करते हैं। ये किसी प्रकार का प्रति-मूल्य जल-थल, वनस्पतियों की ही भाँति नहीं चाहते। इनमें भी समर्पण की भावना है। ये जन्म लेते हैं और पुनः समाज को घी, दूध, श्रम, बाल, चमड़ा, हड्डी गोस्त सब का सब दे देते हैं। बुद्धि जीवी मनुष्यों ने इन्हें श्रद्धा प्रेम से भी देखा और अधिकांश मनुष्यों ने इन पशुओं को घृणा की दृष्टि से भी देखा है। इसीलिये सभी प्रकार का अपेक्षित उदारता का व्यवहार इनके प्रति मनुष्य में न आ सका। ये भी जल-थल और वनस्पतियों की भाँति मानव जीवन के लिये बहुत ही उपयोगी हैं। इनमें गति देखकर मनुष्य ने जल थल और वनस्पतियों से अधिक कृतज्ञता या यों कहें कि जागरूकता का व्यवहार किया।

चौथा मनुष्य विवेक युक्त बुद्धिमान चिंतनशील प्राणी है। यह भी इसी सृष्टि में जन्म लेता है, और विकसित होता है। पुनः इसी में समा जाता है। सृष्टि की इन चार शक्तियों में यही सबसे प्रबल और सबका स्वामी है। इसने अपने को जानने का भी प्रयत्न किया, परन्तु अब तक अपने को न जान सका। उसी पैमाने से जिस पैमाने से इसने सृष्टि के अन्य तीन, जल-थल

पेड़-पौधे पशु-पक्षी को जानने का प्रयास किया है, उसी से अपने को जानने का प्रयास किया है और उसी से अपने को जानने के लिये प्रयत्नशील है। चूँकि इसी सृष्टि की यह भी ऊपज है इसलिये इसके मन में भी समर्पण की भावना वर्तमान है। मनुष्य अपने भोग, वैभव सुख, आनन्द की तलाश करता है। इसलिये अपनी स्वयं की शारीरिक बौद्धिक और अध्यात्मिक शक्तियों को उन्हीं आकांक्षाओं की तृप्ति के लिये प्रयोग में लाता है। सृष्टि की समस्त शक्तियों को उसकी अपार प्रगति और सुपुप्त अदृश्य संचारित शक्तियों को अपने सुख के अनुकूल, अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। उसकी आकांक्षायें, वासनायें अपार और विशाल हैं। उनकी तृप्ति के लिये वह ज्ञान का उपकरण लेकर आरम्भ से सतत् रूप से प्रयत्नशील है। वह इस अपने जीवन को कैसे सुखमय बना सके इसके लिये व्यामोह और व्यूह रचना करता है। सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करता है। आर्थिक तंत्र की व्यूह रचना करता है तथा उसके अनुकूल मूल्यों का निर्माण करता है। पुनः उन मूल्यों के निर्वाह के लिए और सातत्य कायम करने के लिये उसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा को व्यवस्था करता है। इस प्रकार से एक तंत्र खड़ा करता है, और इसी तंत्र के अनुकूल विज्ञान का सहारा लेकर यंत्र ढूढ़ता है युग-युग से यह मानव विविध रूप से ऐसी रचना कर रहा है कि इस सृष्टि के चार अवयव सन्तुलित हो सकें, परन्तु युग विशेष स्थान विशेष स्थिति विशेष से घिरे रहने के कारण मानव की यह दृष्टि धूमिल पड़ जाती है। इसीलिये व्यक्तिवादी, समाजवादी, अध्यात्मवादी, भौतिकवादी, आदर्शवादी यथार्थवादी, धर्मवादी, जातिवादी, अन्तर्राष्ट्रीय-वादी, राष्ट्रवादी आदि संकीर्ण अनुदार साम्प्रदायिक वादों से अपने स्वार्थ में इतना बँध जाता है कि परमार्थ मानवता, उदारता और विशालता की उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। इसी पृथ्वी पर महान् से महान् मानव अवतरित हुआ उसने सभी सम्भव दिशाओं में अपार ज्ञान का भण्डार समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उन भण्डारों से व्यक्तिगत् जीवन और मूल्य तो निखरे परन्तु सामाजिक जीवन और सामाजिक मूल्य निखरते-निखरते कालान्तर में पुनः रूक गये। दुनियाँ में मसीहो की कमी नहीं है, अध्यात्मवादियों की कमी नहीं है, जीवन तक समर्पित करने वाले दान वीरों की कमी नहीं है, सत्य अहिंसा ऐसे मूल्यों के लिये प्राण निछावर करने वालों की कमी नहीं है, महान दर्शनकार साहित्यकारों

संस्कृतज्ञों, साधु-महात्माओं, वैज्ञानिकों, विद्वानों, राजनीतिज्ञों, राष्ट्रनायकों, समर्थ सेवकों आदि की कमी नहीं है, परन्तु अब तक ये सब विचार मानव अपने पूरे सामाजिक जीवन में अङ्गीकार न कर सका। इसका कारण क्या है ? यही इस युग में चिंतन का विषय है। एक वाक्य में यदि हम इस कारण को व्यक्त करना चाहें तो यही कह सकते हैं कि किसी ने इस सृष्टि को समग्र सन्तुलित दृष्टि से नहीं देखा।

यही कारण है कि आज का यह युग जिसमें मनुष्य अन्तरिक्ष में घूम रहा है, पूरी सृष्टि का विनाश क्षण भर में करने की शक्ति उसके हाथ में है। वैज्ञानिक तकनीकी, प्रगति वेगवती गति से बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर सामाजिक परम्परायें, सामाजिक ढाँचे, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध अपनी विशेष गति से चलाय मान हो उठे हैं और नया स्वरूप ढूँढ़ रहे हैं। तीसरी ओर पुरानी संस्थायें पुरानी सभ्यतायें, पुरानी रुढ़ियाँ, पुराने ढाँचे आज के मनुष्य की आकांक्षाओं, आवश्यकताओ और माँगो की तृप्ति करने में असमर्थ हो रहे हैं। चौथे हमारी उत्पादक भौतिक शक्तियाँ तो बढ़ती हैं परन्तु उससे भी तीव्रगति से अकिंचिनता, बेकारी, अपराध शोषण, बीमारी आदि भी बढ़ रही है। पाचवें सारी सृष्टि की शक्तियाँ दुरुपयोग और बरबादी का शिकार हो रही हैं। छठवें मनुष्य की नैतिकता उसके सामाजिक मूल्य उसकी गुणात्मक शक्तियाँ, यंत्र और तंत्र, घोर स्वार्थ और भय, उसकी अपार वासना और सीमित भोग शक्ति के जाल में फँसकर त्वरित गति से क्षीण होती जा रही हैं। इस प्रकार से मानव की मानवता प्रकृति की अपार पोषणकारी शक्तियाँ एक-दूसरे से दूर होती जा रही हैं। इन कारणों की जब खोज होती है तो यही स्पष्ट होता है कि हमारी चिंतन प्रणाली और कार्यपद्धति अर्थात् हमारे आचार और विचार में विरोध और दुराव है। इसीलिये आज का मनुष्य सृष्टि की शेष तीन शक्तियों की समर्पित करने की, त्याग करने की शक्ति के अनुकूल व्यवहार नहीं कर रहा है। आज हमारा भौतिक जीवन संकट ग्रस्त है, क्योंकि हमारे व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन के मूल्यों से बड़ा दुराव है।

इस दुराव और असन्तुलन को दूर करने के लिये एक विचारक इस युग में हमारे समक्ष आता है, वह हैं महात्मागान्धी। इनके विचार में एक समग्रता और सन्तुलन की मौलिकता है। जहाँ यूनान की बौद्धिक

शक्ति ने एक मानव संस्कृति और सभ्यता की रचना की परन्तु वह भी अपूर्णता के कारण ढह गयी, जहाँ भारत की अध्यात्म शक्ति और ईसा की अहिंसक शक्ति ने एक दूसरी मानव संस्कृति और सभ्यता की रचना की वह भी अपने अधूरेपन के कारण पूर्णतः आचार में न आ सकी। तीसरे योरप और अमेरिका की भौतिक शक्ति दूसरे प्रकार की संस्कृति और सभ्यता की रचना कर रही है, और जो घोर दोषों से विनष्ट और क्षीण हो रही है, और आज सभ्यता और संस्कृति घोर संकट में है। ऐसी स्थिति में गान्धी जी बुद्धि तत्व, हृदय तत्व तथा शरीर तत्व का सन्तुलन करके हमारे समक्ष एक नया जीवन दर्शन और जीवन मूल्य देते हैं। इसी के द्वारा मानव सभ्यता और संस्कृति अक्षुण रह सकती है। महात्मा जी ने भारतवर्ष की ऋषि-मुनियों की धरती पर युगों से प्रवाहित विचारों और पश्चिम के अद्यतन भौतिक एवं आध्यात्मिक विचारों को लाकर इस प्रकार संजोया है कि इस धरती पर ही उनके ग्राम स्वराज्य, रामराज्य के विचार और आचार जिसमें "दैहिक-दैविक भौतिक तापा। रामराज्य में काहू न व्यापा॥" सारे विश्व के लिये आदर्श और आचार-व्यवहार में उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिना' की मानव की आकांक्षा वास्तविकता में परिणित हो सकेगी। इसीलिये गान्धी जी ने जल-थल, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी के प्रति मनुष्य का क्या व्यवहार और दृष्टिकोण हो, इसकी आचार संहिता हमें दी है। इसीलिये गान्धी जी इस युग के लिये सबसे बड़े शुभ चिंतक और मसीहा हैं।

गांधी जी ने मनुष्य को केन्द्र मानकर ही अपने विचार व्यक्त किए हैं परन्तु इन्होंने मनुष्य के शरीर, मनुष्य के हृदय तथा मस्तिष्क-तीनों के विकास, तीनों की खुराक, तीनों के सन्तुलित स्वरूप का पूर्ण ध्यान रखा है। भौतिक भूख, सांस्कृतिक बौद्धिक भूख तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक भूख की तृप्ति जीवन के प्रतिक्षण के व्यवहार में साथ-साथ हो। भोग शक्ति तथा उत्पादक शक्ति साथ साथ विकसित हो, तभी मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में एक सन्तुलन स्थायी रह सकता है जो मानव समाज के लिए बहुत ही आवश्यक है। इसीलिए जीवन से मरण तक का प्रशिक्षण इनके जीवन दर्शन में है। उत्पादक शक्ति के विकास में व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है, मानव संस्कृति तथा सभ्यता

का सृजन होता है। स्वावलम्बन की शक्ति प्रस्फुटित होती है। उसी से मानव की भौतिक, सांस्कृतिक, मनोरंजन तथा नैतिकता की भूमिका का निर्माण होता है। भोग उसके उपरान्त की सीढ़ी है परन्तु भोग में भी वे सब मानवीय भूमिकायें तिरोहित नहीं हो पातीं क्योंकि उनके सृजन से ही उपभोग का जन्म होता है। मानव की अपरिमित आकांक्षाओं और वासनाओं तथा सीमित भोग शक्ति के कारण जो विकार उत्पन्न होते हैं वे सब यहाँ समाप्त हो जाते हैं और मर्यादित होकर मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति को अक्षुण बनाते हैं। इसीलिए गांधी जी कहते हैं कि अर्थशास्त्र तथा नैतिकता में कोई विभाजक रेखा नहीं है। अर्थशास्त्र को अर्थनीति की संज्ञा प्राप्त होती है। उपभोग तथा उत्पादक शक्तियों में कोई असामाञ्जस्य हो ही नहीं सकता। भोग शक्ति, उत्पादक शक्ति से निर्मित होती है। इसीलिए शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का स्वास्थ्यकारी एवं सन्तुलनकारी स्वरूप हमें प्राप्त होता है।

ऐसी स्थिति गांधी जी तभी प्राप्त कराना चाहते हैं जब मनुष्य अपना सन्तुलन भूमि, वनस्पतियों तथा पशुओं से बनाये रखे। मानव की प्रधानता को मानते हुए भी इन सृष्टि की तीन विभूतियों की बर्बादी, दुरुपयोग, मनुष्य द्वारा, गांधी जी को कभी भी मान्य नहीं है। सभी का ऐसा उपभोग हो कि उनके उपभोग से उनकी समृद्धि, उनकी उन्नति में तीव्रता आये, क्षीणता न आए। उपभोग उन्नतिवर्द्धक हो उसी प्रकार जैसे मनुष्य अपनी कतिपय शक्तियों, इन्द्रियों का उपभोग उन शक्तियों के विकास के लिए करता है। समय, शक्ति, जीवन, प्रकृति, पशु, वनस्पतियों सबका उचित तथा सन्तुलित प्रयोग ही गांधी जी की अर्थनीति है। मनुष्य भोजन करता है अपने शरीर को पुष्ट बनाने के लिए परन्तु शरीर तभी पुष्ट होगा जब उससे श्रम लिया जाय और भोजन का उत्पादन कराया जाय। उस उत्पादन में शरीर, मस्तिष्क तथा हृदय तीनों का विकास हो, तीनों की शक्ति उत्पादन में लगे और तभी उपभोग से तीनों पुष्ट हो सकेंगे। इसी प्रकार का सम्बन्ध मनुष्य, भूमि, पशु तथा वनस्पतियों का भी हो। जो शक्तियाँ या जो गुण एक दूसरे को त्याज्य हों या आधिक्य में हों, वह दूसरा ग्रहण करे और एक दूसरे को पुष्ट तथा स्वस्थ बनाये। इसी समग्र सन्तुलन सिद्धान्त का प्रयोग गांधी जी ने पूरे जीवन दर्शन में किया है। चूँकि यह भौतिक जीवन सभी पहलुओं से बँधा है अतएव हमें

समग्र दृष्टिकोण से देखना अनिवार्य है। अन्य चिन्तन जीवन को अलग-अलग देखने का प्रयास किया, इसीलिए तथा व्यावहारिकता न आ सकी परन्तु गांधी जी ने समग्र को में देखा इसीलिए इसमें पूर्णता है। इसी पूर्णता को हम समझ नहीं पाते और अर्जुन के विराट स्वरूप की भाँति अव्यावहारिक तथा अलौकिक घटना बताकर अलग हो जाते हैं। आज मानव के जीवन में कुदाल तथा कुरान, पायखाना तथा परमात्मा, शरीर तथा बुद्धि, उत्पादन तथा उपभोग, सेवक तथा सत्ता के कारण एक अलगाव तथा विकृत भेद दिखलाई पड़ता है और यही समाज को, मानव को शोषण, दुख, अपमान, ऊँच-नीच वर्गों में विभाजित करके त्रास दे रहा है। इस भेदन करनेवाले राक्षसी कुचक्र को गांधी जी ने समाप्त कर दिया। दोनों को मिलाकर एक साथ चला दिया, जिससे मानव सुखमय, प्रतिष्ठादायक, समता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व का जीवन व्यतीत कर सके।

समग्र अर्थनीति

गांधी जी ने भौतिक जीवन की एक मानवीय एवं वैज्ञानिक व्याख्या की है। अर्थनीति सभी दुरुपयोगों तथा अभावों को रोकने की विद्या है। किसी भी प्रकार की बर्बादी न होने पाए, यही अर्थशास्त्र है। सभी को उन्नति तथा उत्थान, सुख तथा सम्पदा का पूर्ण अवसर प्रदान करने की क्रिया अर्थनीति में हो। इस भौतिकता का आधार धर्म और नैतिकता हो। इसलिए हमारी राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति का प्राण आध्यात्मिकता तथा नैतिकता होनी चाहिए। बुद्धि प्रधान नहीं अपितु हृदय प्रधान हमारे कार्य हों। अर्थशास्त्र गणित या ज्योतिषशास्त्र के समक्ष कोई स्वतन्त्र या अकेला विषय नहीं है। या प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के अनुसार केवल यह उत्पादन, वितरण और विनिमय तक ही नहीं समाप्त हो जाता। वस्तुतः यह जीवन का सम्पूर्ण व्यापार है। इसमें व्यक्ति तथा समाज की रचना सन्निहित है। प्रत्येक के कार्य पारस्परिक हित अहित की गति का निर्माण करते हैं। इसलिए अर्थशास्त्र एक जीवन विज्ञान है। देश, काल, मानव की भिन्न-भिन्न आवश्यकतानुसार इसके नियमों में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। इसमें एकरूपता सदैव सम्भव नहीं है, परन्तु उसी भिन्नता के पारस्परिक सहयोग तथा सामञ्जस्य स्वाभाविक

रूप से प्राप्त होता है। मानव जीवन के समस्त व्यवहार में नैतिकता, धार्मिकता, सहानुभूति, परस्पर प्रेम, दूसरों के जीवन के लिए त्याग, परोपकार, खिलाकर खाना, आदि मानवीय गुणों की स्थापना करना ही अर्थनीति का उद्देश्य है। विना इन गुणों के अर्थशास्त्र केवल अनर्थ शास्त्र है।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन स्वावलम्बी तथा प्रतिष्ठादायक हो। प्रत्येक की भोग की इच्छा मर्यादित तथा स्वास्थ्यदायक हो। स्वास्थ्य के लिए उपभोग हो न कि स्वाद के लिए। प्रत्येक को अपने शारीरिक श्रम से उत्पादन करना अनिवार्य हो। पहले उत्पादक वनकर तब उपभोक्ता वनना आवश्यक है। अर्थनीति का एक लक्ष्य, एक पद्धति तथा एक कार्यक्रम है। इसकी बुनियाद में धर्म है इसका एक व्यक्तिगत एवं सामाजिक मूल्य है। सृष्टि में पाए जानेवाले समस्त साधनों का तथा साध्यों की एकरूपता होनी चाहिए। जितना ही पवित्र साधन होगा उतनाही पवित्र साध्य होगा। मानवता मानव कल्याण, समग्र सुख ही लक्ष्य है 'सर्वे भवन्तु सुखिनाः' लक्ष्य है इसके लिए सारे साधनों की पवित्रता अनिवार्य है। यहाँ अर्थशास्त्र विज्ञान तथा जीवनदर्शन का मिश्रित स्वरूप वन जाता है।

आज का विज्ञान मनुष्य के भौतिक जीवन को समृद्ध वनाता है। मनुष्य का मूल्य, मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके भौतिक उपभोग से आँकी जाती है। जब उपभोग समाज में मूल्य वनाता है और उससे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तब समाज साँस्कृतिक रूप से, मानवीय मूल्यों में नीचे गिरता है। यहाँ भौतिक रहन-सहन के स्तर की वृद्धि होती है परन्तु मानवीय जीवनस्तर तेजी से गिरता है। अर्थशास्त्र का लक्ष्य पिछली शताब्दी में और आज भी इसी दिशा में वढ़ रहा है। गांधी जी ने कहा दरिद्रता महान् पाप है। एक मनुष्य को भी यदि उसकी जीवनदायिनी आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं हो पाती, तो इससे वढ़कर अमानवीय पाप नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में जीवन के रहन-सहन के स्तर से वढ़ाने की लिप्सा पूर्णतया अमानुषिक कार्य है। इसी से शोषण, मानव का अपमान, अत्याचार, आदि का जन्म होता है। अर्थशास्त्र इस प्रक्रिया को रोके। प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहकार की स्थापना करे ताकि प्रत्येक मनुष्य सहउपभोग, सहउत्पादन तथा सहजीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सके, यही सही अर्थशास्त्र है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति

शारीरिक श्रम को अनिवार्य रूप से स्वीकार करे। यह जीवन की नितान्त आवश्यकता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है। सबके व्यक्तित्व की सम्भावनायें विकसित हों इस प्रकार का आर्थिक-सामाजिक एवं राजनैतिक ढाँचा बनाना हमारा लक्ष्य हो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवनदायिनी आवश्यकताओं का उपार्जन स्वयं करे। प्रत्येक में दूसरे को जिलाने तथा खिलाने की सामर्थ्य तथा शक्ति हो। जब तक दूसरा भूखा है स्वयं अपनी भूख न शान्त करना, यही अहिंसा का अर्थशास्त्र है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति के गालों पर गांधी जी लाली तथा स्वाभिमान देखना चाहते हैं। प्रत्येक को शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक रूप से पूर्ण बलवान तथा स्वस्थ्य देखना चाहते हैं। इसके लिए गांधी जी सभी को प्रकृति के पूर्ण निकट तथा सानिध्य में लाना चाहते हैं, एक प्राकृतिक जीवन, प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक व्रत से मानव को शतम् जीव की कल्पना को साकार करना चाहते हैं। यही गांधी जी का प्राकृतिक अर्थशास्त्र है। प्राकृतिक सादा जीवन मानव को महान् मूल्यों तथा विचारों से पुष्ट करता है। प्रकृति के समान प्रत्येक मनुष्य सदैव कार्यरत रहे। कार्य पूजा है। प्रत्येक क्षण मनुष्य को किसी न किसी रचना में सम्वर्धन में लगा रहना अनिवार्य है। इससे उसके प्रत्येक अंगों का विकास होगा, प्रत्येक में स्फूर्ति आयेगी। यह उसके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक स्वास्थ्य के लिए बहुत ही आवश्यक है। इससे मनुष्य की कर्मठता, कार्य तत्परता बढ़ती है। आलस्य, वासना आदि की कुटेव का पदार्पण नहीं हो पाता, मनुष्य स्वयं गुण सम्पन्न होता है। उसमें स्वनियन्त्रण, स्वशासन, स्वावलम्बन, स्वाभिमान, का गुण सदैव जाज्वल्य-मान रहता है। किसी भी प्रकार की बर्बादी उसके द्वारा सम्भव ही नहीं है। यही अर्थशास्त्र का लक्ष्य है।

गांधी जी के अर्थशास्त्र का यह स्वरूप दो महान् कसौटी पर कसा जाता है, प्रथम अहिंसा द्वितीय सत्य। सत्य की खोज अहिंसा द्वारा आर्थिक जीवन में गांधी ने की है। आज का अर्थशास्त्र सत्य और अहिंसा की पद्धति को समझ ही नहीं सकता। इसीलिए मान॰वीय कल्याण की विवेचना करनेवाले वर्तमान पश्चिमी अर्थशास्त्री भी इसकी पूर्णता न ला सके। मानव जीवन का आधार ही सत्य और अहिंसा है। ऐसी अवस्था में उसके भौतिक जीवन का आधार या प्राण सत्य और अहिंसा ही है। इसे प्रथम बार गांधी जीने ही महसूस

किया। यहीं से सही अर्थशास्त्र मानवीय अर्थशास्त्र का उदय होता है, नहीं तो अबतक का अर्थशास्त्र नोच खसोट, शोषण, अत्याचार, पाप, त्रास, दुःख, दीनता, बीमारी, आदि का ही बना रहा। निःसन्देह अर्थशास्त्रियों का भरसक प्रयास यही रहा कि इनका निराकरण कैसे हो, परन्तु मूलाधार के अभाव में सत्य और अहिंसा के अज्ञान में वे इस दोष के निराकरण में असमर्थ रहे।

गांधी जी का अर्थशास्त्र एक अपना नया कार्यक्रम रखता है। अर्थशास्त्र एक विज्ञान तथा दर्शन बनकर कोरे विज्ञान की भाँति प्रयोगशाला का विषय ही नहीं रह जाता और न तो कोरे दर्शन की तरह व्यवहार विमुख ही हो जाता है, अपितु एक व्यवहारशास्त्र बनकर आता है। प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों की भाँति आर्थिक क्रिया के मूल स्रोत को गांधी जी ने पकड़ा। अन्न वस्त्र दो मूलभूत आवश्यकताओं के स्रोत गांव की अर्थव्यवस्था को पुष्ट तथा प्रबल बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। उनका स्वराज्य ग्राम स्वराज्य-रामराज्य बन कर आया। विकेन्द्रित ग्रामीण अर्थव्यवस्था को खेती-बारी-पशु-उद्योग के चार स्तम्भों पर उन्होंने खड़ा किया। खादी के धागे में बँधा हुआ स्वराज्य आ रहा है, ऐसा वे देख रहे थे। अन्न तथा वस्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को स्वराज्य स्वावलम्बन द्वारा प्राप्त हो जाय। ऐसा अर्थशास्त्र उन्होंने खड़ा किया जो अन्न तथा वस्त्र को बाजार के क्रय-विक्रय की क्रिया से अलग रखे। बाजार की अर्थव्यवस्था बदलकर परिवार की अर्थव्यवस्था लानी चाहिए। अन्न वस्त्र ऐसी जीवनदायिनी वस्तुयें या जीवन दायिनी वस्तुओं के स्त्रोत बाजार में क्रय विक्रय की वस्तु न बनें। इस माध्यम द्वारा उत्पादक वर्ग अर्थात् श्रमिक वर्ग—किसान तथा मजदूर-की प्रतिष्ठा को अर्थशास्त्र समाज में बढ़ाये। उपभोक्ता की प्रतिष्ठा समाज से तिरोहित होकर उत्पादक की प्रतिष्ठा में प्रकट हो। यही श्रम सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन का मूल्य बने। व्यक्ति स्वावलम्बन, परिवार स्वावलम्बन, ग्राम स्वावलम्बन सबको समर्थ तथा प्रतिष्ठित बनाये और परस्परावलम्बन की प्रक्रिया में परिवर्तित हो। आज की अर्थप्रधान सामाजिक जीवन की प्रक्रिया दरबार, मन्दिर तथा बाजार की प्रक्रिया से अलग होकर, परिवार की प्रक्रिया में परिवर्तित हो जाय। अर्थशास्त्र बाजार में जाकर वहाँ मानवीय सम्बन्ध को विकृत कर देता है। बाप अपने बेटे से भोजन का दाम माँगता है। मनुष्य के शरीर, उसकी बुद्धि, उसके दिल का दाम बाजार में मिलता

है। ये सब बाजार में बिकते हैं। यहीं से मनुष्य की मनुष्यता, शिष्टता, संस्कृति, सभ्यता, मानवता विकृत होने लगती है। जब दरबार में इसका प्रवेश होता है तो सत्ता तथा शक्ति के लिए मानवता का दुरुपयोग होता है। माँ सत्ता के लिए अपने पुत्र की हत्या करती है। भाई भाई एक दूसरे का गला घोंटते हैं। जब मन्दिर में इसका प्रवेश होता है तो इसका अन्य कोई प्रयोग नहीं होता बल्कि पूर्णतया समर्पण की भावना होती है। आज के व्यवहार में अर्थशास्त्र का स्वरूप पारिवारिक होना चाहिए जहाँ मनुष्य की सेवाओं का कुटुम्ब में कोई दाम नहीं होता। अन्न वस्त्र तथा अन्य आवश्यकताओं की तृप्ति पात्रता के आधार पर होती है। जिस प्रकार से दवा की पात्रता बीमारी से निश्चित होती है उसी प्रकार अन्न, वस्त्र तथा अन्य आवश्यकतायें परिवार में पात्रता के आधार पर निर्धारित होती हैं। इस प्रकार से सारी आर्थिक क्रिया का पारिवारीकरण गांधी जी के अर्थशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष है। उन्होंने अर्थशास्त्र का सही स्वरूप इसी सन्दर्भ में निर्धारित किया कि दुःखी, दीन, असमर्थ व्यक्ति जो समाज की अन्तिम ईकाई है उसी से अर्थशास्त्र का प्रयोग हो। उसी की शक्ति का वर्धन किया जाय। साधनों तथा मनुष्यों की अन्तिम ईकाई से उन्होंने प्रारम्भ किया और अर्थशास्त्र के विज्ञान का प्रयोग प्रारम्भ किया। वही सही अर्थशास्त्र है जो आवश्यक स्वास्थ्यकारी सभी वस्तुओं को सभी जगह सभी को सुलभ कराये। सभी में जीवनदायिनी वस्तुओं के प्रति स्वावलम्बन की शक्ति जगे। सभी सुखी हों। सभी कार्यरत हों, सभी उत्पादक श्रमिक हों। सभी शरीर श्रम को नित्य पूजा तथा प्रतिष्ठा का विषय बनायें। अर्थशास्त्र एक श्रम निष्ठ समाज बनाने में समर्थ हो।

आर्थिक असंगतियाँ

मनुष्य का भौतिक जीवन सुखमय हो, इस पर बहुत चिन्तन हुआ है। सुख की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। इतना अधिक इस विषय पर विचार-विमर्श हुआ है कि विचारकों ने अपने विचार को अन्तिम सीमा पर पहुँचा दिया है। ऐसी ऊहापोह की स्थिति में क्या उचित और सत्य है, यह सामान्य बुद्धि के परे हो जाता है। आध्यात्म और भौतिकता को लेकर कई चिंतन प्रक्रियायें हमारे मन में उठती हैं। निःसन्देह न तो अति भौतिकता और न तो अति आध्यात्मिकता मानव के लिए आचार संहिता बन सकती

हैं। दोनों का अपना अपना माहात्म्य है और दोनों का संतुलन ही मानव जीवन की पूर्णता और सफलता है। भारतीय वाङ्मय में तथा पाश्चात्य वाङ्मय में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो किसी चिन्तनकर्ता ने किसी एक विचार के लिए सीमा का अतिक्रमण नहीं किया है, परन्तु मनुष्य ने अपनी सुविधानुसार उनका भाष्य अपने अनुसार कर लिया है। उसके कुपरिणाम हमारे समक्ष हैं। विश्व के तीन महान चिन्तकों ने तीन दिशायें मानव समाज को दी हैं। प्रथम, ईसामसीह ने कहा कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता अर्थात् भौतिकता से बढ़कर उसे समग्र जीवन के लिये आध्यात्मिकता अत्यन्त आवश्यक है। यह सत्य है, परन्तु सामान्य बुद्धि ने इसे पूर्णतया आध्यात्म का समर्थन माना और भौतिकता को हेय समझा। यह विचार व्यावहारिक न हो सका। द्वितीयचिन्तनकर्ता महापुरुष कार्लमार्क्स ने कहा कि मनुष्य केवल रोटी से ही जीता है। भौतिकता के इस प्राबल्य से दबे हुए महापुरूष ने इस वाणी का उद्बोधन परिस्थितिवश किया। असंख्य मनुष्यों को रोटी के लिए कराहते हुए देखकर उनका मन उद्वेलित हो उठा। एक ओर प्रचुरता और प्रभुता और दूसरी ओर अकिंचनता, दारिद्रय और शोषणके लिए भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की तृप्ति सबके लिए सहज और सुलभ होनी चाहिए ताकि यह शरीर रह सके। परन्तु सामान्य बुद्धि ने इसी को जीवन का अन्तिम लक्ष्य इसलिए समझ लिया कि पूंजीवाद और साम्वाद दोनों की कोख भौतिकता की ही है। दीन और दुखियों का मसीहा यही वाणी दे ही सकता था। तृतीय, महात्मा गांधी समग्र मानव के विकासार्थ सत्य, करुणा और प्रेम के मूलभूत मानवीय गुणों को लेकर आये। उनके हृदय में भी दीन और दुखियों के प्रति एक दर्द और टीस तो थी, साथ ही साथ उन्होंने यह भी देखा कि मानव हृदय अपार ममता, करुणा तथा प्रेम का सागर है। इसलिए उन्होंने उसी भूमिका में एक सन्तुलन-सन्देश दिया कि मनुष्य को रोटी भी चाहिए। भूखों और दरिद्रों की रोटी में उन्होंने भगवान को देखा। भौतिकता को आध्यात्मिक छटा से विभूषित करके उन्होंने इस भौतिक जीवन के प्रत्येक क्षण को आध्यात्मिक बनाकर पवित्रमय कर दिया। यही मानव जीवन की पूर्णता की सीमा है। आध्यात्म और भौतिकता के संघर्ष और विरोध इस महात्मा की वाणी से समाप्त हो गए। दोनों की मर्यादायें सुनिश्चित हो गई। सामान्य बुद्धि की ही नहीं अपितु बड़े-बड़े विचारकों की पकड़ के भीतर भौतिक जीवन का रहस्य आ सका।

मानव का भौतिक व्यामोह

इतने विचार-मन्थन के उपरान्त भी मनुष्य के आचार और विचार में आज भी दुराव है। बिना विवेक के अन्धाधुन्ध भौतिकता का जीवन मनुष्य का लक्ष्य बन गया है। अर्थशास्त्र ने एक दिशा दी। विज्ञान ने एक शक्ति दी। मनुष्य विवेकहीन बनकर उस तरफ चल पड़ा। इसमें दोष न तो अर्थ शास्त्र का है और न विज्ञान का। सम्पूर्ण दोष मनुष्य का है। अर्थशास्त्र बारम्बार उसे आगाह करता है परन्तु मनुष्य अपने विनाश के लिए हाइड्रोजन बम बनाता ही जा रहा है। स्वयं अपने विनाश की यह प्रक्रिया वह तैयार करता है, जिसका अन्तिम परिणाम हाइड्रोजन बम का है। उसका दैनिक जीवन उपभोग प्रधान जीवन है। अधिकतम उपभोग का लक्ष्य उसे अधिकतम भौतिकता के व्यामोह में फँसाता है। उच्च जीवन-स्तर के स्थान पर उच्च रहन-सहन का स्तर आज उद्देश्य बन गया है। समृद्धिशाली देशों की आकांक्षाएँ तो ये हैं ही, भौतिक रूप से अकिंचन देश के लिए यह उद्देश्य तो स्वाभाविक ही है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की ओर आज विश्व की दृष्टि है। उनका रहन-रहन का स्तर पूर्वी देशों से बीस गुना अधिक, रूस ऐसे देश से पाँच गुना अधिक, जितने कच्चे माल का प्रयोग दुनिया के देश करते हैं, उतना यह देश अकेला करता है। इस देश में घोर स्वार्थ-भावना, अधिक अपव्यय, अधिक शोषण, अधिक असंतोष, अधिक पाप भी बढ़ रहे हैं। विज्ञान का वरद-हस्त जीवन-दर्शन से अलग एक अशान्तिमय मानव समाज का निर्माण कर रहा है। अर्थ-व्यवस्था दिन दूनी रात चौगुनी गति से प्रसारित हो रही है। विज्ञापनों की धूँआधार प्रगति, किस्त क्रय पद्धति से जीवन प्रतिक्षण बँधा हुआ है। तैयार माल का बाहुल्य जीवन को बिना किसी रस के मशीनमय बन रहा है। अनैसर्गिक यह जीवन, अस्वस्थता और मृत्यु के भय से पूर्ण है। उधार पद्धति और उससे उत्पन्न नये-नये कर्ज मनुष्य को प्रतिक्षण अधिक से अधिक शक्ति की प्राप्ति के लिए पागल बना रहे हैं। मनुष्य मोटरकार, मशीन रेफ्रीजरेटर, टेलीवीजन के स्वप्न, निद्रा में भी देखा करता है। अधिक सन्तान, मृत्यु, अवस्थता, व्यापार की मन्दी से प्रतिक्षण वह भयभीत है। इस भौतिकता से प्रताड़ित मनुष्य अपने व्यक्तित्व को और इस जीवन के लक्ष्य को समझ ही नहीं पाता। इसका सहज परिणाम यह होता है कि मानव जीवन के अपार आदर्श उसकी दृष्टि से ओझल हो

जाते हैं। जीवन के कलात्मक, सर्जनात्मक, सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक आनन्द उसे प्राप्त ही नहीं हो पाते। भौतिक सुख और समृद्धि का यही आदर्श आज दुनिया अपनाने के लिए विह्वलता से आगे बढ़ रही है। ये प्रयास आज न केवल एशिया और अफ्रीका के अविकसित दरिद्र देशों की ओर से हो रहे हैं, अपितु साम्यवादी तथा अन्य यूरोपीय देश इसमें पूर्णतया तल्लीन हैं। हमें बहुत सजगता के साथ इसके सैद्धांतिक और व्यावहारिक विश्लेषणों द्वारा यह समझना आवश्यक है कि जो दुनिया के प्रगतिशील देश हैं, उनकी अर्थव्यवस्था में जो प्रमुख दोष प्रगट हो रहे हैं, वे विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में न आने पायें।

भौतिक व्यामोह के दोष

१—पहला दोष यह है कि मनुष्य को जड़ और गुलाम बना डालने वाले यन्त्रों का दिनों-दिन अधिक उपयोग बढ़ता जा रहा है। बिना मशीन के मनुष्य का जीवन, यहाँ तक कि दैनिक जीवन भी असम्भव हो उठा है। मनुष्य मनुष्य न रहकर मशीन का पुर्जा बनता जा रहा है। उसका सहज परिणाम यह हो रहा है कि मनुष्यता समाप्त हो रही है।

२—दूसरे तीव्र गति से भयंकर बेकारी और आर्थिक असुरक्षा बढ़ती जा रही है। मनुष्य यह समझ नहीं पा रहा है कि उसका जीवन स्वतन्त्र रूप से कैसे चल सकेगा। भविष्य अन्धकारमय हो गया है। इससे मनुष्य जीवन में इतना अधिक भय व्याप्त हो गया है कि उसके लिए उसमें एकत्रीकरण की हाय-हाय की भावना उत्पन्न हो गयी है।

३—तीसरे, मनुष्य एक दूसरे के साथ अमानुषिक आर्थिक व्यवहार कर रहा है। अपने को श्रमवान वर्ग से निकाल कर श्रीमान् वर्ग में ले जाना चाहता है और जो श्रमिक वर्ग है उसको इतना कम पुरस्कार देता है कि वह आधे पेट ही भोजन प्राप्त करता है और अपनी अर्जित शक्ति असमर्थता के कारण मालिक के चरणों में बलि देता है। उसके साथ दुर्व्यवहार भी होता है।

४—चौथे, राजनैतिक समानता और सामाजिक समानता का ढिंढोरा पीटा जाता है परन्तु आर्थिक असमानता तेजी के साथ बढ़ती जा रही है। इसका प्रतिफल यह हो रहा है कि मनुष्य सभी दिशाओं में विषमता से प्रताड़ित हो रहा है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ईर्ष्या और द्वेष की ज्वाला भभक रही है।

५—पाँचवें, समाज में प्राथमिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए उत्पादन परिमाण में ह्रास हो रहा है। राष्ट्र के आर्थिक स्रोतों का अधिकाधिक प्रयोग समाज के कुछ धननिष्ट व्यक्तियों के लिए आरामदायिनी तथा विलासिता की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए हो रहा है। प्राथमिक आवश्यकताओं का न्यून उत्पादन इस बात की पुष्टि कर रहा है कि समाज में जो धननिष्ट वर्ग है, वह एक बहुत बड़े मजदूर वर्ग को किस संकट की अवस्था में रखना चाहता है, इससे यह स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी देशों में पूँजी पर नियन्त्रण जिस वर्ग का है; उसी की समृद्धि सम्भव है। यही वर्ग समाज पर नियन्त्रण रखेगा। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में यही वर्ग प्रबन्ध-नियन्त्रण के नाम पर समाज पर नियन्त्रण रखेगा। शनैः शनैः मनुष्य समाज के बहुत बड़े वर्ग को असमर्थ स्थिति में रहना पड़ रहा है। भौतिक वस्तुओं की अकिंचिनता उनके लिए बहुत ही कष्टदायक है।

६—छठे, यह विशेष वर्ग समाज का नियामक और नियन्ता बन कर राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पति और राष्ट्र की मानव सम्पतिका दुरुपयोग एक ओर तो भोग-विलास की सामग्री के उत्पादन में करता है और दूसरी ओर विनाशकारी युद्धों के उपादानों में लगाया करता है। प्राकृतिक सम्पति और मानवीय सम्पत्ति का इतना अधिक दुरुपयोग करके मनुष्य समाज जीवित नहीं रह सकता।

उपभोग एवं उत्पादन का रूप

प्रत्येक मनुष्य इस प्रचलित होड़ में जाने-अनजाने दौड़ता जा रहा है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि उसकी अन्य प्रवृत्तियाँ या शक्तियाँ विकसित हो ही नहीं सकतीं। दाम सतह का इतिहास हमें यह ज्ञान देता है कि प्रारम्भिक अवस्था में जब यह ऊँची होती है तो उपभोक्ताओं के लिए कष्टदायक तथा उत्पादकों के लिए लाभदायक होती हैं। उपभोक्ता वर्ग उसीके अनुकूल व्यवहार करने लगता है। साधनों को खोजता है और इसे जीवन का सामान्य अंग मानने लगता है। दाम सतह का ऊँचा उठना और उससे अधिक, मुद्रा के परिमाण में वृद्धि, ये दोनों जीवन के रहन-सहन की वृद्धि का द्योतक बन जाती हैं और

अधिक धन व्यय करके मनुष्य एक प्रतिष्ठा की भावना अपने मन में लाता है। कीमती वस्तुओं का उपभोग समाज में प्रतिष्ठाद्योतक होता है। प्राथमिक अवश्यकता की वस्तुएँ, जो अपने नैसर्गिक रूप में कृषि द्वारा प्राप्त होती हैं और जो स्वास्थ्यवर्द्धक और जीवनदायक होती हैं, उन्हें बाजार की प्रक्रिया में डालकर उनके नैसर्गिक गुणों को नष्ट कर उनका रूप परिवर्तिक करके और उनका अधिक दाम देकर सुन्दर पैकेट में नये विज्ञापित नामों से उपभोग करना मनुष्य प्रतिष्ठा का प्रतीक मानता है। बहुत सा धन इस प्रकार की प्रक्रिया में नष्ट हो जाता है। इन नैसर्गिक वस्तुओं का उत्पादक इसके लाभ से वंचित रह जाता है। औद्योगीकरण के नाम से कुछ मध्य का वर्ग जो उपभोक्ता और उत्पादक के बीच में बैठा है, उस औद्योगीकरण की क्रिया से लाभान्वित होता है। आज का जीवन विज्ञापन तथा फैशन के द्वारा ऐसा ढाल दिया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य इस झूठी प्रतिष्ठा के स्वांग में अपने को सँभाल नहीं पाता। आज उस बाजार के तैयार माल, यहाँ तक कि खाद्य-पदार्थ पैकेट का उपभोग अमीर और गरीब दोनों कर रहे हैं। बाजार की यह समता दिखावटी समता है। इससे गरीब वर्ग नाश की ओर बढ़ रहा है। कच्चे माल और खाद्य पदार्थ उत्पादित करने वाला कृषक आज एक असहाय दर्शक के रूप में बाजार से बहुत दूर खड़ा है। उसी की निर्मित वस्तुओं के आधार पर औद्योगीकरण का यह उत्सव बाजार में इतना अधिक चहल-पहल मचाये है कि मनुष्य बाजार की इस चकाचौंध में अपने अस्तित्व को खो चुका है। उद्योगों के संचालक नैसर्गिक वस्तुओं के उत्पादकों तथा समस्त उपभोक्ताओं को अपने इशारे पर नचा रहे हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और उसकी सुरक्षा खतरे में है। बहुत बड़ा उत्पादक तथा उपभोक्ता वर्ग असहाय स्थिति में पड़ गया है। अर्थशास्त्रियों के सामने इनकी सुरक्षा की बहुत बड़ी समस्या है। यह प्रसन्नता का विषय है कि खाद्य पदार्थ और कच्चे माल उत्पादित करनेवाले तथा उनसे पक्के माल बनानेवाले देशों के बीच राष्ट्रीयता और स्वावलम्बन के आन्दोलन से उत्पन्न तनावों के कारण कृषि की वस्तुओं का माहात्म्य स्वीकृत हो रहा है। साथ ही साथ प्रत्येक देश में कृषि और औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में दामस्थायित्व एवं दाम-सापेक्षिता के विषय को लेकर चिन्तन हो रहा है।

विनिमय का स्वरूप

विक्रय की नयी पद्धति जिसे किश्तक्रय पद्धति कहते हैं, उपभोक्ता के संतुलित व्यवहार को समाप्त कर रही है। अमेरिका में फुटकर साख की प्रक्रिया तथा व्यय आधिक्य के कारण ऋण प्रत्येक व्यक्ति से चौबीस घण्टे डालर भगवान का जप कराते हैं। योरोप के देश भी इसके शिकार हो चुके हैं। आज विकासोन्मुख देश तो तीव्रता के साथ इस जाल में फँस रहे हैं। विक्रय की नयी प्रणाली से ऐसी आरामदायिनी तथा विलासिता की वस्तुएँ किश्तों पर कम दाम पर तथा कम बोझ पर उपभोक्ता क्रय कर रहा है। सामान्य परीक्षण से आय व्यय के सामान्य पारिवारिक बजट से वह इनका उपभोग करने में असमर्थ है। थोड़ी आय का उपभोक्ता वर्ग नगरों की इन सुविधाओं के प्रति आकर्षित हो उठता है। इन्हें क्रय करने के लिए थोड़ी-थोड़ी क्रयशक्ति प्रति माह अलग करता रहता है। इसके लिए या तो वह अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की तृप्ति में कमी करता है जिससे उसकी कार्यक्षमता क्षीण होती है, या तो वह बचत में कमी करता है, यदि उसकी आय से बचत सम्भव है, या तो वह अपनी आय की वृद्धि करता है, यदि वृद्धि सम्भव है, या तो अन्य गैरसामाजिक पद्धतियों का अनुसरण करता है जो विकासोन्मुख देशों में जीवन के रहन-सहन के भूत के लिए प्रत्येक कम आय वाला व्यक्ति करता है। यह सब इसलिए होता है कि रहन-सहन के स्तर को उठाने के लिए तथा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए पंखा, मोटर, रेडियो, सोफासेट आदि उसके लिए प्रतिष्ठादायक आवश्यकता बन जाती है। बहुधा इन कार्यों से अनुत्पादक असामाजिक कार्यों की वृद्धि होती है। मुद्रास्फीति का कारण उपस्थित होता है। प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन के बदले इन सब वस्तुओं के उत्पादन परिमाण में वृद्धि होती है। आर्थिक विकास एकांगी होने लगता है। संतुलित विकास का सिद्धान्त शिथिल पड़ जाता है। उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों के दृष्टिकोण तथा लक्ष्य राष्ट्रीय विकास से भिन्न हो जाने के कारण उनसे सहयोग नहीं करते, बल्कि उन्हें रोकने का प्रयास करते हैं। विकास तथा नियोजन की शिथिलता का यह बहुत बड़ा कारण इसलिए बन जाता है कि उपभोक्ता का यही वर्ग बड़ी संख्या में इनका संचालन करता है। नियोजन की इस प्रणाली में एक

निश्चित दाम सतह मानकर एक निश्चित तथा बहुधा कम पुरस्कार ही इन संचालकों का होता है, इसलिए ये आय के गैर सामाजिक स्रोत ढूँढ़ते हैं। मुद्रा ही उनके जीवन का लक्ष्य बन जाती है।

विकासोन्मुख देशो के लिये यह अनिवार्यता कि वे विकसित देशों की सामग्री के बिना विकसित ही नहीं हो सकते, एक नयी कठिनाई उपस्थित करती है। विकसित देश कुछ उत्पादक पूँजी ऋण के रूप में देते हैं परन्तु इस सजगता के साथ कि वही ऋणी देश निकट भविष्य में उनका प्रतियोगी न बन जाय और बाजार पर कब्जा न कर ले। यदि पूँजी देते भी हैं तो पुराने माडल की तथा उन क्षेत्रों के लिए जो उसके प्रतियोगी न बन सकें। साथ ही साथ अपने उद्योगों के प्रचार तथा प्रसार के लिए विज्ञापन की नयी विधि अपनाते हैं। कुछ बिना मूल्य के परोपकारी प्रवृत्ति के लिए, सामाजिक सेवा के लिए, कुछ ज्ञान तथा खोज के लिए, कुछ ग्राम निर्माण के लिए, धन का वितरण राष्ट्र में किया करते हैं। इससे विकासोन्मुख राष्ट्र के निवासियों का मानस कृतज्ञतावश उनके प्रति निष्ठावान बन जाता है। भूखे तथा अकिंचन होने के कारण, इन भौतिक प्रलोभनों के कारण नागरिक उनके प्रति विशेष झुकाव रखने लगता है। उस देश को भौतिक देवता मानने लगता है। वहाँ की वस्तुओं, वहाँ की शिक्षा-दीक्षा, वहाँ के जीवन वहाँ की परम्पराओं, वहाँ के नागरिकों को श्रेष्ठतम मानकर उन्हीं का अनुसरण करता है। राष्ट्र की नस-नस में उस देश की महानता समा जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका एक बहुत बड़ा बाजार विकासोन्मुख देश बन जाता है। ऋणदाता देश विक्रय की नयी पद्धतियों, विज्ञापन की नयी विधियों का सहारा भी लेता है। दान में सामग्रियों का ढेर लगाता है। उसका बाजार बढ़ता है। जब बाजार बढ़ता है तो बाजार की क्रय शक्ति भी बढ़नी चाहिए। तथा बाजार की दाम सतह भी उस देश की दाम सतह के अनुकूल होनी चाहिए। इसके लिए वह अनुत्पादक कार्यों के लिए अनुदान देता है। कुछ बिना अर्थ की, बेकार की समस्याओं के लिए खोज कार्य की व्यवस्था करा देना, कुछ छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था करा देना, मुफ्त साहित्य वितरित कर देना आदि ऐसे कार्य होते हैं जो शिक्षितों को कुछ धन की व्यवस्था कर देते हैं। इससे लोग अनुत्पादक कार्य करते हैं और यह क्रय शक्ति उन देशों के बने हुए समानों के क्रय करने में प्रयोग करते हैं। यहप्रवृत्ति शनैः-शनैः अपनायी जाती है। इससे राष्ट्र में

मुद्रा स्फीति को बढ़ावा प्राप्त होता है। बहुत बड़े वर्ग का ध्यान अनुत्पादक कार्यों की ओर खींचता है। नये रहन-सहन की लिप्सा बढ़ती है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतियोगी समाज को मान्यता देता है। गरीब अमीर के बीच की खाई बढ़ती है। यह उपभोक्ता वर्ग आरामदायिनी तथा विलासिता की वस्तुओं के क्रय के लिए बेचैन हो जाता है। प्राथमिक आवश्कताओं के उत्पादन में तीव्र गति नहीं आने पाती।

बाजार की यह अर्थ-व्यवस्था एक तालाब की व्यवस्था है, जिसमें जल कम तथा प्यासों की संख्या अधिक होती है। मुद्रा का घड़ा लेकर व्यक्ति उसमें से जल भरने की कोशिश करता है। जिसके पास जितने अधिक घड़े होते हैं, वह उतना अधिक जल भविष्य के लिए, प्यास के न रहते हुए भी उसमें से भरता है। भविष्य के लिए भी उसे सुरक्षित रखता है। जिसके पास जितने घड़े होते हैं, उतना जल वह भरता है। सबके पास उतने घड़े भी नहीं होते। बहुसंख्यक लोगों के पास घड़े इतने छोटे होते हैं कि उन्हें आज ही प्यास बुझाना भी असम्भव हो गया है। कितनों के पास घड़े ही नहीं कि वे जल प्राप्त कर सकें। भविष्य की चिन्ता, अनिश्चितता का भाय, एकत्रित करने का प्रलोभन, प्रतियोगिता तथा प्रतिष्ठा की भावना, शोषण तथा दुरुपयोग के कारण बन गये हैं। मुद्रा राक्षस का सहारा लेकर व्यक्ति इस क्रिया में सफल हो रहा है। मुद्रा-प्राप्ति के स्रोतों पर एकाधिकार होता जा रहा है। अधिक लागत की पूँजी का नियन्त्रण उत्पादन पर होता जा रहा है। कम पूँजी वाले छोटे-छोटे उद्योगों का ह्रास होता जा रहा है। उनसे प्राप्त होने वाली आय नगण्य है। यह स्रोत सूखता जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अब मजदूर बन कर ही जीवित रह सकता है। मालिक तथा मजदूर का सम्बन्ध ही समाज में बढ़ रहा है। छोटे-छोटे उत्पादन के स्रोत समाप्त हो जाने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्तप्राय है। उसकी आय शनैः शनैः क्षीण होती जा रही है। उसको अब उपभोग की सामग्री जुटाने में उसी प्रकार का व्यवहार करना पड़ रहा है जैसे अन्य कम आय वाले वेतनभोगियों को करना पड़ता है। इसलिये छोटे-छोटे उद्योगों, स्वयं कार्य देने वाले कार्य क्षेत्रों का विकास आवश्यक है। इससे व्यक्तियों के उत्साह, कार्य करने की शक्ति, उनके व्यक्तित्व का विकास, उनकी स्वतन्त्रता स्थायी रह सकेगी और उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ अन्य व्यक्तित्व के पहलुओं

का विकास होगा। सामाजिक सम्बन्ध विकृत न हो सकेंगे। आय की विषमता में वृद्धि न होगी।

वेतन भोगियों के उपरान्त नियोजन की अवस्था में निर्माण करने वाले ठेकेदार, नियन्त्रण की अर्थव्यवस्था के कारण उत्पन्न अधिकार प्राप्त विक्रेता, एजेन्सियों के सञ्चालक आदि राष्ट्र की सम्पत्ति का बहुत बड़ा अंश अपने इस क्रिया-कलाप से एकत्र कर लेते हैं। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के व्यक्तियों का मुद्रा-बाजार तथा उपभोग-बाजार में एकाधिकार स्थापित हो जाता है। अत्यधिक क्रय-शक्ति होने के कारण ये उत्पादन के नियोजित लक्ष्य एवं प्रकार में अवरोधक बन कर परिवर्तन ला देते हैं। इसी से नियोजित उत्पादन में लक्ष्यों की प्राप्ति में असफलता, कठिनाई एवं शिथिलता आ जाती है। उनके कार्य निःसन्देह उत्पादक और अनुत्पादक दोनों होते हैं। अनुत्पादक व्यय वेतनभोगियों की भाँति मुद्रास्फीति के एक बड़े कारण बन जाते हैं। ये अधिक क्रय-शक्ति वाले, सरकारी नीति में और विशेष कर आयात नीति में परिवर्तन करा देते हैं। ऐसी विलासिता की अनुत्पादक वस्तुएँ जो केवल व्यापार-सन्तुलन को असन्तुलित करती हैं, जो विदेशी विनिमय में कमी करती हैं तथा जो देश के उद्योग को हानि पहुँचाती हैं, उन्हीं का आयात होता है, क्योंकि इनका उपभोग यह वर्ग अधिक करने लगता है। इसके कारण तस्कर व्यापार तो होता ही है, साथ ही साथ सरकार को विदेशी मुद्रा की कठिनाई पड़ जाती हैं। यह समस्या विकासोन्मुख देश की ही नहीं बल्कि ग्रेटब्रिटेन ऐसे देश के समक्ष भी खड़ी हो जाती है। एक ओर नियोजित अर्थव्यवस्था इस बात की अनिवार्यता पर राष्ट्र में यह प्रचार करती है कि अल्प उपभोग, अत्यधिक बचत करना राष्ट्र की सेवा है, दूसरी ओर कुछ वर्गों द्वारा अत्यधिक विलासमय बाजार का उपभोग चलता है। देश और विदेश के बाजार इन क्रय शक्ति वाले उपभोक्ताओं के अनुसार चलते हैं। होना यह चाहिये कि विलासमय उपभोग करने वाले इन व्यक्तियों की क्रय-शक्ति का प्रयोग उत्पादक कार्यों की ओर ले जाया जाय। औद्योगिक नियमों द्वारा, सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा ऋण या कर का अस्त्र ग्रहण करके इस धन को उत्पादन में लगा देना चाहिये। देशी और विदेशी बाजारों से उपभोग की इन विलासमय वस्तुओं को उठा देना चाहिये। इस प्रकार से इन वस्तुओं के अभाव के कारण धन का प्रयोग अधिक बचत द्वारा पूँजी निर्माण का रूप ले लेगा। ऐसी स्थिति में मुद्रास्फीति नहीं

उत्पन्न हो सकेगी। सरकार की आयात-निर्यात नीति, व्यावसायिक नीति, मौद्रिक नीति तथा आर्थिक नीति में सुगमता और एकरूपता आ सकेगी। नियोजन के प्राण नियन्त्रण का साकार रूप सम्भव हो सकेगा। इससे नियोजन के लक्ष्यों में शिथिलता न आकर वृद्धि ही होगी।

विनियोग का स्वरूप

विकास की वेला में व्यक्ति और राज्य की ओर से कोई ऐसा व्यय नहीं होना चाहिए जो अनुत्पादक हो। प्रत्येक पैसे का व्यय कम से कम अपने बराबर सेवा और भौतिक उत्पादन समाज को दे। यदि किसी प्रकार का व्यय अनुत्पादक है तो निश्चित ही इससे असन्तुलन पैदा होगा। बहुधा विदेशियों के प्रभुत्व में या विकसित विदेशी अर्थव्यवस्था की चकाचौंध में या हम उनकी नकल में इस मान्यता में फँस जाते हैं कि उत्पादन से अधिक महत्वपूर्ण कार्य उपभोग करने की विधि का प्रशिक्षण देना है। कैसे उपभोग किया जाय, अधिक से अधिक उपभोग किया जाय, इसका पाठ पहले विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में हमें सिखाया जाने लगता है। यह नीति नियोजन को संकट में फँसा देती है। उपभोग की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती है, उत्पादन की मात्रा और प्रवृति निर्बल होने लगती है। इससे उठते हुये राष्ट्र में पराश्रयी आलस्य की, अनुत्पादिक शोषण की प्रवृति विकसित होने लगती है। विदेशियों के लिए यह एक सुनहला अवसर प्राप्त होता है। रहन-सहन के स्तर की वृद्धि के नाम पर एक बनावटी मूल्य नागरिकों के मन पर बैठ जाता है और नागरिक विदेशी वस्तुओं का एक बड़ा उपभोक्ता बन जाता है। विदेशी एजेन्सियाँ और विदेशों से प्रभावित नियोजन संचालक तथा देशी संस्थायें अनुत्पादक कार्यों को बढ़ावा देने लगती हैं। करोड़ों रुपये सांस्कृतिक कार्यक्रमों, सामाजिक सेवाओं, प्रदर्शनियों, उद्घाटन, सेमिनार, विशेषज्ञों की समितियों, विभागीय समितियों के नाटकों पर अनुत्पादक व्यय के रूप में होने लगते हैं। इनसे केवल कुछ वर्गों को क्रय शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिससे समाज में सम्पत्ति के वितरण में असमानता उत्पन्न हो जाती है। इनके द्वारा कोई उत्पादक ठोस कार्य होता ही नहीं। इन सबकी रिपोर्टें बुद्धि विलास के लिये, पुस्तकालयों के लिये रख दी जाती हैं। धन के अपव्यय से नियोजन की दिशा केवल साज सज्जा की वस्तु रह जाती है तथा

साधारण नागरिकों की दृष्टि धूमिल पड़ जाती है। राष्ट्रीयता, जनसहयोग, अत्यधिक उत्पादन, उत्साह सब भंग हो जाता है। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने इसकी सफलता के लिये राष्ट्रीय भावना का होना आवश्यक बताया है। उत्पादन प्रथम, उत्पादन अन्तिम यही नियोजन काल में प्रत्येक व्यक्ति तथा संस्था का उद्देश्य होना चाहिए; परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति-दृष्टि धूमिल हो जाने के कारण नियोजन संचालक उत्पादन के स्थान पर उपभोग और साज सज्जा की ओर मुड़ जाते हैं। उदाहरण स्वरूप, अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन का प्रारम्भ इञ्च-इञ्च भूमि, गमलों से होता है। अन्न के बीजारोपण का यह श्रीगणेश शनैः शनैः साज सज्जा की नीति में जमीन के बहुत बड़े उर्वर भाग को सजावट के पौधों, देश-विदेश की सजावट की घासों से आच्छादित किया जाता है। सजावट और साज-सज्जा बाजार में अधिक सम्मान की वस्तु बन जाती है। फलदायक वृक्ष सजावट के वृक्षों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि नियोजन की यह प्रारम्भिक उत्पादक प्रवृत्ति विकृत होकर उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में केवल अनुत्पादक साज-सज्जा की वस्तु रह जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि हम जिस राष्ट्र में विकास लाना चाहते हैं, उसकी धरती से हमारा सम्बन्ध नहीं रह जाता और हम विकास की शक्ल में विदेशियों के पथ पर चलने लगते हैं। उनसे सहायता प्राप्त करने में हम अपनी स्थिति को भूल जाते हैं और उन्हीं के इशारे पर चलने का प्रयास करने लगते हैं, जिससे योजना की दिशा में परिवर्तन हो जाता है।

आर्थिक असङ्गतियाँ

नगर और ग्रामीण असङ्गति

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में असंगतियों की आशंका सदा बनी रहती है। इसलिए सम्पत्ति के उत्पादन और उसके वितरण में विषमता स्वाभाविक हो जाती है। विकास की अवधि में योजना संचालन की दृष्टि एकाङ्गी हो जाती है। वे विदेशों के तुल्य वैभवपूर्ण बड़े-बड़े नगरों की भूमिका में सोचने लगते हैं। सारे राष्ट्र की प्रगति के मापदण्ड न्यूयार्क, लन्दन, पेरिस के भव्य नगर बन जाते हैं और भारत ऐसे देश बम्बई, दिल्ली और ;कलकत्ता की होड़ में नगरों की सजावट

प्रारम्भ कर देते हैं। विज्ञान की अद्यतन सुविधायें नगरों में ही केन्द्रित होने लगती हैं। राष्ट्र के नागरिक भव्य नगरों में आराम और विलासिता का जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा से अपने ग्रामीण जीवन से उदासीन होने लगते हैं क्योंकि ग्रामों में उपेक्षा की दृष्टि से नियोजक कार्य करते हैं। गाँवों में चलने वाले पेशे कृषि, पशु पालन तथा अन्य छोटे उद्योग सूखने लगते हैं। इसका कारण यही होता है कि बुद्धिमान पुरुष, सम्पत्तिशील व्यक्ति सब के सब गाँवों को छोड़ देते हैं। यहीं पर नगर और गाँव में विषमता उत्पन्न होती है। सारा राष्ट्र इन कुप्रभावों से पीड़ित होने लगता है। यह हो सकता है कि गाँवों में नगर की भव्यता लाने का प्रयास हो। परन्तु इस प्रयास में कोई ईमानदारी नहीं होती। इससे नगर का विकृत और विद्रूप स्वरूप गाँवों में प्रवेश पाता है। यह सभी दृष्टियों से ग्राम्य जीवन के लिये खतरनाक होता है। यह जो शहरी कार्यक्रम गांवों में रखे जाते हैं, वे गांवों के शोषण के नये यन्त्र बन जाते हैं। इसलिए इस प्रकार की असङ्गति से बचाव के लिए यह आवश्यक है कि सभी के मन में उत्पादन के मूलभूत क्षेत्र गाँव के प्रति निष्ठा बढ़े और कृषि-औद्योगिक (एग्रोइण्डस्ट्रियल) ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित हो ताकि नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा और अद्यतन वैज्ञानिक सुविधायें, उत्पादन के उपकरण इस मूलभूत क्षेत्र के अनुकूल हों। निस्सन्देह विश्व के चिन्तकों ने दुनिया को इसके विषय में आगाह किया है। भारत ऐसे देश में भी, जहाँ ८० प्रतिशत के ऊपर ग्रामीण नागरिक हैं वहाँ भी ऐसी घोषणा की जाती है परन्तु व्यवहार में यह बात नहीं पायी जाती। ग्राम और नगर की असङ्गति दूर करना विकास का महत्वपूर्ण कार्य है।

उपभोग और उत्पादन की असंगति

दूसरी असंगति इन देशों में यह पायी जाती है कि अभाव को दूर करने के लिए विकास की बुनियाद डाली जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षा अधिक से अधिक उपभोग की रहती है। वह बराबर अधिकतम उपभोग की लिप्सा लेकर समाज में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ता है। दूसरी तरफ विकास का मूलाधार अधिकतम उत्पादन होता है। अधिकतम उत्पादन की यह आधारशिला समाज में गौण हो जाती है और अधिकतम उपभोग की लिप्सा बलवती हो जाती है। इन असंगतियों के

कारण नागरिकों में एक बेचैनी होती है। वह उत्पादन क्रियाओं में उतना रस नहीं लेता जितना रस अनुत्पादक कार्यों में लेता है। उपभोग प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण विलासमय और पुनः आलस्यमय जीवन की तरफ बढ़ता है। कठोर श्रम से बचने का प्रयास करता है। धीरे-धीरे उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ निर्बल होने लगती हैं। अपने जीवन को येन-केन प्रकारेण भव्य नगरों के जीवन के अनुकूल बनाने लगता है। उसके सामने बड़े-बड़े अधिकारी, राजनैतिक नेता, ऊँचे वेतनभोगी लोग, अधिक सम्पत्तिशील व्यक्ति आदर्श बनते हैं। ये उच्चतम वर्ग के लोग अधिकतम उपभोग के लिए अधिकतम वेतन की व्यवस्था अपने लिये करते हैं। इससे एक तरफ मूलभूत उत्पादनों में कमी होती है जिससे दाम-सतह में वृद्धि होती है। दूसरी तरफ ये उच्च वेतनभोगी लोग अपने वेतन भत्ते आदि की वृद्धि करने लगते हैं। अपने कार्य और जीवन को सार्थक सिद्ध करने के लिए शिक्षितों का एक बहुत बड़ा वर्ग अपने सहायक के रूप में बनाये चलते हैं। यह वर्ग इन उच्च वेतनभोगियों के साथ केवल अनुत्पादक कार्य करता है और उपभोग के लिए अधिकतम क्रय शक्ति की प्राप्ति करता है। यह अनुत्पादक वर्ग सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की सहज उपलब्धि के लिए एक मध्यवर्ती, दूसरा अनुत्पादक वर्ग तैयार करता है, जो इस वर्ग के लिए सेवायें प्रस्तुत करता है। इनमें थोक तथा फुटकर विक्रेता आते हैं। समाज में जो वास्तविक उत्पादक वर्ग है जिसे हम किसान और मजदूर कहते हैं, वह इन वर्गों से शोषित होता है। यह परिणाम उपभोग और उत्पादन की असंगति के कारण समाज को भोगना पड़ता है।

कृषि और उद्योग की असंगति

तीसरी असंगति की यह सम्भावना होती है कि कृषि और उद्योग की वस्तुओं के दाम में ऐसी गड़बड़ी होती है कि कृषि की वस्तुओं का उत्पादन शिथिल होने लगता है और कभी कभी इतनी अधिक तेजी होती है कि सारा समाज त्रस्त होने लगता है। असंतुलन की इस स्थिति में जब कृषि की वस्तुओं के उत्पादन में शिथिलता होने लगती है और उसके पीछे प्रमुख कारण यह होता है कि दाम में गिरावट होती है तो कृषि के क्षेत्र से श्रम और पूँजी औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में तेजी से जाने लगती है क्योंकि इन क्षेत्रों में अधिक लाभ और सुविधा की प्राप्ति होती है।

उद्योग और व्यवसाय उतने अनिश्चित नहीं होते, जितने अनिश्चित कृषि और प्राकृतिक उद्योग होते हैं। कार्य के क्षेत्र गाँव से जनसंख्या नगरों की ओर बढ़ने लगती है। इस प्रकार से कृषि के उत्पादन में कमी एक ओर जनसंख्या का नगरों की ओर झुकाव, दूसरी ओर एक आर्थिक असंतुलन का निर्माण करता है। जीवन के रहन-सहन में औद्योगिक वस्तुओं के प्रति अधिक झुकाव हो जाता है। कृषि की वस्तुओं का उत्पादक अपनी कतिपय असमर्थताओं के कारण औद्योगिक और व्यावसायिक वस्तुओं के उत्पादकों के समक्ष निर्बल पड़ जाता है। पूरे समाज को निर्बलता से बचाने के लिए वस्तुओं के दाम का नियंत्रण, वस्तुओं के सापेक्षिक दाम में स्थायित्व तथा कृषि की वस्तुओं की आर्थिक सहायता की नीतियाँ अपनायी जाती हैं। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में चूँकि पूर्ण विकसित अर्थव्यवस्था की परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं होतीं, अतएव किसी सुदृढ़ तथा स्पष्ट नीति का पालन देश नहीं कर पाता। यदि विशाल देश हुआ और मौद्रिक अर्थव्यवस्था का स्वरूप रहा तो यह कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती है। इसके लिए देश की कृषि को नींव मान कर और वहीं से सारे उद्योग और व्यवसायों का सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। कृषि प्रधान अधिक जनसंख्या वाले भारत ऐसे देश में कृषि ही हमारी शासकीय अर्थव्यवस्था का केन्द्र होना चाहिए। समुन्नत राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि कृषि और औद्योगिक वस्तुओं के दाम तथा कृषि और उद्योगों में लगे व्यक्तियों के पुरस्कार का निर्धारण इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि दोनों का संतुलन बराबर बना रहना चाहिए।

रोजगार के ढाँचे में असंतुलन

चौथी असंगति के अन्तर्गत रोजगार के ढाँचे में असंतुलन उत्पन्न होता है। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में जहाँ अन्य चीजों पर अधिकतम ध्यान दिया जाता है वहाँ शिक्षा पर भी अधिकतम ध्यान होता है। इस पर अधिकतम ध्यान देने से जब देश दूसरे देशों की नकल बिना विचारे करता है तो शिक्षा देश के अनुकूल नहीं हो पाती। शिक्षा से और आर्थिक जीवन से दुराव उत्पन्न होने लगता है। अक्षर ज्ञान की शिक्षा मनुष्य के मन में उत्पादक शारीरिक श्रम से घृणा उत्पन्न करने लगती है। व्यक्ति शिक्षित होकर केवल बौद्धिक श्रम करता हुआ विलासमय जीवन की तरफ बढ़ता है। सारा समाज इस दिशा में बढ़ना चाहता

है। शारीरिक श्रम वाले कार्य इस प्रकार के समाज में अप्रतिष्ठा-दायक हो जाते हैं। जो मनुष्य शारीरिक श्रम करते हैं, वे भी अपने जीवन को कोसते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन कार्यों में, कार्यक्षमता में शिथिलता आती है और असंतोष से आये दिन झगड़े उत्पन्न होते हैं। यह असंगति बौद्धिक और शारीरिक श्रम की उस स्थिति में इतनी बढ़ जाती है कि दोनों के आर्थिक पुरस्कार में भी अधिक विषमता हो जाती है। सामाजिक अप्रतिष्ठा और कम पुरस्कार बौद्धिक श्रम के लिए समाज में एक नया वर्ग पैदा करता है और विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था को शिक्षित बेकारों की समस्या का सामना करना पड़ता है। इस बेकारी को दूर करने के लिए इनके लिए रोजगार के सन्दर्भ खोजे जाते हैं। इसके फलस्वरूप रोजगार का ढाँचा इतना असंतुलित हो जाता है कि उत्पादन, उपभोग, रोजगार, सबमें ऐसी गड़बड़ी पैदा हो जाती है कि इस दोष का निदान ही नहीं हो पाता। इसके दूर करने की उपाय तो दूर की बात है। भिन्न-भिन्न निपुण, अनुभवी व्यक्तियों की समितियाँ, सरकार द्वारा बनायी जाती हैं। परन्तु वे समितियाँ समस्याओं से दूर होती हैं और इनके अनुभव पुराने और विदेशी होते हैं, जिससे समस्या के निराकरणार्थ इनके सुझाव अटकल बाजियों में परिणत होकर एक उलझी हुई पहेली बन जाते हैं। यही कारण है कि विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में असंख्य समितियों और संस्थाओं का जन्म होने लगता है। राष्ट्रीय आय का अधिकतर भाग इन पर अपव्यय होता है। रोजगार का ढाँचा इतना विकृत हो जाता है कि राष्ट्र की आर्थिक गतिशीलता कुण्ठित हो जाती है।

प्राविधिक उपकरणों की असंगति

पाँचवीं असंगति का रूप प्राविधिक उपकरणों में दिखाई देने लगता है। वर्तमान उत्पादन के नवीनतम उपकरण एक ओर तथा प्रचलित प्राचीन उत्पादन के उपकरण दूसरी ओर और फिर अधिकतम जनसंख्या में काम करने योग्य मनुष्यों की बाढ़ तीसरी ओर, कई प्रकार की असंग-तियों को जन्म दे देते हैं। ऊहापोह की इस स्थिति में मशीन प्रधान बड़े उद्योगों को बढ़ावा दें या श्रम प्रधान कम पूँजी वाले छोटे यन्त्रों के छोटे उद्योगों को बढ़ावा दें और फिर अधिकतम लोगों को कार्य देने की राष्ट्र की क्षमता बढ़ायें? ये समस्यायें सरकार को स्पष्ट नीति निर्धारित

करने में बाधक हो जाती हैं। इसी से निहित एक के उपरान्त दूसरी समस्यायें उत्पन्न होने लगती हैं। पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो या उपभोग प्रधान वस्तुओं का, बिना अधिक पूँजी की वस्तुओं से अधिक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो सकता, बिना उपभोग की वस्तुओं के अधिक उत्पादन से राष्ट्र का जीवन स्तर, राष्ट्र की कार्य-क्षमता आगे नहीं बढ़ सकती। इस प्रकार से उत्पादन उपभोग की वस्तुओं में असंगति पैदा हो जाती है। इसलिए प्राथमिकता किसी भी विकास के लिए बहुत ही आवश्यक है। एक ओर जीवन के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि दूसरी ओर बेकारी में वृद्धि, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोध में विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में होते हैं। यदि बेकारी कम करने का प्रयास छोटे-छोटे उद्योगों से होता है तो तथा कथित रहन-सहन का स्तर गिरता है। इसमें एक बढ़ा तो दूसरा गिरा। यह कठिन समस्या बनकर असंगति को पेचीदगी की ओर ले जाती है।

पूँजीगत असंगति

छठवीं असंगति देशी और विदेशी पूँजी की होती है। देशी पूँजी के अभाव के कारण विदेशी पूँजी का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है। विदेशी पूँजी अपने बाजार को स्थायी रख कर चलती है। प्रत्येक पूँजी लगाने वाला विदेशी व्यक्ति अपने लाभ की तलाश तो करता ही है लेकिन यह भी देखता रहता है कि कहीं इस देश का उद्योग उनके देश के उद्योग के बाजार को समाप्त न कर दे। ये पूँजीपति प्रतिवर्ष ब्याज तो लेंगे ही, साथ ही साथ अपने देश के बाजार को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। उनकी यह दुर्नीति एक ओर और दूसरी ओर बिना विदेशी पूँजी के हमारी अपने विकास की असमर्थता, ये ऐसी असंगतियाँ हैं कि इनका निराकरण बुद्धिमत्ता के साथ होना चाहिये। विदेशी पूँजी के साथ-साथ विदेशों के सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कई प्रकार के हथकण्डे चलते हैं।

काल की असंगति

सातवीं असंगति दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन नीति की होती है। राष्ट्र के निर्माण एवं विकास में ऐसी पूँजी लगती है जिसमें उत्पादन पाँच या दस वर्ष उपरान्त आरम्भ होता है। यह कार्य आवश्यक है परन्तु इनका प्रतिफल भविष्य में प्राप्त होगा। परन्तु आज की समस्या का निराकरण यदि नहीं होता अर्थात् आज अगर उत्पादन नहीं होता तो

उपभोग्य वस्तु की न्यूनता के कारण निराशा होती है। उदाहरण स्वरूप, सिंचाई की व्यवस्था के लिए दस वर्ष बाद बाँध बनकर कृषि के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकेगा और तब अधिकतम अन्न उत्पादित होगा। परन्तु आज तो अन्न का अभाव है, इसके लिए भी उपकरण ढूँढ़ने पड़ेंगे। इसलिए दोनों अवधियों के लिए और दोनों परिस्थितियों के लिए अल्पकालीन और दीर्घकालीन कार्यक्रम अपनाने पड़ेंगे। दीर्घकाल में अल्पकालीन उपकरण बेकार भी हो सकते हैं। इसलिए इसे धन का अपव्यय भी कहा जा सकता है परन्तु अल्पकालीन ये व्यय अति आवश्यक हैं। इन असंगतियों में से राष्ट्र को निकालना योजना आयोग कार्य है। अपव्यय कम से कम हो और अल्पकालीन, दीर्घकालीन समस्याओं का निराकरण अधिक से अधिक हो।

चिन्तन-धारा की असंगति

आठवीं असंगति नवयुवकों और बुड्ढों की चिन्तनधारा में हो जाती है। लक्ष्य एक होते हुए भी दोनों के सोचने में इतनी बड़ी असंगति उत्पन्न होती है कि विकास की धारा न तो आगे बढ़ती है और न तो पीछे जाती है। बल्कि भँवर बनकर इस बात का आभास देती है कि दोनों समझते हैं कि हम उड़ान की स्थिति में पहुँच रहे हैं। दोनों में राष्ट्र के आर्थिक विकास की चिन्ता होती है। लेकिन दोनों के सोचने तथा कार्यान्वित करने की विधियों में इतनी भिन्नता आ जाती है कि विकास के कार्य की कोई धारा नहीं बन पाती। आर्थिक विकास के इतिहास से स्पष्ट है कि राष्ट्र को आर्थिक प्रगति नवयुवक का उत्साह देता है, और वह प्रवाह पतित न होने पाये, इसका चिन्तन वयोवृद्ध देता है। गतिशील और स्थिर अर्थव्यवस्था की ये भिन्नतायें किस प्रकार की असंगति का कारण बनती हैं, यह प्रत्येक अर्थशास्त्री जानता है। इनका निराकरण आर्थिक साधनों की उपलब्धियों, अद्यतन उपकरणों और मानवीय मूल्यों को समक्ष रख कर करना चाहिये।

इन असंगतियों का निवारण गांधी जी के आर्थिक दर्शन और आर्थिक-नीति में हमें पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। इसीलिए हमें इस मानव अर्थशास्त्र की ओर मुड़ना आवश्यक प्रतीत होता है। मनुष्य और मानवता को केन्द्र में रखना आवश्यक है।

—:०:—

तृतीय-परिच्छेद

गांधी जी की आर्थिक एवं सामाजिक क्रान्ति

जब हम प्राचीन संसार को देखते हैं तो एक नया सन्देश आज के सन्दर्भ में हमें प्राप्त होता है। मिश्र का वह गौरव, मेसोपोटानियाँ, क्रीट-द्वीप, यूनानी सभ्यता, अरस्तू की लोकशाही, रोमन साम्राज्य, चीन में लाओत्से का सन्देश ईरान की देन, सूमेरी सभ्यता, अरब में खलीफा उमर का आदर्श आदि एक नया सन्देश और नया उत्साह हमें प्रदान करते हैं। जब हम आत्म तत्व प्रधान प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उसमें कलात्मक ढङ्ग से भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख का समन्वय प्राप्त होता है। कर्म और ज्ञान, आचार और विचार के समन्वय में मानव समाज लिप्त होता दिखलाई देता है। वैदिक युग में ऋषि और मुनियों की तपस्या शाश्वत मूल्यों की उनकी देन और चक्रवर्ती राजाओं पर उनका नियन्त्रण एक महान् मूल्य की प्रतिष्ठा करता है। रामावतार भी आया। उसमें हमें आध्यात्मिक सत्य और अहिंसा के गुणों का परिचय मिलता है। कृष्णावतार में सत्य, अहिंसा, समता तथा स्वतन्त्रता के गुणों की विजय पशुता तथा आसुरी प्रवृत्तियों पर दिखलायी देती हैं। भारतीय प्रजातान्त्रिक गणतन्त्रों के अस्तित्व को हम वहाँ देखते हैं। महावीर तथा बुद्धावतार ने नैतिक और अहिंसात्मक आधार पर जाति भेद का निराकरण कर प्रत्येक मानव में समता की प्रतिष्ठा की। इन्हीं गुणों का लेकर अशोक ने प्रजातंत्र-मूलक अहिंसात्मक राज्यों का गठन किया। आगे चलकर भारतीय महान् सन्तों—रामानन्द, कबीर, गुरु नानक, चैतन्य, जायसी, सूर, तुलसी आदि ने वेद, उपनिषद्, गीता आदि के संदेश को समाज में लाने का प्रयास किया। धर्म के व्यापक रूप, धार्मिक सहिष्णुता का सहारा लेकर ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण विवेकानन्द ने समाज को पवित्र बनाने का प्रयास किया। विज्ञान के तूफानों से ओत-प्रोत भौतिकवादी पश्चिम ने गोर्की, रोमाँरोला, थोरियो, रस्किन, टाल्सटाय आदि को मसीहा के रूप में

उत्पन्न किया। एक नया नैतिक स्तर स्थापित करने की ओर प्रयत्नशील किया। उसके पहले ईसा का सन्देश मनुष्य को प्रेरणा दे रहा था। आत्मज्ञान और विज्ञान, व्यक्ति और समाज, भौतिक एवं आध्यात्मिक द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों में बहुत से राजपुरुषों एवं समाज विधायकों का अवतरण हुआ। क्रोटापकिन, मार्क्स तथा गाँधी की त्रिवेणी मानव संस्कृति और सभ्यता को प्राप्त हुई है। विश्व की इन प्रवृत्तियों के उत्तराधिकारी होने के कारण तीनों के व्यक्तित्व में प्राचीन विचारों का आभास मिलना स्वाभाविक है। इन सब में गाँधीजी का व्यक्तित्व अधिक उज्ज्वल और शाश्वत रूप लेकर निखरा हुआ है। इसका मूल कारण यह है कि गाँधीजी ने एक आध्यात्मिक और भौतिक मिश्रित स्वरूप का निर्माण किया, जिसके द्वारा पूर्व और पश्चिम को एक में मिला दिया और आचार एवं विचार, आत्मज्ञान एवं विज्ञान को एक रस बनाकर विश्वपुरुष का व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया। बाइबिल के सन्देश "मनुष्य रोटी के लिए ही नहीं," कार्ल मार्क्स का सन्देश मनुष्य रोटी के लिए ही के स्थान पर मनुष्य को रोटी भी चाहिये का एक व्यावहारिक सन्देश दुनियाँ को दिया।

विशाल व्यक्तित्व को लेकर विश्वपुरुष के रूप में गाँधीजी अवतरित हुए। विश्व के इतिहास में कोई ऐसा पुरुष नहीं दिखलायी पड़ता, जिसने पायखाने से लेकर परमात्मा तक पर एक भाव से विचार और आचार किया हो। इसीलिये गाँधी का जीवन ही एक दर्शन बन गया है। वह ऐसा दर्शन है, जिसे समझना सरलतम है और क्लिष्टतम भी है। उसका कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व कई रङ्गों से रङ्गा हुआ है। उन रङ्गों से हम चकाचौंध में पड़ जाते हैं, क्योंकि इतिहास में जितने व्यक्ति झलक में आये, उनका एकांगी स्वरूप ही हमें मिला। सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व गाँधी का ही है। इसीलिये विशेषज्ञों की दृष्टि धूमिल पड़ जाती है और वे गाँधी को समझ नहीं पाते। एक ओर जब हम राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की पंक्ति में गाँधी को खड़ा करते हैं तो उस पंक्ति में पूर्ण होते हुए भी गाँधी के व्यक्तित्व में एक अधिक ज्योति दिखलायी पड़ती है। गाँधी का दरिद्रनारायण कितना विचित्र है! इसीलिये अनायास यह मान लेना पड़ता है कि गाँधी उनसे आगे हैं। जब प्लेटो, अरिस्टाटल, रूसो, गैरीबाल्डी, मैज़िनी, नेपोलियन, हिटलर आदि राजपुरुषों और राजर्षियों के बीच हम गाँधी को देखते हैं तो उसमें भी गाँधी का व्यक्तित्व पूर्णतया नहीं समापाता, क्योंकि राजनीति बिना धर्म और नैतिकता के गाँधी के लिये व्यर्थ है।

अतएव राजनैतिक प्रचलित दर्शन के अनुकूल गाँधी नहीं प्रतीत होते। जब मैं उन्हें सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दानी दधिचि और शिव, अहिंसा के पुजारी अशोक आदि के बीच देखता हूँ तो गाँधी उन गुणों को जो इन लोगों के व्यक्तिगत जीवन के गुण बनकर समाज के लिये प्रेरणा स्थल बने हैं, उन्हें गाँधी सामाजिक गुणों में परिवर्तित कर देते हैं। यही कारण है कि अशोक ने जिस अस्त्र को हिंसा के कारण छोड़ दिया वे व्यक्तिगत गुण ही रह गये, लेकिन समाज ने उसे न छोड़ा और आज भी हिंसा के लिये अस्त्र-शस्त्र वर्तमान हैं। गांधी ने उन्हें सामाजिक गुण बना दिया। गांधी ने इसीलिये ऐसी शक्ति समाज में डाल दी कि व्यक्ति सत्याग्रही बनकर फौज के सामने निर्भीक बनकर लेट जाता है। सत्य और संरक्षण के लिये प्रत्येक व्यक्ति सत्याग्रही बनकर निर्भय होकर प्राण भी दे देता है। इन गुणों को गांधीजी ने सामाजिक गुण बना दिया। इसलिये गांधी का व्यक्तित्व इन व्यक्तियों के साथ भी नहीं बैठ पाता। जब हम आर्थिक और सामाजिक क्रान्तिकारियों जैसे मार्क्स आदि के बीच गांधी को रखकर उनके व्यक्तित्व से इनके व्यक्तित्व को मिलाते हैं तो गांधी इस चौकठे में भी नहीं बैठ पाते। उसका कारण यह है कि मार्क्स ने दुनिया को जो नया संदेश दिया कि गरीबी बनावटी है और यह मिटकर रहेगी, इससे दुनिया के शोषित, गरीब श्रमिक वर्ग को एक नया उत्साह और नया जीवन प्राप्त हुआ। श्रमिकों को समाज-नियामक और राज्य-नियामक का गौरवशाली स्थान मार्क्स ने प्रदान किया परन्तु गांधी ने कार्ल मार्क्स से सौ कदम आगे बढ़कर इस शारीरिक श्रम को जीवन का पवित्र सामाजिक व्रत बना दिया। श्रम को पूजा के समान पवित्र और प्रतिष्ठित बना कर गांधी ने क्रान्ति का शाश्वत मूल्य हमारे सामने रख दिया। वर्गविहीन, शोषण-विहीन, राज्यविहीन समाज की मार्क्स की कल्पना को गांधी ने शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा द्वारा साकार कर दिया। जब हम दुनिया के आचार्यों और विचारकों की पंक्ति में देखते हैं तो वहाँ गांधी का कर्म और ज्ञान, आचार और विचार के भेदों को मिटाता हुआ व्यक्तित्व दिखलायी पड़ता है। इसके आन्तरिक और बाह्य आचरण के व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के दो मापदण्ड हैं ही नहीं। इन्हीं सब कारणों से यह समझ में नहीं आता कि गांधी राजनीतिज्ञ हैं, अर्थशास्त्री हैं, समाजशास्त्री हैं, अध्यात्मशास्त्री हैं, क्रान्तिकारी हैं या क्या हैं? क्योंकि इन

शक्तियों के किसी चौकठ में गांधी को बैठाना असम्भव होता है। उनका व्यक्तित्व सर्वाङ्गीण और व्यापक है।

एकरस समाज बनाने का गांधीजी ने क्रान्तिकारी दर्शन प्रस्तुत किया है। समाज को वर्गों में विभक्त करना, समाज को ऊँच और नीच में बाँट देने का जो उपक्रम इतिहास में चला आ रहा है उसे गांधी ने पैनी दृष्टि से देखा। देखने में बहुत छोटा परन्तु प्रभाव में महान् कार्यक्रम इसके लिए निर्धारित किया। गांधी के जीवन की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

स्वराज्य आन्दोलन में स्वदेशी वस्त्र, नमक सत्याग्रह आदि ऐसे कार्यक्रम गांधीजी ने अपनाया जो कार्यक्रम झोपड़ियों से महलों तक को स्पर्श करते हैं। खादी एवं नमक सत्याग्रह ने देश में सबके अन्दर चेतना पैदा की। साथ ही साथ विदेशों में यहाँ तक कि स्वयं इंगलैण्ड में अंग्रेजों के इस दमन के प्रति लोगों में असन्तोष पैदा हुआ और सहज सहानुभूति गांधीजी को विदेशों से भी प्राप्त हुई। सामान्यतया कितने छोटे ये आन्दोलन के अस्त्र थे, किन्तु बहुत ही प्रभावोत्पादक थे। इसलिये गांधी को जादूगर कहा जाता है। राष्ट्र को गांधीजी पहचानते थे इसीलिये उन्होंने इस देश को किसानों का देश कहा और गांधी का आन्दोलन किसान-आन्दोलन कहा जाता है। गांधी ने दुनिया में एक अनोखा और प्रथम प्रकार का किसान आन्दोलन छेड़ा और उन्होंने इस बात की मान्यता दी कि देश में क्रान्ति किसान के यन्त्र हल और भंगी के यन्त्र झाड़ू से आयेगी। स्वराज्य में इस देश का राष्ट्रपति किसान होगा और गांधी दूसरे जन्म में भंगी के घर जन्म लेंगे; ये दो गांधी के क्रान्तिकारी सन्देश हैं। इसे बहुत गहराई के साथ प्रत्येक राष्ट्र और समाज निर्माता क्रान्तिकारी को समझना होगा।

स्वराज्य के उपरान्त जो नया मानव समाज निर्मित होगा वह एक रस सम-समाज होगा। उसका अभ्यास गांधी ने सामाजिक जीवन में प्रारम्भ कर दिया था। अब तक के समसमाज बनाने के जितने भी उपक्रम दुनिया में वर्तमान हैं उनमें वह समता नहीं है, यह व्यवहार में पूर्णतया स्पष्ट है। गांधीजी ने देखा कि धर्म के आधार पर ऊँच और नीच, छोटे-बड़े का विभाजन है। इसीलिये उन्होंने सर्वधर्म समन्वय की सामूहिक प्रार्थना प्रारम्भ की। इससे धार्मिक भेद तिरोहित होंगे। आत्मज्ञान,

आन्तरिक शुद्धि, आत्मविकास और चारित्र्य का विकास होगा। शुद्धतम भावना से मनुष्य में अद्वैत भावना का प्रसार होगा। मनुष्य-मनुष्य के भेद समाप्त होंगे। मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, मठ, गुरुद्वारा से एक भाव एक वाणी निकलेगी जो समाज को विभक्त न करके एकरस बना देगी।

इसी पृथ्वी पर एक ऐसा मानव रहता है जिसको छूना पाप है जिसे भंगी कहते हैं। इससे समाज में ऊँच और नीच का भेद बना हुआ है। यह भंगी माता के तुल्य मल-मूत्र को स्वच्छ करने का कार्य करता है। इतना पवित्र कार्य, इतना आवश्यक कार्य करनेवाला भंगी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। यह किसी भी समाज के लिये कलंक है। महात्माजी ने अन्य सुधारकों की भाँति भंगी आंदोलन नहीं खड़ा किया। इन्होंने भंगी के इस कार्य को पवित्रतम कार्य बना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उतार कर सामाजिक महत्व प्रदान करने का प्रयास किया। सामूहिक सफाई एक नित्य कर्म का सामाजिक व्रत बना दिया। यह कार्य घृणा के स्थान पर प्रेम का बन गया। इस कार्य के कारण समाज में जो ऊँच-नीच छोटे-बड़े का स्वरूप था वह विलुप्त हो जाता है। इसीलिये गांधी ने समाज परिवर्तन के क्रांतिकारी स्थल को 'झाड़ू' बताया। स्वच्छता, आन्तरिक और बाह्य, प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ बनाती है। शारीरिक और मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्रेरणा, सामूहिक प्रार्थना और सामूहिक सफाई से प्राप्त होती है। यह इस व्रत का नैतिक एवं आध्यात्मिक पहलू है। साथ-ही-साथ गांधी जी के इस क्रांतिकारी कदम में सबसे बड़ा आर्थिक पहलू भी है। प्रत्येक व्यक्ति का केवल मल-मूत्र प्रति वर्ष आठ रुपये के हिसाब से प्राप्त होता है और यदि इसे ४५ करोड़ आदमियों के मल-मूत्र के हिसाब में रख लें तो अरबों रुपये की खाद बनकर अरबों रुपयों के अन्न और फल में प्रगट होगी। इसमें सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति एवं उत्थान दोनों निहित हैं। सामूहिक सफाई के व्रत से इस कार्य को पवित्रता और महानता गांधी जी ने दी और सामाजिक भेदभाव को समाप्त करने का यन्त्र बनाया।

उत्पादन के क्षेत्र में शारीरिक श्रम के महत्व को न स्वीकार करके समाज ने मजदूर और मालिक वर्ग की कल्पना साकार कर ली। ये दोनों वर्ग केवल एक शारीरिक श्रम की बुनियाद से भिन्न-भिन्न रूपों में पनपते

रहेंगे। इससे ऊँच-नीच के दो वर्ग बनते रहेंगे। पूँजीवादी व्यवस्था के टूटने के उपरान्त क्रान्तिकारी कार्ल मार्क्स की साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में भी शारीरिक श्रम करनेवाला मजदूर कहा जाता है और बौद्धिक श्रम और व्यवस्था करने वाला उच्च सम्मान प्राप्त प्रबन्धक कहा जाता है। फिर कोई समाज आयेगा उसमें शारीरिक श्रम करनेवाला एक वर्ग रहेगा और शारीरिक श्रम न करने वाला मजदूरों की सेवा के नाम पर, मजदूर-सेवक या समाज-सेवक उच्च वर्ग रहेगा। इस प्रकार से पोप, पण्डा, पुरोहित, राजा, सामन्त, अधिनायक, मालिक, मैनेजर, साधु-संत, सेवक ये विभिन्न रूप हैं, जो शारीरिक श्रम नहीं करते केवल उपभोग करते हैं और उपभोक्ता बन कर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। सत्ता, सम्पत्ति और शस्त्र समाज में वर्ग बना कर जितना अहित कर रहे हैं उससे अधिक अहित शरीर श्रम न करने वाले, उत्पादन न करने वाले केवल उपभोग करने वाले मनुष्य कर रहे हैं। गांधी जी ने शारीरिक श्रम करने वाले को ही उत्पादक माना और उसी की महानता को सामाजिक व्रत बना कर स्थापित करने का प्रयास किया है। गांधी जी ने तीन सोपानों में शारीरिक श्रम के द्वारा स्वामित्व का विसर्जन समाज के समक्ष आध्यात्मिक समाजवाद के रूप में रख दिया। सर्व प्रथम उन्होंने अनुत्पादक स्वामित्व की समाप्ति पर बल दिया। दूसरी अवस्था में उत्पादक स्वामित्व को प्रतिष्ठित किया और तीसरी स्थिति में व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर सामाजिक व्रत बना दिया। यही गांधी जी का थातेदारी का सिद्धान्त है। इस शारीरिक श्रम के कारण जो समाज में ऊँच-नीच वर्गों का सृजन होता रहता है उसे गांधी जी ने सामूहिक कताई का व्रत बना कर सदैव के लिए समाप्त कर दिया। सामूहिक कताई एक प्रतीक है जिसके द्वारा गांधी जी ने शरीर-श्रम को व्रत बना दिया, प्रत्येक व्यक्ति नित्य श्रम के द्वारा उत्पादन करे तभी उपभोग का अधिकारी है, जब कि वह उत्पादन करे। शरीर-श्रम जब नित्य क्रिया बन कर प्रत्येक व्यक्ति के लिए पूजा के तुल्य पवित्र और प्रतिष्ठादायक बन जाता है तो इसके कारण उत्पन्न होने वाले विभेद समाज से तिरोहित हो जाते हैं। गांधी ने खादी को क्रान्ति का साधन बनाया है और साथ ही साथ शारीरिक-श्रम करने के जो हथियार और औजार हैं उनके महत्त्व को लड़ाई के औजार से बहुत अधिक बढ़ा दिया। यही नहीं बल्कि मनुष्य की जो प्राथमिक आवश्य-

कताएँ हैं उनकी तृप्ति स्वयं अपने श्रम और परिवार से होनी चाहिए, उनकी तृप्ति बाजार से उठ जानी चाहिए। गांधी ने परिवार, मन्दिर, बाजार और दरबार में चलने वाले मूल्यों में सबसे अधिक प्रधानता परिवार के मूल्य को प्रदान की। बाजार में बाहर के काम के दाम हैं; परन्तु घर के काम के दाम नहीं होते। बाजार में बाप-बेटे से, बेटा बाप से हिसाब माँगता है, परिवार में यह नहीं होता। इसलिये गांधी ने सामूहिक कताई द्वारा परिवार के मूल्य को विस्तृत करने का प्रयास किया है जिसमें श्रम और उत्पादन का दाम प्रेम होगा। अन्न स्वावलम्बन, वस्त्र स्वावलम्बन की जो दो प्रक्रियायें हैं इन दोनों को बाजार से ही तो उठाने के लिए विनोबा ने भूदान, गांधी ने चर्खा को क्रान्ति का प्रतीक बनाया। जब प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक श्रम को व्रत बना लेता है तो शोषण तो बन्द ही होगा। समाज से वर्ग मिटेगा और सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि समाज प्रेम और सहानुभूति से सुरभित होगा। यह युग शरीर-श्रम का ही युग है, शरीर-श्रम ही सामाजिक मूल्य हैं।

शरीर श्रम का कलात्मक विकास इस युग की माँग है। शरीर-श्रम करने वाले श्रमिक को हमें विभूति के रूप में देखना होगा। जो कार्य हम अपनी इच्छा से नहीं करते उसी का नाम सजा है। जो उत्पादन कार्य हम पैसे के लिए करते हैं वही मजदूरी है। जो उत्पादन कार्य दूसरों की मर्जी के लिए हम करते हैं वही बिना पुरस्कार का बेगार है। जो कार्य हम अपनी इच्छा और मर्जी से करते हैं वही आनन्द है, वही मनोरंजन है। गाँधी ने शारीरिक श्रम को उत्पादन कार्य में लगा कर आनन्द की सृष्टि की, यही गाँधी की कला है। गाँधी जी ने श्रम की महत्ता प्रतिष्ठित करके मनुष्य को महान् बना दिया।

गाँधी जी की शरीर-श्रम की यह महत्ता युग के लिए वरदान बन रही है। विभिन्न राजनीतिक दलों के झण्डों का प्रतीक आज राम का बाण, कृष्ण का चक्र या बाँसुरी, भीम की गदा न बन कर श्रमिक का हथौड़ा, किसान का हल, जुलाहे का चर्खा बन गया है। इससे स्पष्ट है कि गाँधी जी ने जिस युग की ओर संकेत किया है उसी युग की ओर गांधी जी के ही आधारों पर समस्त राजनीतिक दल अपने प्रतीकों को लेकर बढ़ रहे हैं। इसलिए गाँधी जी को हम सबसे महान् क्रान्तिकारी मानते हैं।

गाँधी का नया समाज जिसका सत्य और अहिंसा लक्ष्य होगा, मानव सारी व्यवस्था का केन्द्र बन कर सहयोग की व्यापकता से अग्रसर होगा। मानव श्रम वास्तविक सम्पत्ति तथा विनिमय का मापदण्ड होगा। बौद्धिक श्रम समाज सेवा का साधन होगा। मूलभूत जीवनदायिनी वस्तुओं के उद्योग विकेन्द्रित तथा निजी होंगे। बड़े तथा यन्त्रित उद्योग राष्ट्रीय अथवा पंचायती होंगे। काम तथा आराम समान तथा सहयोगी होंगे। कोई न बेकार करेगा और न भूखा रहेगा। कौटुम्बिक अर्थव्यवस्था होगी। शिक्षा जीवनोपयोगी, स्वास्थ्य और चिकित्सा सबको सुलभ होगी। समाज श्रमनिष्ठ होगा। भू-दान मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान, अहिंसक क्रान्ति द्वारा गाँधी का आध्यात्मिक समाजवाद या सर्वोदय समाज साकार होकर रहेगा।

लोक कल्याणकारी अर्थशास्त्र

मनुष्य मूलरूप में गुणों का पुंज है। वह अपनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास चाहता है। इन शक्तियों के विकासार्थ वह आगे बढ़ना चाहता है। इसीलिए वह अज्ञान से ज्ञान की ओर, परावलम्बन से स्वावलम्बन की ओर, दीनता से प्रभुत्व, निराशा से आशा, दुःख से सुख, विषमता से समता, अन्याय से न्याय, अभाव से आधिक्य, बेकारी से रोजगारी, असमर्थता से समर्थता, अरक्षा से सुरक्षा, भय से निर्भयता, अशान्ति से शान्ति, ध्वंस से निर्माण और अकिंचनता से बाहुल्य की ओर बढ़ना चाहता है। वह इस भौतिक जगत में त्रिकोण की स्थिति में अपने शरीर, समाज और प्रकृति के साथ खड़ा है। ऐसी स्थिति में कुछ संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व में एक आन्तरिक संघर्ष, मनुष्य तथा मनुष्य में संघर्ष, मनुष्य तथा समाज में संघर्ष और मनुष्य तथा प्रकृति में संघर्ष झलकने लगता है। सत्ता, सम्पत्ति और शस्त्र के तीन रूप समाज में प्रत्यक्ष रूप से नियामक बन जाते हैं। ये ही व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्य बन जाते हैं। राज्य और विज्ञान का प्रयोग इसी दिशा में होने लगता है। इसका सहज प्रतिफल यह होता है कि मनुष्य जिन मूल्यों और आकांक्षाओं को लेकर प्रस्थान करता है, वे यथार्थ से दूर आदर्श बन-बनकर रह जाते हैं। कतिपय दृष्टियों से विश्व के चिन्तकों ने इस बाधा के निराकरण का प्रयास किया, परन्तु वे युग के अनुकूल न होने के कारण और कालान्तर में 'वाद' बनकर संकीर्णता ग्रहण करने के कारण एकांगी बन गये और समस्या का समाधान प्रस्तुत न कर सके। दार्शनिकों ने, धर्म-उपदेशकों ने, भौतिकवादियों, आध्यात्मवादियों ने, व्यक्तिवादी और समाजवादियों ने, सभी ने प्रयास किये, परन्तु कहीं-न-कहीं प्रवाह-पतित होने के कारण यथार्थ और आदर्श में दुराव होता ही गया। जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उद्बोधन हुआ, वहाँ यथार्थ आदर्श में लिपटा हुआ वास्तविकता को लेकर हमारे जीवन में आया। यह जगत भौतिक है, अतएव भौतिकता की प्रधानता का होना स्वाभाविक है। इसे जब भी हम

ओझल करेंगे तो अवश्य फिसलेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि भौतिकता ही प्रमुख है। अपितु यह एक सर्वोत्तम सम्पूर्ण मानवीय मूल्य और आदर्श की प्राप्ति का सशक्त साधन है। जिस प्रकार से यह शरीर सद्गुणों का साधन है, उसी प्रकार यह भौतिकता भी है। अतएव मानव समाज के निर्माण में सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व अर्थशास्त्रियों का ही प्रतीत होता है। सदैव ही अर्थशास्त्रियों की उपेक्षा की गयी है। आदर्श नैतिकतावादियों ने और आज के कोरे आदर्शवादियों ने इसकी उपेक्षा करके शाश्वत् समाज के निर्माण में, मैं समझता हूँ, विलम्ब ही नहीं किया है, अपितु अवरोधक बने हुए हैं।

विश्व के पूर्व और पश्चिम, प्राचीन एवं अर्वाचीन विचार के अंचलों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह कहीं नहीं प्रतीत होता कि अर्थ-वाणी बिना समाज-कल्याण को लिए हुए प्रस्फुटित हुई हो। वेद, उपनिषद्, ऐसे धर्मग्रंथों में भी—अन्न ब्रह्म है। जीवनदायिनी वस्तुएँ जैसे अन्न तथा इन वस्तुओं के उत्पादन स्रोत जैसे भूमि, वृक्ष आदि बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं होंगे; तथा :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।

आदि उद्घोषों से मानव कल्याण को ही प्रशस्त किया गया है। यहूदी, यूनानी, रोमन विचारधाराओं में चिन्तकों ने आर्थिक जीवन के कल्याणमय स्वरूप का ही निरूपण किया है। शुक्र-नीति के अनुसार—

श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तिर्हि शासनम्।
सुयुक्त्यार्थार्जनं यत्र अर्थशास्त्रं तदुच्यते॥

अर्थ-शास्त्र का यह स्वरूप हमारे सामने है। पूर्व और पश्चिम में अर्थशास्त्र को कल्याण-शास्त्र के रूप में ही देखा गया। आधुनिक अर्थशास्त्र का जो स्वरूप पश्चिम में पाया जाता है, उस स्वरूप में आर्थिक विचारधारा को कई भागों में हम विभाजित कर देते हैं। वाणिज्यवाद, प्रकृतिवाद, क्लासिकल पूंजीवाद, उपयोगितावाद, सीमान्तवाद, राष्ट्रीयवाद, समाजवाद, कल्याणवाद, विज्ञानवाद आदि वादों में हम अर्थशास्त्रियों को विभक्त करते हैं। मेरा यह विनम्र मत है कि ये समस्त आधुनिक अर्थशास्त्री केवल कल्याण अर्थशास्त्री हैं। इस दृष्टि में प्रकृति,

वनस्पति, खनिज, पशु-पक्षी तथा मनुष्य पर पूर्ण विचार करके उसे मनुष्य के लिए सुखदायक बनाने का प्रयास अर्थशास्त्रियों ने किया है। मानव इन सब साधनों का संयोजन करता हुआ अपने को कैसे सम्पन्न और सुखी बनाता रहे, यही प्रत्येक अर्थशास्त्री ने बड़ी तपस्या एवं तल्लीनता के साथ चिन्तन करके मानव समाज को आर्थिक विचार के रूप में दिया है। इसलिए उसे किसी वाद के अन्तर्गत न रखकर यह कहा जाना चाहिये कि वह इस भौतिक युग का मसीहा है, जो मनुष्य को सुखमय जीवन प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त करता है। जब मानव समाज विपन्न होता है तो उसके अनुकूल प्रकाश अर्थशास्त्री देता है, और जब समाज सम्पन्न होता है तो उसके अनुकूल विचार अर्थशास्त्री देता है। अनुकूलता का तात्पर्य यह है कि मनुष्य सम्पन्नता में किन सावधानियों को बरते ताकि वह अग्रसर होता चले और अकिंचनता में किन सावधानियों को ध्यान में रखे ताकि वह सम्पन्नता की ओर बढ़े, मनुष्य का विकास हो और सारी भौतिक शक्तियाँ विकासोन्मुख हों, उनमें कहीं कमजोरी न आने पाये। इसी का सजग प्रहरी बनकर अर्थशास्त्री सबको चेतावनी दे रहा है। इससे बढ़कर कल्याणकारी इस भौतिक जगत् के लिए और कौन हो सकता है!

अदम स्मिथ ने और उनके साथियों ने जब अर्थ-शास्त्र को सम्पत्ति शास्त्र कहा तो उसे राक्षस की वाणी, रोटी का शास्त्र, पतन का शास्त्र, सब कुछ कहा गया, परन्तु यह सब भ्रम मात्र है। वह युग विज्ञान का प्रथम चरण था। समाज दरिद्रता की चट्टान के नीचे पड़ा हुआ कराह रहा था। प्रकृति में सुपुप्त अक्षुण शक्ति थी, परन्तु ज्ञान और साधन की न्यूनता थी। मानव समाज को द्रुतगति से उत्पादन बढ़ाने की शक्ति प्रदान करनी थी। अधिकतम उत्पादन, अधिकतम सम्पत्ति का सृजन। इसलिए आवश्यक था कि मनुष्य, विशेष कर योरोप के मनुष्य जो प्राकृतिक प्रकोपों के शिकार थे, वे जी सकें। इसलिए उत्पादन पर अधिक बल दिया गया और सम्पत्ति पर बल दिया गया। यह सिद्धान्त न केवल योरोप के लिए था बल्कि सारे विश्व के लिए था और है। जितना ही अधिकतम उत्पादन होगा, जितनी ही अधिक सम्पत्ति होगी, उतना ही अधिक मानव समाज सुखी हो सकेगा। उत्पादन और सम्पत्ति को प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए। मानव कल्याण के लिए ही अदम स्मिथ और उनके विचार सहयोगियों ने इस प्रकार के अर्थशास्त्र के कल्याणकारी रूप को निर्मित किया। इसीलिए जहाँ भी उत्पादन में शोषण का दोष आया 'मिल' ने

गर्जना की और कहा 'यदि अधिकतम उत्पादन के लिए निजी सम्पत्ति का प्रयोग मनुष्य के शोषण के लिए होने लगे तो उसे राज्य को विना मुआवजे के हड़प लेना चाहिये।' यह कल्याण का सबसे बड़ा सन्देश है।

हेगेल और कान्ट दो दर्शनकारों ने एक नया जीवनदर्शन दिया। इसके फलस्वरूप दो विचारों के स्रोत सामने आये। इनमें आर्थिक उपयोगितावादी विचार और समाजवादी विचार आते हैं। उपयोगितावादियों ने सीमान्त उपयोगिता, सम सीमान्त उपयोगिता, पूर्ण उपयोगिता और आगे चलकर पैरेटो, हिक्स, कोल्डार आदि ने उच्चतम उपभोग सन्तुलन की व्याख्या के रूप में अर्थशास्त्र प्रस्तुत किया। इन सब अर्थशास्त्रियों ने मानव सुख की तथा कल्याण की अधिकतम पराकाष्ठा ही तो की है। इन्होंने केवल उत्पादन से ही सुख और समृद्धि का वर्धन नहीं स्वीकार किया है। इनके अनुसार इन सब वस्तुओं का उपभोग ही आनन्द और सुख का कारण है। अतएव किस प्रकार की वस्तुओं का, कितनी मात्रा में किस प्रकार उपभोग किया जाय कि मनुष्य को पूर्ण एवं सम सन्तुष्टि और सन्तुलित उपभोग प्राप्त हो सके। इससे स्पष्ट है कि उत्पादन का लक्ष्य उपभोग है। इसलिए उत्पादन की दिशा भी सन्तुलित उपभोग की ओर हो ताकि मनुष्य अत्यधिक आनन्द का अनुभव कर सके। इन समस्त अर्थशास्त्रियों ने कल्याण अर्थशास्त्र का ही सृजन किया।

समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने जिनमें सन्त साइमन, ओवेन, प्राउधन, राबर्टसन, लासाले, मार्क्स, क्रोपाटकिन आदि हैं, जब यह देखा कि मानव को विज्ञान ने उत्पादन की प्रचुर शक्ति प्रदान कर दी है, अत्यधिक उत्पादन हो भी रहा है, परन्तु सारे मानव समाज को विज्ञान का यह वरदान और प्रसाद नहीं प्राप्त हो रहा है तो उन्होंने सारे समाज के लिए उत्पादित वस्तुओं को सुलभ कराने का अर्थशास्त्र निर्मित किया। इस सम्पन्नता में जो विपन्नता का समावेश हो गया है जिसके कारण बहुत बड़े मानव समाज से उत्पीड़न के कारण एक हृदय विदारक करुण पूर्ण टीस निकल रही है, उसी को लेकर ऐसे वितरण प्रधान अर्थशास्त्र का इन मसीहों ने सन्देश दिया, जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज इस भौतिक सुख से वंचित न रह सके। इनके अर्थशास्त्र में पूर्ण मानव कल्याण का सन्देश है। इनके अर्थशास्त्र में उत्पादन के साथ-साथ सम-वितरण का पूर्ण समावेश है। इसका आधार भी कल्याण अर्थशास्त्र का ही है। इसी

प्रकार से अनेक अर्थशास्त्रियों ने युग की समस्याओं के समाधान हेतु ऐसे विचारों तथा सिद्धान्तों का निर्माण किया है कि व्यक्ति, राष्ट्र, समाज सब के सब समृद्धि और सुख की प्राप्ति कर सकें।

मार्शल और पीगू कल्याण अर्थशास्त्री के रूप में हमारे सामने आते हैं। यह नामकरण इसलिए है कि इन अर्थशास्त्रियों ने अपने विचारों में मानव कल्याण का बार-बार उल्लेख किया है और अर्थशास्त्र को मानव कल्याण शास्त्र माना है। इनके विचारों में वे सब विचार निहित हैं जो पहले के अर्थशास्त्रियों ने कहा है। हाँ, यह अवश्य है कि इनकी संज्ञा और इनके नामकरण में मार्शल और पीगू उनसे आगे हैं। कल्याण अर्थशास्त्र की विचार-धारा में इन लोगों ने उपभोग, उत्पादन विनिमय, वितरण और राजकीय अर्थशास्त्र का पूर्ण निरूपण मानव कल्याण को इंगित करते हुए और उसी को आदर्श मानते हुए किया है। निःसन्देह ये कल्याण अर्थशास्त्री ही हैं। परन्तु केवल इन्हें ही संज्ञा और प्रतिष्ठा प्रदान कर देना समस्त अर्थशास्त्रियों के प्रति अन्याय है।

यह युग विज्ञान और तकनीक का है। लोकशाही का उदय एक ओर, साम्यवाद का उदय दूसरी ओर, और विज्ञान व तकनीक की पेचीदगी तीसरी ओर, अर्थशास्त्रियों को नये रूप, नये दृष्टिकोण से चिन्तन करने के लिए बाध्य करते हैं। आज कई विचार धाराओं में अर्थशास्त्र बँट गया है—वैज्ञानिक विचार धारा, कीन्सीयन विचार धारा, संस्थावादी विचार धारा तथा सर्वोदय या मानवीय विचार धारा, इसके प्रमाण हैं। इन सब विचारों में अपने-अपने ढंग से समाज कल्याण का ही बीज है। कीन्स ने अर्थशास्त्र में अपना युग ही बना लिया है। इन्होंने उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण की, अपनी निज की शब्दावली से, नया सन्दर्भ और नया अर्थ एक नये मोड़ के लिए दिया है। इन सबके पारस्परिक सम्बन्धों को सन्तुलित स्वरूप में डालने का प्रयास किया है। अमीरी की वृद्धि के साथ उपभोग शक्ति की क्षीणता से विनियोग में असन्तुलन, बेकारी का सृजन करके, सन्तुलन की अर्थव्यवस्था जो सुख का कारण है उसे असन्तुलन में परिवर्तित करके दुःख की स्थिति में बदल जाना इत्यादि विचार कीन्स ने बड़ी निपुणता के साथ समाज के समक्ष रखा है। इसके निराकरण की विधि भी बतायी है। दुःख के सृजन को कैसे रोका जाय, पूर्ण उद्यम कैसे लाया जाय, व्यय, बचत तथा विनियोग

का क्या सम्बन्ध हो, व्याज तथा पूँजी का रूप क्या हो; यह सारा चित्र कीन्स ने प्रस्तुत किया। ऐसे विनियोग हो, ऐसी आय हो, इसका उचित वितरण हो, ताकि सबको क्रय-शक्ति प्राप्त हो सके। विनियोग द्वारा तथा क्रय द्वारा सबको पूर्ण रोजगार मिले, ताकि उत्पादन और आर्थिक वृद्धि के साथ मनुष्य उपभोग और उसका सुख निरन्तर अग्रसर होता रहे। जितना ही जरूरी उत्पादन के लिए विनियोग है उतना ही उपभोग भी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि केवल मौद्रिक आय ही नहीं, बल्कि उपभोग की वस्तुएँ और सेवाएँ, उनके प्रकार और मात्राएँ, समाज के लिए बहुत ही आवश्यक हैं। रोजगारी की समस्या को मूल में रखकर कीन्स ने अर्थशास्त्र को ऐसा मोड़ दिया है कि यह निर्विवाद हो जाता है कि कीन्स एक महान् सामाजिक कल्याण अर्थशास्त्री हैं।

वैज्ञानिक विचार धारा में विक्स्टेड, राबिन्स, राबिन्सन, लर्नर, लिटिल, सैमुअलसन, बोल्डिंग, ब्रेत्रुक, हण्टर, सिस्टोवस्की बाँमूल आदि ने युग के अनुकूल वैज्ञानिकता की पृष्ठ भूमि में अर्थशास्त्र को देखने का प्रयास किया है। अर्थशास्त्र को चयन शास्त्र इसलिए मान लिया है कि आज के मानव की असीमित आकाक्षाएँ एक ओर हैं और उनकी तृप्ति के सीमित साधन तथा पुरुषार्थ दूसरी तरफ। ऐसी जटिल स्थिति में कुछ को विवेक पूर्ण ढंग से प्राथमिकता और चयन की पद्धति अपना कर कल्याण की प्राप्ति करनी है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यहाँ अर्थशास्त्री निष्क्रय एवं निरपेक्ष उदासीनता का परिचय दे रहा है। आज का अर्थशास्त्री उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण के मान दण्ड को निर्धारित करके समाज को देता जा रहा है। वह अपने विचारों को मनुष्य पर थोप नहीं रहा है। लोकतांत्रिक पद्धति से उन सब गुणात्मक रश्मियों को, बिखेर रहा है, और साथ ही साथ मनुष्य को शिक्षा-दीक्षा के विनियोग से विवेकशील बनाने का तन्त्र भी देता जा रहा है। अर्थशास्त्र की पेचीदगी के स्वरूप को सरल बनाकर मनुष्य के उपभोग के लिए देता जा रहा है। इसमें दो मत नहीं हैं कि आज का अर्थशास्त्री उन आर्थिक क्रियाओं की पेचीदगी को शास्त्रीय अध्ययन के लिए फारमूलों में बाँध रहा है और मार्शल की सरल समाज सुलभ पद्धति से दूर होता जा रहा है, परन्तु वह इसे सिद्धान्तों तथा नियम द्वारा सरल भी बना रहा है। इसका एक मात्र उद्देश्य अर्थशास्त्र की व्यापकता का अनुभव कराना है। उपभोग सन्तुलन, उत्पादन सन्तुलन, विनिमय सन्तुलन,

वितरण सन्तुलन के वर्तमान सिद्धान्त एक ऐसे सन्तुलित समाज की सृष्टि कर रहे हैं जिसमें आय की, उद्यम की, उत्पादन और उपभोग की कोई ऐसी समस्या न रह जाय जो सामाजिक समता, सामाजिक न्याय एवं सामाजिक सुरक्षा ऐसे उद्देश्यों के मार्ग में बाधक हों। यह कल्याणकारी अर्थशास्त्र की ही दृष्टि है।

आज का अर्थशास्त्री राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक पद्धतियों और प्राविधिक स्वरूपों से पूर्ण परिचित होकर मानव-समाज को ऐसे स्थल पर ले जाना चाहता है, जहाँ शाश्वत् मानवीय मूल्यों की प्राण प्रतिष्ठा हो। पूँजीवादी एवं साम्यवादी पद्धतियों से ऊब कर एक नये विकल्प के चिन्तन में हैं। इसी स्थल पर ऐसा अनुभव होता है कि सामाजिक तन्त्र एवं आर्थिक यन्त्र को एक दूसरे के अनुकूल समेटने और बनाने की क्षमता अब राजशास्त्रियों, वैज्ञानिकों और समाज शास्त्रियों में नहीं रह गयी है। इसके लिए पूर्ण सक्षम अब वही अर्थशास्त्री हैं जो इस विश्वास के साथ चलने वाले हों कि मनुष्य को सम्मान पूर्वक रोटी भी चाहिये। यह युग अब उनका नहीं है जो यह कहते हैं कि "मनुष्य रोटी के लिए नहीं जीता या मनुष्य केवल रोटी के लिए ही जीता है।" इसलिए नये अर्थशास्त्रियों का प्रादुर्भाव हो रहा है जो उस समाज की समस्याओं से भी चिन्तित हैं, जो समाज असंख्य विलासमय सम्पन्नता की आवश्यकताओं से पूर्ण हैं, जैसा प्रो० गेलब्रेथ ने अपनी पुस्तक 'एफ्लुएण्ट सोसाइटी' में लिखा है। इस समाज को विवेक, कर्त्तव्य परायणता, सामाजिक मर्यादाओं या उन सब मूल्यों को जो प्राचीन भारतीय वाङ्मय में निर्दिष्ट हैं, देना है। यह समाज धन-धान्य की विपुलता से ऐसा प्रतीत होता है कि मानवीय मूल्य में अवरोधक सिद्ध हो रहा है। दूसरी ओर दरिद्र साधन-विहीन असमर्थ अज्ञानी व्यक्तियों का बहुत बड़ा समाज है, जो बुभुक्षितः किं न करोति पापम्, से त्रस्त है, ऐसी स्थिति में अर्थ-शास्त्री मानव समाज को एक-रस बनाने के प्रयत्न में हैं। मानव समाज में यह विभाजन बड़ा भयावह है। उन सब भौतिक कारणों को चाहे वह सामाजिक पद्धति के हों, चाहे वैज्ञानिक प्राविधिक कारणों के हों, समेटना और उन दोषों का निराकरण आज के अर्थशास्त्रियों का लक्ष्य बन रहा है। इसलिए उन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जा रहा है, परन्तु उनका एकमात्र उद्देश्य मानव कल्याण है। उन्हें सर्वोदयी, मानवीय अर्थशास्त्री कहा जाता है।

इस प्रकार के कल्याणमय समाज का सृजन नियोजित ढंग से करने की पद्धति विकसित हो गयी है। अर्थशास्त्री की पैनी दृष्टि और उसकी विचार शक्ति का प्रयोग जिस समाज में पूर्ण रूपेण होता है, वह समाज तीव्रता से आगे बढ़ता है। इसका प्रमाण जर्मनी, रूस आदि की आर्थिक योजनाएँ हैं। आज विश्व योजना के युग में है। उसमें अर्थशास्त्री, सामाजिक तन्त्र वैज्ञानिक यन्त्र का ऐसा ताना बाना कस रहा है ताकि समस्त मानव समाज सुखी हो सके। प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह विकसित, चाहे अविकसित, चाहे पिछड़ी अर्थव्यवस्था के देश में रहता हो, स्वस्थकारी भर पेट अन्न, तन भर वस्त्र, पर्याप्त आवास, पूर्ण शिक्षा-दीक्षा, आवश्यक औषधि, आनन्ददायक मनोरञ्जन इस प्रकार प्राप्त हो सके कि उसका शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सन्तुलन बना रहे। वेद, उपनिषद् शुक्रनीति, कौटिल्य, प्लेटो, आरेस्टाटल, एडम स्मिथ, मिल, मार्शल पीगू, कीन्स, हिक्स, मार्क्स, गांधी, मेहता आदि ने इसी पर अपने-अपने ढंग से बल दिया है। आज के तथा पहले के समस्त अर्थशास्त्रियों ने भौतिक जगत् में अवतरित इस मनुष्य को सुखी बनाने का प्रयास किया है। हमें इस बात से भी सावधान रहना चाहिये कि यदि अर्थशास्त्री ने कोई भूल की तो उसका महान् दुष्परिणाम होगा। मैं यह नहीं समझता कि अर्थशास्त्री अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर इस प्रकार का अनिष्टकारी कार्य करेगा, जिससे समाज का स्वरूप ही भ्रष्ट हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो अर्थशास्त्री की ईमानदारी के लिए चुनौती होगी। भौतिक जगत् के इस मसीहा को सदैव प्रत्येक मानव के सुख की व्यवस्था करनी चाहिये, यही नहीं अपितु प्राकृतिक भौतिक साधनों, पशु-पक्षियों, सबकी पूर्णता और अक्षुण्णता को ध्यान में रखकर आगे बढ़ना चाहिये। यदि अर्थशास्त्री सबके दर्द का अनुभव नहीं करता या अपना उससे तादात्म नहीं करता तो निश्चित ही उसका सन्देश और सुझाव दोषमय होगा और कल्याण के स्थान पर अकल्याणकारी होगा। अतएव अर्थशास्त्री के चिन्तन का केन्द्र मनुष्य और मानवीय मूल्य हो। यह सबके उदय की अर्थ-नीति हो तभी अर्थशास्त्र अपने सामाजिक कल्याण के सर्वाङ्गीण स्वरूप को सुरक्षित रख सकेगा। आहार, विहार, निद्रा तथा अर्जन, मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी प्राणियों के लिए एक-सा ही है। परन्तु आवश्यकता प्रधान प्रकृति है, उपभोग प्रधान विकृति है तथा संयम प्रधान संस्कृति है। अर्थशास्त्री इस तथ्य का विश्लेषण

करता आया है और आगे भी करता रहेगा। हाँ, हमारे पर्यवेक्षण, चिन्तन तथा हमारी समझ का दृष्टिकोण इसमें भिन्नता का अनुभव परिस्थितिवश करता रहेगा। स्थान, समय तथा काल से बाध्य होकर अर्थशास्त्री की वाणी में संकुचित भाव अवश्य आ सकता है परन्तु वह भी कल्याण प्रधान ही रहेगा। इसीलिए अर्थशास्त्र लोक कल्याण शास्त्र ही है। लोक-कल्याण ही अर्थशास्त्री के जीवन का लक्ष्य है।

चतुर्थ-परिच्छेद

गाँधी जी एवं अन्य अर्थशास्त्री

साधारणतया यह सवाल उठाया जाता है कि क्या गांधी जी अर्थशास्त्री थे ? क्या गांधी जी की गणना आर्थिक विचारों के इतिहास की परम्परा में की जा सकती हैं ? ये कुछ प्रश्न साधारण रूप से उठ खड़े होते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ते समय हमें आर्थिक विचारों के इतिहास की परम्परा का ध्यान करना चाहिए। ध्यान ही नहीं, हमें इस आर्थिक परम्परा में ऐसे विचारकों की खोज करनी चाहिए जिनके विचार गांधी जी के विचारों से मिलते हों। ऐसे विचारकों की कमी नहीं है जिसमें कि गांधी जी के विचारों का पूर्वाभास होता हो। प्राचीन काल से आजतक की इस लम्बी विचार की परम्परा में हमेशा एकमत ऐसा रहा है जिसके विचार गांधी विचारधारा से मेल खाता है। इस परम्परा की न तो हम उपेक्षा ही कर सकते और न भुला ही सकते हैं। हर युग में इस परम्परा का प्रभाव रहा है और हमेशा वह समाज का मार्गदर्शन करता रहा है।

इस आर्थिक विचारधारा का सबसे प्राचीन स्रोत भारतीय संस्कृति है। यजुर्वेद में कहा गया है 'यह सारा जगत ईश्वर से आच्छादित है।' भारतीय परम्परा में मूल बात यह रही है कि धन-सम्पत्ति तथा अन्य भौतिक पदार्थ जीवन का लक्ष्य नहीं है; जीवन का लक्ष्य है—ईश्वर और मोक्ष। भारत के प्राचीन युगीन आर्थिक इतिहास में हमें मुख्यतः ये तथ्य प्राप्त होते है :—

(१) धर्म परायणता पर बल।

(२) आर्थिक सम्पन्नता— अन्न, वस्त्र तथा जीवन की अन्य अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रचुर साधन।

(३) जाति व्यवस्था का विकास—विभिन्न व्यवसायों का उदय, विभिन्न जातियों द्वारा समाज सेवा की व्यापक व्यवस्था; दास प्रथा—उसके गुण-दोषों का प्रसार।

(४) राज्य-व्यवस्था का विकास—प्रशासन, न्याय तथा राजस्व-व्यवस्था के नियमों का विकास।

(५) कृषि का विकास—कृषि को सर्वाधिक प्रमुखता प्रदान करना।

(६) उद्योग व्यापार का विकास - वजन, तौल, मिलावट, एकाधिकार नियमों का विकास।

(७) सम्पत्ति और धन का प्राचुर्य—ऋण, व्याज, दान, व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों का विकास।

उपनिषद्, शुक्रनीति, गीता तथा वेद सभी ग्रन्थों में मानव जीवन के भौतिक उपकरणों का उल्लेख पाया जाता है। बहुत ही उच्च विचार प्रस्तुत किए गये हैं। उत्तम आवश्यकताओं पर पूर्ण विचार हुआ है। भौतिक जीवन को पूर्ण मर्यादित आचार संहिता प्रदान की गयी है।

चाणक्य ने ही नहीं वलिक सभी कवियों ने भूमि, अन्न, गोमाता, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, औषधि, मनोरंजन, कर आदि का विवरण देकर सुखमय जीवन की कल्पना की है। महात्मा गांधी जी ने उसी भूमि में अपने विचारों का सम्वर्धन किया है। 'करते हुए कर्म इस संसार में शत् वर्ष का जीवन हमारा इष्ट हो। वह तू भोगता जा जो तुझे प्राप्त है, कर न तू दूसरे के धन की कामना' का वचन भी है।

चाणक्य के ये वाक्य—

(१) राजा को कर पके हुए फल के समान ग्रहण करना चाहिए।

(२) यस्मिन् देशे न सन्मानो, न वृत्तिर्न च वान्धवाः
न च विद्यागमोऽप्यस्ति वासं तत्र न कारयेत्।

(२) राज्य में कोई भूखा न मरे।

शुक्राचार्य ने कहा है—

(१) भृत्यस्य एव सुश्लोको नापत्तौ स्वामिनं त्यजेत्।
स्वामी स एव विज्ञेयो भृत्यार्थे जीवितं त्यजेत्।

(२) भृतिदानेन सन्तुष्टा मानेन परिवर्धिताः।
सांत्विता मृदुवाचा ये न त्यजंत्यधिपं हिते॥

अन्न के सम्बन्ध में तैत्तरीयोपनिषद् तथा गीता के कुछ उद्धरण इस प्रकार दिये गये हैं :—

तैत्तिरीयोपनिषद्

ब्रह्मानन्दवल्ली—द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवी ँ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्न ँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वैषिधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्न ँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वैषिधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यति इति।

भावार्थ—पृथ्वी लोक का आश्रय लेकर रहने वाले जो कोई भी प्राणी हैं (वे सब) अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, फिर अन्न से ही जीते हैं, तथा पुनः; अन्त में, इस अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अतः अन्न ही सब भूतों में श्रेष्ठ है। इसलिए यह सर्वौषिधरूप कहलाता है। जो साधक अन्न ब्रह्म है (इस भाव) (उसकी) उपासना करते हैं वे अवश्य ही समस्त अन्न को प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि अन्न ही भूतों में श्रेष्ठ है। इसलिए (यह) सर्वौषधि नाम से कहा जाता है। अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से ही बढ़ते हैं। वह (प्राणियों द्वारा) खाया जाता है, तथा (स्वयं भी) प्राणियों को खाता है। इसलिये 'अन्न' इस नाम से कहा जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद्—

भृगुवल्ली— द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार।

अर्थ—अन्न ब्रह्म है इस प्रकार जाना, क्योंकि सचमुच अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से ही जीते हैं (और) (अन्त में यहां से) प्रयाण करते हुए अन्न में ही प्रविष्ट होते हैं।

सप्तम अनुवाक

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदे तदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। सय एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अर्थ—अन्न की निन्दा न करें। वह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर (उस प्राणरूप अन्न से जीने के कारण) अन्न का भोक्ता है। शरीर प्राण के आधार पर स्थित है और शरीर के आधार पर प्राण। इस तरह यह अन्न अन्न में ही स्थित हो रहा है। जो मनुष्य इस रहस्य को जानता है वह उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है और प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो कर महान् बन जाता है, तथा कीर्ति से सम्पन्न होकर भी महान् हो जाता है।

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।

अर्थ—अन्न की अवहेलना न करें। वह एक व्रत है। जल ही अन्न है (और) तेज (रसस्वरूप) अन्न का भोक्ता है। जल में तेज प्रतिष्ठित है। तेज में जल प्रतिष्ठित है और वही यह अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस रहस्य को भलीभांति समझता है वह उस रहस्य में परिनिष्ठित हो जाता है। अन्न वाला अन्न को खाने वाला हो जाता है। वह सन्तान से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से महान् बन जाता है तथा कीर्ति से भी समृद्ध हो कर महान् बन जाता है।

नवम अनुवाक

अन्नं बहुकुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। अकाशो अन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। सय एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्यभवति प्रजया पशुभिब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अर्थ—अन्न को बढ़ाये। वह एक व्रत है। पृथिवी ही अन्न है। आकाश पृथिवीरूप अन्न का आधार होने से (मानो) अन्नाद है। पृथिवी में आकास प्रतिष्ठित है। आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। वही अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस रहस्य को भली-भाँति जान लेता है वह उस विषय में प्रतिष्ठित हो जाता है। अन्नवाला अन्न को

खाने वाला हो जाता है। वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से महान् बन जाता है, वह कीर्ति से भी महान् बन जाता है।

इसी प्रकार गीता के तीसरे अध्याय में कहा गया है कि :—

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते है, वे तो पाप को खाते हैं।

क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और यह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होनेवाला है।

महात्मा गांधीजी इसीलिए अन्न को ब्रह्म मानकर बाजार से अलग रखना चाहते हैं। यह क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं हो सकता।

यह है संक्षेप में प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र की परंपरा। परन्तु भारत ही नहीं पश्चिम में भी प्राचीन विचारधारा नीति एवं धर्म पर ही आधारित थी। प्राचीन यहूदी विचारधारा में विषमता का विरोध किया गया। यह माना गया कि भूमि क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं हो सकती। भूमि भगवान की देन है और मनुष्य भगवान का पुत्र होने के कारण भूमि का उपयोग का अधिकारी है। प्राचीन पाश्चात्य विचारधारा में भी कृषि पर सर्वाधिक जोर दिया गया है। पुरातन यहूदी समाज में कृषि से ही समाज व्यवस्था का उदय होता है। प्रारम्भ में मनुष्य प्रकृति के अति समीप था। अतः मालिक-मजदूर, ऊँच-नीच का झगड़ा नहीं था।

प्रारम्भिक अवस्था में हमारे यहाँ नैतिक भूमिका पर व्याज का निषेध मिलता है। परन्तु बाद में व्याज की परम्परा चली। फिर भी उसमें नैतिकता एवं मानवता का पूरा समावेश रहा। वशिष्ठ ने ऐसी व्यवस्था दी है कि जो व्यक्ति व्याज न चुका सके वह ऋण दाता के लिए शारीरिक श्रम करके उसे पटा दे। यहूदी धर्मग्रन्थों में ऋण देकर उस पर व्याज लेने का तीव्र विरोध देखने को मिलता है।

अरस्तु ने श्रमविभाजन की विचारधारा का श्रीगणेश किया। उसने कहा कि परस्पर सहयोग से ही मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

प्राचीन काल में जिस प्रकार की समाज व्यवस्था प्रचलित थी उसका आधार था धर्म। आवश्यकतायें सीमित थी, परन्तु जीवन में अकिंचिनता न थी, प्रचुरता थी। गांधी जी ने भी कहा है कि मनुष्य को बुद्धि पूर्वक

आवश्यकताओं को कम करना चाहिए तभी वह सुखी एवं सन्तुष्ट रह सकता है। प्राचीन अर्थव्यवस्था का आधार गांव था। विकेन्द्रित गांव अपने में पूर्ण या अंशतया स्वावलम्बी था। जीवन सादा एवं सुखी था। यानि सारा आर्थिक जीवन वर्णाश्रम धर्म से संचालित होता था।

वणिकवाद

इस मानव इतिहास को क्षेत्र के दृष्टि से दो भागों में बांट सकते हैं एक प्राचीन विकसित विचार धारा जिसमें-भारतीय सभ्यता, संस्कृति, चीन, रोम एवं अन्य प्राचीन देश आते हैं। दूसरे नव विकसित सभ्यता जिसका विकास औद्योगीकरण के साथ-साथ हुआ। जिस काल में वणिकवादी विचारधारा का विकास हुआ उस समय प्राचीन भारतीय एवं अन्य प्राचीन विकसित विचारधारायें अपने विकास का चरमोत्कर्ष की स्थिति पार कर चुकी थी। नवीन खोजों एवं नयी-नयी परिस्थितियों के कारण विचारों में भी नया मोड़ आया और अब पश्चमी विचारधारा अपना प्रभाव जमाने लगी। जब हम आर्थिक विचार के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो भौतिकता से ओत-प्रोत नैतिकता एवं मानवता से कुछ दूर हटती हुई सबसे पहले वणिकवादी विचारधारा मिलती है। हम कह सकते हैं व्यापार-बहुल सिद्धान्तों का नाम है – वणिकवाद।

वणिकवादी विचारधारा में व्यापार पर सर्वाधिक जोर दिया गया और कहा गया कि सोना से राष्ट्र धनी होता और राष्ट्र धनी होने से हम सुखी होंगे इसलिए जैसे हो अधिक धन जमा करने की युक्ति लगानी चाहिए। यह विचारधारा राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत थी। इस विचारधारा में दूसरे राष्ट्र के हित साधन की बात भले न सोची गयी हो परन्तु अपने राष्ट्र में प्रत्येक मानव को पूर्ण एवं समान सुख-सुविधा मिले इसका पूरा ध्यान रखा गया था। इस विचार में कहा गया—धरती भूमि पर उपभोग की वस्तुएँ उगायी जायँ। विलासिता की वस्तुओं का उपयोग बन्द किया जाय। अपने पड़ोसियों की आवश्यकता का पता लगाया जाय। व्यापार पर अधिक जोर दिया गया।

अन्त में हम कह सकते हैं कि वणिकवाद स्वदेशी की भावना पर आधारित था, पर यह स्वदेशी गांधी जी के स्वदेशी से भिन्न था। गांधी जी स्वदेशी में विदेशी की हानि या अवसर से लाभ लेने की बात

नहीं करते थे पर वणिकवादी धन, सम्पत्ति के प्यासे थे। यहीं से व्यापारिक जीवन का विकास प्रारम्भ हुआ।

प्रकृतिवाद

आधुनिक अर्थशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि वैज्ञानिक रूप में अर्थशास्त्र का उद्‌भव प्रकृतिवाद से ही होता है। फिजियोक्रेसी शब्द यूनानी भाषा का है। वह 'फिजियस' और 'क्रेटस' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। उसका अर्थ है—प्रकृति का शासन। वे मानते कि यदि मनुष्य अपने सर्वोच्च कल्याण का इच्छुक है, तो उसे प्राकृतिक नियमों का पालन करना चाहिए। प्रकृतिवाद के पूर्व की विचारधारा वणिकवाद की वही गति हुई जो दौड़ कर चलने वाले की होती है—वह औंधे मुह गिरा। किसानों की उपेक्षा की गयी थी फलस्वरूप उत्पादन घटा एवं कच्चे माल की कमी हो गयी। सारा समाज आर्थिक एवं उपभोग पदार्थों की तंगी से परेशान हो गया।

प्रकृतिवादी विचारक केने ने कृषि पर सर्वाधिक जोर दिया और उसने प्रसिद्ध आर्थिक सारणी का निर्माण किया। वह डाक्टर था—अतः विषय प्रतिपादन खोज पूर्ण ढंग से किया। शायद यह लोकोक्ति भी केने की ही है कि किसान गरीब तो राज्य गरीब और राज्य गरीब तो राजा गरीब। कृषि के विस्तार को अधिकतम अवसर प्रदान करने के लिए केने ने उद्योग और व्यापार में अधिक स्वातंत्र्य की माँग की है।

प्राकृतिक नियम प्रकृति-वादियों का केन्द्र विन्दु है। प्राकृतिक नियम का अर्थ है कि जिस प्रकार ईश्वरीय आदेश के अनुसार प्राकृतिक व्यवस्था विधिवत् चलती रहती है, उसी नियम के अनुसार आदर्श सामाजिक व्यवस्था का परिचालन होता है। मानवीय नियम बनावटी हैं और यह जितना ही बढ़ता उतना ही मनुष्य को कष्ट होता है। ईश्वर ने प्राकृतिक नियम की रचना की और हमारा कर्त्तव्य है कि उसी के अनुसार जीवन व्यतीत करें। इस नियम का ज्ञान मनुष्य को गहन चिंतन तथा आत्मविश्लेषण के द्वारा हो सकता है। इसे समझने के लिए मनुष्य को अपने अंतर में झाँकना होगा। प्रकृति नियम शास्वत है, अक्षय है, पूर्ण है। प्रकृतिवादी उसे ही उत्तम मानते हैं, जिसमें खर्च तो कम से कम हो और आनन्द अधिक से अधिक मिले।

प्रकृति वादियों ने उत्पादन में आधिक्य का विचार रक्खा। व्यय को नये धन की उत्पत्ति में से घटा देने पर जो बचत रहती है, वह नयी उत्पत्ति है। यह नयी बचत ही उत्पत्ति आधिक्य है। उनकी धारणा है कि यह 'उत्पत्ति आधिक्य, एकमात्र कृषि में ही होता है, अन्य किसी कार्य या व्यापार में नहीं। यह बचत ही सारी आर्थिक व्यवस्था की जननी है। सारे समाज का उसी से पोषण होता है। प्रकृति की कृपा की वृष्टि केवल कृषि पर होती है। उत्पादक धन्धा तो एकमात्र कृषि है, शेष सभी धन्धे अनुत्पादक हैं, अनुर्वर हैं, वंध्य हैं। तरगो के अनुसार 'कारीगर और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादक कृषकों के टट्टू हैं।' क्योंकि जो कुछ आय होती है, उसका मूल श्रोत कृषि ही है। केने के शब्दों में 'वाणिज्य कृषि का ही एक अंग है। उद्योग और वाणिज्य अपना लाभ कृषकों को लौटा देते हैं और कृषि नये धन की उत्पत्ति करती है, जिसका प्रतिवर्ष व्यय एवं उपभोग होता है।'

धन के वितरण की सारणी उपस्थित करते हुए केने ने समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया। उत्पादक वर्ग, संपत्तिशाली वर्ग, और अनुत्पादक वर्ग। प्रकृतिवादी व्यापार को अनुत्पादक मानते और कहते कि वह दूसरों की संपत्ति को हड़पने के लिए ही अपनी योग्यता का उपयोग करता है। एक से लेकर दूसरे को देने का ही काम व्यापारी करता और बीच में लाभ कमाता है। प्रकृतिवादियों की दृष्टि में व्यापार पूर्णतया निरर्थक है। इस व्यापार को समाप्त करने के लिए वे मानते कि यदि उन पर से नियन्त्रण हटा लिया जाय तो वे स्वयं समाप्त हो जाते हैं।

प्रकृतिवादी मानव निर्मित नियमों के विरुद्ध थे अतः वे राज्य के कार्यों को काफी मर्यादित रखना चाहते थे। राज्य प्राकृतिक संस्थाओं में हस्तक्षेप न करे। प्राकृतिक नियम का उलंघन करने पर राज्य दण्ड दे। जनता को प्राकृतिक नियम की शिक्षा दे। कृषि उत्पादन बढ़ाने में सहयोग करे। ये कुछ कार्य राज्य के हो सकते ऐसा वे मानते थे। प्रकृतिवादी प्रत्यक्ष एक—कर प्रणाली के पक्षपाती थे। चूंकि केवल कृषि में ही उत्पत्ति आधिक्य होती अतः केवल कृषि पर ही कर लगे।

प्रकृतिवादियों की दृष्टि से इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन है—आध्यात्म। आधुनिक दृष्टि से 'प्राकृतिक नियम' की धारणा भले ही अस्पष्ट एवं निरर्थक हो पर जिस समय उसका उदय एवं विस्तार हुआ यह

सबसे प्रभावशाली विचार था। स्मिथ तथा अन्य परवर्ती अर्थशास्त्रियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। व्यावहारिक दृष्टि से 'प्राकृतिक नियम' में व्यक्ति एवं संस्थाओं की स्वतंत्रता की भावना पर जोर दिया गया। अतः हम कह सकते कि प्रकृतिवादी विचारधारा का आधार था—ज्ञान और अध्यात्म। उसकी आर्थिक व्यवस्था का मूल श्रोत था कृषि की अर्थ व्यवस्था। जब हम गांधी जी की अर्थनीति का अध्ययन करते हैं तो उसमें प्रकृतिवादियों के विचारों का समावेश पाते हैं। अंतर केवल यही है कि गांधी जी ने अर्थनीति को सत्य और अहिंसा के पलरे पर रख कर आँका है, करूणा मूलक सिद्धान्त होने के कारण मानवीय दृष्टि गांधी जी के अर्थनीति का केन्द्र है। प्रकृतिवादियों ने वणिक वाद की प्रतिक्रिया के रूप में यह विचार रखा है पर गांधी जी ने सत्य और अहिंसा का आधार लेकर ग्रामस्वराज्य की जो कल्पना की है उसमें प्राकृतिक वातावरण, प्राकृतिक नियम व कृषि को ही मूलाधार माना है। इस प्रकार से गांधी जी ने प्रकृतिवादियों के विचार को पूर्ण बनाया।

अदम स्मिथ

"श्रम ही सम्पत्ति का साधन है, धातु या कृषि नहीं।"

—स्मिथ

अदम स्मिथ (सन् १७२३–१७६०) को अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। जिस रचना से अदम स्मिथ ख्याति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा उसका नाम है, 'एन इनक्वायरी इन्टू दि नेचर एण्ड काजेज ऑफ दि वेल्थ आफ नेशन्स'। स्मिथ ने श्रम को सर्वाधिक महत्व दिया। उनकी पुस्तक का प्रारम्भ ही इस वाक्य से है, 'वार्षिक श्रम ही किसी राष्ट्र का वह कोष है, जिसके द्वारा मूलतः जीवन की समस्त आवश्यकताओं तथा सुख सुविधाओं की पूर्ति होती है, जिसका कि वह वर्ष भर उपभोग करता है और जिसमें सदैव उसी श्रम की तात्कालिक उत्पत्ति तथा अन्य राष्ट्रों से उसके विनिमय द्वारा खरीदी गयी सामग्री भी सम्मिलित रहती हैं'। स्मिथ मानते कि किसी भी वस्तु का उत्पादन बिना श्रम के नहीं होता। उत्पादन से स्मिथ का तात्पर्य है—श्रम द्वारा उत्पन्न वस्तु के विनिमयगत मूल्य में जो वृद्धि होती है, वह उत्पादन है। वास्तव में श्रम की महत्ता अदम स्मिथ ने ही प्रदान की। श्रमिक ही सारे समाज को पोषण देता है।

स्मिथ ने श्रम की महत्ता प्रदान की और उत्पादन में श्रम को सर्वप्रमुख स्थान दिया जिससे कि मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी। प्रत्येक मनुष्य श्रम करता—वह चाहे शारीरिक हो या मानसिक। परन्तु वास्तव में उत्पादन का काम तो शारीरिक श्रम से ही होता है। इस श्रम की महत्ता का विकास क्रमशः हुआ। आज गाँधी जी ने श्रम को सबसे विकसित रूप प्रदान किया है। इन्होंने कहा कि श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता है। श्रम मानव की एक सांस्कृतिक आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्य की कला विकसित होने में, जीवन को संचालित होने में, पोषण मिलने में श्रम स्वाभाविक जीवन में आता है, और इस श्रम से ही जीवन के हर पहलू का विकास होता है।

अदम स्मिथ ने श्रम के साथ-साथ श्रमविभाजन की भी बात की। इस जटिल समाज में कोई भी काम आपसी सहयोग से ही किया जा सकता है। हर आदमी हर काम नहीं कर सकता है। इसलिए जिस व्यक्ति को जिस काम में रुचि हो, जिस काम के वह योग्य हो उसे करे। काम का बँटवारा योग्यता एवं रुचि के अनुसार किया जाना चाहिए। इसके कई लाभ बताये जाते जैसे कार्य में निपुणता, उत्पादन में वृद्धि आविष्कार की सूझ आदि प्रमुख है। परन्तु यह श्रम विभाजन जीवन का अंग होगा और इससे श्रमिक के जीवन का सांस्कृतिक विकास होगा। अदम स्मिथ ने समाज के विभिन्न वर्गों का विभाजन नहीं किया। श्रमिक नीच एवं ऊँचे हैं ऐसी विचारधारा स्मिथ की नहीं है। बल्कि स्मिथ ने तो श्रम को सबसे उच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

स्मिथ ने स्वाभाविकतावाद एवं आशावाद का भी विचार रखा। वे मानते हैं कि मनुष्य में स्वभावतः लाभ की भावना रहती है। इस लाभ के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। ये क्रियायें स्वाभाविक रूप से होती और इनसे जो संस्थायें बनती है, वह भी स्वाभाविक हैं समाज की आर्थिक या सामाजिक संस्थायें किसी योजना बद्ध निर्माण का परिणाम नहीं हैं यह तो मानवीय क्रियाओं का स्वाभाविक परिणाम है। हम कह सकते कि स्मिथ के अनुसार परिवार, जाति व्यावसायिक ढाँचा ये सब स्वाभाविक रूप से ही निर्मित हुई है। स्मिथ की धारणा है कि स्वाभाविकवाद और आशावाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनमें भेद नहीं किया जा सकता है। वे मानते हैं कि जो वस्तु स्वाभाविक है, वह समाज के लिए हितकर भी होगी ही। प्रकृतिवादियों की

भाँति स्मिथ की भी ऐसी धारणा है कि प्रकृति के अनुकूल संगठित व्यवस्था या नियम ही मानव के लिए हितकर है। मानव निर्मित नियम कृत्रिम हैं। प्रकृति के अनुकूल स्वाभाविक रूप से चलने में ही मानव का कल्याण है।

स्मिथ के अनुसार लगान, व्याज अनुचित है। वे कहते हैं कि भू-स्वामी तथा पूँजीपति ने जहाँ पर बीज नहीं बोया है, वहाँ फसल काटना वे पसन्द करते हैं। उससे स्पष्ट है कि अदम स्मिथ ने ऐसे लोगों का विरोध किया जो केवल बैठ कर खाते, दलाली करते एवं अनुत्पादक ढंग से खाते हैं। ये ही समाज का शोषण करते हैं। स्मिथ स्वतंत्र विचारधारा के पोषक थे। वे स्वतंत्र व्यापार के भी पक्षपाती थे। पर इतना तो स्पष्ट है कि स्मिथ बैठ कर खाने वालों का एवं पूँजीवाद में जो हुजूर वर्ग का निर्माण हुआ है, उसके विरोधी थे। उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा दी यानि सब श्रम करें और प्रकृति के समीप रह कर जीवन व्यतीत करें।

गांधी जी ने अदम स्मिथ के प्राकृतिक मूल्य, स्वाभाविक नियम का प्रतिपादन अपने ढंग से किया है। श्रम की प्रतिष्ठा और श्रम की पूजा गांधी जी ने नये ढंग से रखा है। जितनी गहराई से गांधी जी ने उन सब सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उतनी गहराई से अदम स्मिथ ने चिंतन नहीं किया है। इसका कारण यह है कि अदम स्मिथ ने केवल वस्तु पक्ष को ही प्रधानता दी है। परन्तु गांधी जी ने आत्मपक्ष और वस्तु पक्ष दोनों का समन्वय किया।

माल्थस

जनसंख्या और उसकी समस्या अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। उसके विस्तार एवं नियमन के लिए समय समय पर अनेक प्रकार के प्रयत्न होते आ रहे हैं। परन्तु आधुनिक युग में जिस व्यक्ति ने सबसे पहले जोरदार शब्दों में इस समस्या को लाकर विश्व के सामने रखा, उसका नाम है—माल्थस। यह उसकी महान देन है। कहा जाता कि मनुष्य में 'काम' की शक्ति सबसे प्रबल होती है। माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि को बहुत ही भयावह दृष्टि से देखा और कहा कि यदि जनसंख्या की वृद्धि पर रोक नहीं लगायी गयी तो मानव को अपार कष्ट

सहना पड़ेगा। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि माल्थस ने हमेशा नैतिकता एवं धर्म को ही अपने विचार का संबल बनाया।

माल्थस मानते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितीय या गुणात्मक क्रम में होती है, जब कि खाद्यान्न की पूर्ति समानांतर क्रम में हुआ करती है। माल्थस के अनुसार जनसंख्या १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८ के क्रम में बढ़ती है। परन्तु उत्पादन की वृद्धि समानांतर यानि १, २, ३, ४, ५ की गति से। प्रत्येक देश की जनसंख्या इतनी तीव्रता से बढ़ती है कि २५ वर्ष में वह दुगुनी हो जाती है। वे कहते कि २२५ वर्षों में जनसंख्या में जहाँ २५६ गुनी वृद्धि होती, वहाँ खाद्यान्न की पूर्ति केवल ८ गुनी होगी। यह है माल्थस का हिसाब। खाद्यान्न पूर्ति के इस अभाव का स्वाभाविक परिणाम है—देश में भुखमरी, बेकारी और बीमारी की वृद्धि। पर शायद यह चित्रण अतिशयोक्ति है। पर इतना तो स्पष्ट ही है कि जनसंख्या की वृद्धि उत्पादन के अनुपात में अधिक तेज है। परन्तु इधर के वर्षों में विज्ञान के विकास के कारण उत्पादन बढ़ा है। पर फिर भी जनसंख्या आज एक समस्या के रूप में उपस्थित है विशेषकर भारत में। अब सवाल उठता कि इस जनसंख्या की वृद्धि को कैसे रोका जाय ?

माल्थस कहते हैं कि जिस व्यक्ति के माता पिता उसे पर्याप्त भोजन देने से इनकार करते हैं और समाज जिसे समुचित कार्य नहीं देता, उसे जीवित रहने का क्या अर्थ है ? प्रकृति कहती है ! हटो यहाँ से, रास्ता साफ करो। प्रकृति की ओर से उसके विनाश के साधन प्रस्तुत हो जाते हैं और वे हैं—युद्ध, बाढ़, रोग, भूकम्प, महामारी आदि।

माल्थस कहते हैं कि जनसंख्या नियंत्रण के इन प्राकृतिक प्रतिबन्धों से यदि बचना है तो उसका साधन यही है कि मनुष्य अपने पर बुद्धि सम्मत प्रतिबन्ध लगाये यह भी दो प्रकार से हो सकता, नैतिक तथा अनैतिक। माल्थस पादरी थे, संयम और सदाचार पर उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने ब्रह्मचर्य एवं संयमपूर्ण पवित्र जीवन को ही जनसंख्या वृद्धि रोकने का सर्वोत्तम साधन माना है। अनैतिक साधनों को वह पाप मानते हैं और उसका तीव्र विरोध करते हैं। माल्थस पहले अर्थशास्त्री हैं, जिन्होंने सामाजिक समस्याओं की ओर अत्यंत तीव्रता के साथ विचारकों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने जनसंख्या के विज्ञान को जन्म दिया। आज जो जनसंख्या एक समस्या के रूप में उपस्थित हुई

है, इस कारण एक नव-माल्थसवाद का जन्म हुआ। यह नव-माल्थसवाद माल्थस के विचारों में परिवर्तन करता और अनैतिक प्रतिबन्धों का समर्थन करता। इन नवीन विचारकों का मत है कि अब परिस्थितियाँ एवं काल बदल गये हैं। अतः यदि आज माल्थस होते तो वे भी कृत्रिम प्रतिबन्धों, गर्भपात या अन्य अनैतिक तरीकों का समर्थन करते। पर इस प्रकार की बात सोचना भ्रामक है। माल्थस पूर्णतया नैतिक एवं धार्मिक व्यक्ति थे। वे अनैतिकता का समर्थन कदापि नहीं करते।

गांधी जी ने भी जनसंख्या के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किया। वास्तव में जनसंख्या वृद्धि हर युग की समस्या रही है। गांधी जी तो पूर्णतया धार्मिक एवं नैतिक व्यक्ति थे। अतः उनका दृढ़ मत था कि जनसंख्या वृद्धि को नैतिक तरीकों से ही रोका जाय। नैतिकता समाज व्यवस्था का अनिवार्य पहलू है। जिस समाज में नैतिकता नहीं रहती वह समाज अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। इस नैतिकता से एक तो आत्म संयम की शक्ति बढ़ती, फिर पुरुषार्थ का विकास भी संयम से ही होता है। मानवीय श्रम को विकसित करने के लिए भी संयम आवश्यक है। अतः कह सकते हैं कि जनसंख्या के विचार के सम्बन्ध में माल्थस एवं गांधी जी में एकता थी। गांधी जी मानते थे कि आज जो भ्रष्टाचार है, सम्पत्ति की तृष्णा है, जीवन में भोग-विलास है इन सबका कारण है आत्म संयम की कमी। माल्थस की कुछ अतिशयोक्तियों से गांधी जी सहमत नहीं हैं, परन्तु जहाँ तक संयम, नियम अन्य आहार-विहार का सम्बन्ध उससे सहमत हैं। चूँकि माल्थस भी एक धार्मिक व्यक्ति थे इसलिए गांधी जी के विचारों से साम्य होना स्वाभाविक है।

रिकार्डो

अर्थशास्त्र के शास्त्रीय विचारधारा में माल्थस के उपरांत सबसे प्रख्यात व्यक्ति है—रिकार्डो। अपनी सूक्ष्म विश्लेषण पद्धति एवं गंभीर विवेचन के कारण रिकार्डो वैज्ञानिक विचार प्रणाली के अग्रदूत माने जाते हैं। रिकार्डो के पहले के अर्थशास्त्री उत्पादन की समस्या पर सबसे अधिक बल दिया करते थे, पर रिकार्डो ने वितरण को अध्ययन का प्रमुख विषय बनाया। उत्पादक वर्ग को मिलाने वाला यह अंश किस सिद्धान्त के अनुसार प्राप्त होता है, इस प्रश्न का रिकार्डो से पूर्व किसी

ने विधिवत विवेचन नहीं किया था। रिकार्डो की सबसे बड़ी देन है, लगान सिद्धान्त। रिकार्डो मानते कि सीमान्त भूमि और सीमान्त इकाई द्वारा ही भूमि के लगान का निर्धारण होता है। हेने ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि रिकार्डो की अर्थ-व्यवस्था में सीमान्त भूमि ही केन्द्र बिन्दु है।

रिकार्डो ने मजदूरी के दो प्रकार बताया, स्वाभाविक मजदूरी और बाजारू मजदूरी। रिकार्डो ने बाजारू मजदूरी का न्यूनतम पैमाना यह माना है कि जिससे श्रमिक की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे और वह अच्छा जीवन व्यतीत कर सके। वह लाभ लेने का भी समर्थन करते हैं। परन्तु यहाँ एक विरोधाभास मिलता है कि रिकार्डो ने मजदूरों के एक वर्ग का समर्थन किया जिससे वर्ग विभाजन एवं उसके प्रति भेदभाव की भावना का विकास हुआ। परन्तु रिकार्डो का एक विचार जिसे समाजवादी विचारधारा का मूलमान सकते हैं, में कहा गया है कि श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के हित परस्पर विरोधी हैं, एक के लाभ में दूसरे की हानि है। यह एक ऐसा आधार है जिस पर मार्क्स ने अपने विचार को बढ़ाया है। पूँजीवाद अपने विरोधों के कारण समाज में विषमता पैदा करता है और ऊँच नीच, बड़ा छोटा का भेद उत्पन्न होता है। लाभ की प्रवृत्ति का विकास होता है। भले ही रिकार्डो को पूँजीवाद के उन दोषों का ज्ञान न रहा हो जिसे मार्क्स ने बताया, परन्तु उतना तो स्पष्ट है कि पूँजीवाद से उत्पन्न विषमता का उसे अंदाज लग गया था। इसीलिए कहा भी गया है कि समाजवाद का विचार बीजरूप में रिकार्डो के विचारों में मौजूद था। बाद में गांधी जी ने पूँजीवाद के दोषों को समझा और मार्क्स के समाजवादी विचार के आगे अहिंसक समाज रचना की योजना प्रस्तुत की। सत्य अहिंसा पर आधारित इस साम्योगी विचार में पूँजीवाद एवं समाजवाद के दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया है।

गांधी जी ने रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत किये गये भूमि, श्रम और मूल्य के विचारों का नये प्रकार से सूत्रपात किया है। उन्हीं विचारों से जुटा हुआ गांधी जी का भूमि, अन्न, श्रमनिष्ठ विचार प्रतीत होता है।

सिसमाण्डी

अदम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो ने परम्परावादी विचारधारा का विशाल महल खड़ा किया। इस विशाल महल में अनेक कमरों का निर्माण किया गया, जिसमें अनेक संगतियाँ एवं असंगतियाँ थीं। अनेक विचार नीतियुक्त एवं कुछ ऐसे भी विचार थे जो नीति के विरुद्ध थे। चूंकि इस काल में औद्योगिक विकास प्रारम्भ हो गया था, नगरों का निर्माण हो गया था, व्यापारिक जीवन का भी प्रारम्भ हो गया था अतः धीरे धीरे भौतिकवादी सभ्यता का प्रारम्भ हो गया। रिकार्डो ने अर्थशास्त्र को शुद्ध नियमों से परिष्कृत करने का प्रयास किया। इन सब कारणों से कुछ ऐसे नियम एवं सिद्धान्त भी गढ़े गये जो कि नीति के विरुद्ध थे, एवं समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हित के अनुकूल नहीं थे। वास्तव में तो इस औद्योगिक एवं व्यापारिक जीवन में ही कुछ ऐसी असंगतियाँ थीं जिनके कारण जीवन में कृत्रिमता आनी प्रारम्भ हो गयी। औद्योगीकरण ने बड़े उद्योगों को जन्म दिया और इन बड़े उद्योगों के विकास से समाज में बेकारी फैली, विकेन्द्रित व्यवस्था का ह्रास प्रारम्भ हुआ और अंततः प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का ह्रास होने लगा। व्यावहारिक क्षेत्र में अनेक आर्थिक असंगतियाँ उत्पन्न हो गयी। श्रमिकों की बुरीदशा, बेकारी में वृद्धि, आर्थिक असमानता में वृद्धि, नैतिकता का ह्रास आदि कुछ ऐसे प्रमुख कारण थे जिन्होंने परम्परावादी विचार-धारा में नये ढंग से विचार करने को बाध्य किया। जी० चार्ल्स ल्योनार्ड सिसमाण्डी प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने इस जटिल औद्योगिक एवं यंत्रवत जीवन के बारे में एक नवीन विचार हमारे सामने रखा। उन्होंने संपूर्ण परम्परावादी विचारधारा को सामाजिक दृष्टि से देखा। वैसे तो सिसमाण्डी समाजवादी नहीं थे परन्तु उनके विचार समाज के गरीब एवं दुःखी लोगों के हित में थे। उन्होंने जो विचार हमारे सामने रखा वह समाजवादी विचारधारा का प्रारम्भिक गुरु के समान है। बाद के समाजवादियों ने उनके विचारों को, उनके द्वारा की गयी परम्परावादी विचार की आलोचना को ही समाजवादी विचार के रूप में विकसित किया। अगर हम उनके विचारों का अध्ययन करें तो स्पष्ट दीखता है कि उनके विचार गांधी जी के विचारों से काफी

समीप थे। उन्होंने यंत्र के सम्बन्ध में, संपत्ति के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये वे गांधी जी के विचारों से काफी मिलते जुलते हैं।

मैं० का कहना है कि सिसमाण्डी अर्थशास्त्री की अपेक्षा आचार शास्त्री अधिक थे। वे मानते हैं कि अर्थशास्त्र का ध्येय या लक्ष्य केवल सम्पत्ति बटोरना नहीं है, उसका ध्येय है—मानव को अधिकतम सुखी बनाना। जो अर्थशास्त्र मानव की प्रसन्नता में वृद्धि नहीं करता, वह अर्थशास्त्र ही नहीं है। सिसमाण्डी मानते हैं कि आज तक अर्थशास्त्र को संपत्ति का विज्ञान माना गया है और राष्ट्रीय सम्पत्ति में सम्वर्धन ही उसका लक्ष्य रहा है। यह ठीक नहीं है। अर्थशास्त्र 'मानवशास्त्र' है। लोककल्याण को अर्थशास्त्र का लक्ष्य बना कर सिसमाण्डी चाहते थे कि उसे आदर्शवादी विज्ञान का स्वरूप प्रदान किया जाय और उसमें भावना तथा आचार को प्रमुख स्थान दिया जाय। कुछ लोग सिसमाण्डी की इस धारणा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि अर्थशास्त्र में भावना और आचारशास्त्र को जोड़ना ठीक नहीं है और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की अपेक्षा शासकीय हस्तक्षेप को महत्व देना अनुचित है। परन्तु आज भौतिक एवं व्यापारिक जीवन की जटिलता को देखते हुए यह स्पष्ट हो गया कि बिना नीति, धर्म एवं आचार के अर्थशास्त्र मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता। आज पश्चिम में तीव्र भौतिकता है, पर वे संतुष्ट नहीं हैं जीवन परेशानी एवं जटिलता से भरा है। आज पश्चिमी विचारक एक नयी जीवन पद्धति की तलाश में हैं। भारत में वह पद्धति प्राचीन काल में विकसित थी। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने उस जीवन पद्धति की आधार शिला रखी है।

सिसमांडी ने कहा है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन देश, काल, परिस्थिति आदि को देख कर ही किया जाना चाहिए, अन्यथा हमारे सिद्धांत अत्यंत भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं। सिसमांडी कहते हैं कि वार्षिक आय और वार्षिक उत्पादन दो भिन्न वस्तुएँ हैं। सच्ची अर्थ व्यवस्था में वार्षिक उपभोग राष्ट्रीय आय द्वारा सीमित होगा और सारा उत्पादन उपभोग के काम में आ जायगा। यानि उत्पादन उपभोग के लिए होगा। जिस चीज की जितनी आवश्यकता होगी उतना ही उसका उत्पादन होगा। उत्पादन लाभ या व्यापार के लिए नहीं किया जायगा। जब उत्पादन लाभ एवं व्यापार के लिए किया जाने लगता है तभी अति उत्पादन होता है। अतः अति उत्पादन एक समस्या के रूप में सामने

आता और बाजार खोजने को मजबूर करता। फलस्वरूप युद्ध होते। सिसमांडी ने इसका तीव्र विरोध किया। गांधी जी ने भी ऐसी व्यवस्था का विरोध किया।

सिसमांडी, यन्त्रों का और बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उद्योगों के तीव्र विरोधी हैं, क्योंकि उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि यन्त्रों के कारण बड़े पैमाने पर अति उत्पादन होता है और उसके फलस्वरूप बेकारी बढ़ती है। जैसे ही कोई मशीन लगती है वैसे ही कितने ही मजदूर निकाल बाहर किये जाते हैं। मशीनों से मजदूरों को नहीं पूंजीपतियों और उद्योगपतियों को लाभ होता है। मजदूर बेचारे तो दिन-दिन अधिक पिसते जाते हैं। उत्पादन क्षमता बढ़ जाने पर भी उन्हें कम मजदूरी पर अधिक काम करने के लिए विवश होना पड़ता है। सिसमांडी के पूर्ववर्ती अर्थशास्त्री यंत्र एवं बड़े उद्योगों का समर्थन करते हुए कहते हैं कि इससे उत्पादन बढ़ता और लागत कम पड़ती है। परन्तु सिसमांडी श्रमिकों के शोषण की तीव्र आलोचना करते हैं। कहते हैं कि दूसरों के श्रम की बलि पर ही पूँजीपति विलास करते हैं। प्रतिस्पर्धायुक्त जीवन के बारे में सिसमांडी कहते हैं कि इससे अकुशल उत्पादकों का दिवाला पिट जाता है और पैसे वाले सशक्त पूंजीपति उपभोक्ताओं और श्रमिकों को लाभ न उठाने देकर अपनी ही जेब भरा करते हैं। अतः प्रतिस्पर्धायुक्त जीवन के विरोधी थे। गांधी जी भी 'सादा जीवन, उच्च विचार' की बात करते हैं। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को बुद्धि पूर्वक कम करने से ही सच्चा सुख प्राप्त होता है। मनुष्य को प्रत्येक काम अपने पड़ोसी और क्रमशः समाज के सुख को देख कर ही करना चाहिए। आज के जटिल एवं प्रतिस्पर्धा युक्त जीवन से मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती है।

सिसमांडी आर्थिक संकट का मूल कारण अति उत्पादन और आर्थिक विषमता मानते हैं। वे कहते हैं कि आर्थिक संकटों का मूल कारण है मजदूरों की दुर्दशा और वस्तुओं का अति उत्पादन। इस अति उत्पादन से एक ओर तो गरीब लोग जीवन की आवश्यकताओं से वंचित रह जाते हैं, दूसरी ओर अमीरों के भोग-विलास की वस्तुओं की मांग बहुत बढ़ जाती है। इस कारण समाज में संकट बढ़ता है। इसके निराकरण के लिए राज्य के हस्तक्षेप की बात करते हैं। गांधी जी ने इस धार्मिक विषमता को दूर करने के लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त रखा है।

सिसमाण्डी ने इस विषमता एवं संकट को मिटाने के लिए राज्य के हस्तक्षेप की बात की है और कहा कि राज्य को अपने अधिकारों द्वारा इस विषमता को समाप्त करना चाहिए। उन्होंने कहा कि मांग के अनुरूप ही उत्पादन किया जाय। अति-उत्पादन को रोका जाय। आविष्कारों पर प्रतिबन्ध लगाया जाय, श्रमिकों को संपत्ति मिले, छोटे उद्योगों को अर्थात् विकेन्द्रित उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय, मजदूरों के अधिकार में वृद्धि की जाय।

सिसमाण्डी ने उस काल की परिस्थितियों एवं वातावरण को देखते हुए जो कुछ विचार दिया वह बहुत ही क्रान्तिकारी था। परन्तु उस समय के अन्य विचारक एवं समाज के राजनायकों ने इसे नहीं अपनाया फलस्वरूप आज का औद्योगिक जीवन जटिलतामय हो गया। परन्तु विचारधारा का तो क्रमशः विकास होता ही रहा। समाजवाद मार्क्सवाद आदि विचारों का विकास हुआ, जिसने समाज से गरीबी अमीरी मिटाने का प्रयास किया, परन्तु ये सारे प्रयास एक वर्ग का दूसरे वर्ग के प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इन प्रयासों में पूँजीपति एवं मजदूर में विरोध की भावना थी। एक वर्ग को नाश करने की बात थी। परन्तु उसी समय गांधी जी आये, जिन्होंने समाज परिवर्तन की अहिंसात्मक प्रक्रिया बतायी। आर्थिक विषमता को मिटाने का अहिंसक तरीका बताया— सत्याग्रह और असहयोग। उन्होंने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के माध्यम से आर्थिक विषमता दूर करने का विचार रखा। गांधी जी की मूल आर्थिक व्यवस्था थी—विकेन्द्रित अर्थ रचना। इस विकेन्द्रीकरण में समाज का प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों होगा।

सेन्ट साइमन

सेन्ट साइमन को 'औद्योगिक क्रान्ति में पले और पोषित शिशु' की संज्ञा दी जाती है। उनका जन्म सन् १७६० में हुआ जब कि औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व के रंग मंच पर पदार्पण किया और उनकी मृत्यु हुई जब कि औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड में अपने चरमसीमा पर थी। उन्होंने अपने जीवन में ही औद्योगिक क्रान्ति का विकास देखा। सेन्ट साइमन एक क्रान्तिकारी भी थे। उन पर अमेरिका की क्रान्ति एवं फ्रान्स की क्रान्ति का गहरा प्रभाव पड़ा। मानव द्वारा मानव का शोषण के विरोध

का नारा सबसे पहले सेन्ट साइमन ने ही बुलन्द किया। उनके तर्कों और शब्दावलियों का आगे चलकर समाजवादियों ने भरपूर उपयोग किया। सेन्ट साइमन के प्रमुख आर्थिक विचारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला उद्योगवाद, दूसरा शासन व्यवस्था।

सेन्ट साइमन यह मानकर चलते हैं कि समृद्धि का मूल आधार है धनोत्पादन और धनोत्पादन के लिए अनिवार्य आवश्यकता है औद्योगिक विकास। यह उद्योगवाद ही भावी समाज रचना का आधार हो सकता है। वे समाज में दो वर्ग मानते हैं—एक श्रमिक और दूसरा आलसी। वे कहते हैं कि यदि समाज में श्रमिक अर्थात् उत्पादक वर्ग की कमी हो जाय तो समाज को काफी हानि उठानी पड़ेगी, पर यदि आलसी लोगों का खात्मा हो तो कोई हानि नहीं होगी। औद्योगिक वर्ग के बिना समाज का काम चल ही नहीं सकता है। इसी मान्यता पर साइमन ने भावी समाज की कल्पना की है, उसमें न सामंतों के लिए स्थान होगा और न पादरी पुजारियों के लिए। वह समाज श्रमनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ व्यक्तियों का ही होगा। पड़े रह कर मौज करने वाले अकर्मण्य व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। साइमन के नये समाज में शरीर-श्रम, कृषक, हस्तशिल्पी, निर्माता, बैंकर, कलाकार, व्यापारी आदि ही रहेगें। उसमें रहने का अवसर एकमात्र श्रमिक वर्ग ही पा सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना होगा। श्रमिक वर्ग में प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार होगा। उन्होंने सबसे पहले इस बात का अनुभव किया कि नये समाज को जन्म देने के लिए विज्ञान का अर्थव्यवस्था के साथ गठबन्धन किया जाय; दरिद्रता, अभाव, गन्दगी और रोग के दानवों से मानव-जीवन को मुक्त करने के लिए विज्ञान और अर्थव्यवस्था को परिणय-सूत्र में अबद्ध किया जाय।

इन विचारों से स्पष्ट है कि सेन्ट साइमन समाज से अनुत्पादक वर्ग को, शोषक वर्ग को निकाल देना चाहते थे। समाज में वही रहेगा जो कि अपने पुरुषार्थ से, अपनी श्रमशक्ति से जीवन व्यतीत कर सके। अर्थात् हर व्यक्ति उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों होगा। सेन्ट साइमन ने हस्तशिल्प, मानवीय कला को आदर दिया और कहा कि इसी के विकास से समाज सुखी होगा। जीवन की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योग करने की आवश्यकता

होती है। विना उद्योग, प्रयत्न से हम उत्पादन नहीं कर सकते अर्थात् साइमन ने उद्योग पर सर्वाधिक बल दिया। गांधी जी ने भी उद्योग पर सर्वाधिक जोर दिया है। परन्तु गांधी जी अपनी व्यवस्था में विकेन्द्रित औद्योगीकरण पर जोर देते हैं। गांधी जी भी समाज से वर्ग भेद—उत्पादक एवं उपभोक्ता को मिटाना चाहते है। वे भी चाहते हैं कि समाज में सभी उत्पादक एवं उपभोक्ता हों।

शासन प्रबन्ध के बारे में साइमन का विचार था कि जब समाज में एक ही वर्ग रहेगा—उत्पादक तो इन पर शासन करनेवाली बाहरी सत्ता नहीं होगी। यह उत्पादक वर्ग अपना शासन स्वयं करेगा। अतः समाज में दलबन्दी, राजनैतिक चालबाजियों के लिये स्थान नहीं होगा। बाद में सेण्ट साइमन के अनुयायियों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का तीव्र विरोध किया। अन्ततः हम कह सकते हैं कि सेण्ट साइमन एवं गांधी जी के आर्थिक-व्यवस्था में काफी हद तक एकता खोजी जा सकती है।

सहयोगी समाजवाद

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समाज में वैषम्य एवं आर्थिक संकट का प्रादुर्भाव होने लगा था, जिससे तत्कालीन विचारकों का ध्यान इस ओर तीव्रता से आकृष्ट हुआ। एक ओर अमीर दिन-दिन अमीर बनते जा रहे थे, दूसरी ओर गरीब दिन-दिन गरीब। बेकारी और तबाही, दुर्भिक्ष और दरिद्रता का चारों ओर प्रसार हो रहा था। इस वैषम्य निराकरण के लिए किसी ने अत्यन्त सामान्य सुझाव दिये, किसी ने इस बात पर बल दिया कि सारी अर्थ-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था ही बदल देनी चाहिए, किसी ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते हुए कुछ सुझाव उपस्थित किये और किसी ने उसका उन्मूलन ही कर डालने की माँग की।

इस चिन्तनधारा में से सहयोगी समाजवाद (Associationism) का जन्म हुआ। ओवेन, फूर्ये, थामसन और ब्लाँ जैसे विचारकों ने कहा कि किसी निश्चित योजना के अनुसार लोग यदि स्वेच्छा से सहयोग करें, तो सम्पत्ति की असमानता और वितरण की अन्यायपूर्ण पद्धति समाप्त की जा सकती है। इन लोगों की मान्यता थी कि प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा मिटा दी जाय और उसके स्थान पर सहकार और सहयोगिता की प्रतिष्ठा

दी जाय तो आर्थिक वैषम्य दूर किया जा सकता है। इन विचारकों की सबसे बड़ी विशेषता है कि ये अपने कल्पनाशील विचारों की अभिव्यक्ति करके ही नहीं रह गये, उन्होंने उसे मूर्तस्वरूप देने की भी चेष्टा की। वे जिस प्रकार के समाज की स्थापना करना चाहते थे, उसे स्थापित करने का भी प्रयास किया। सहयोगी समाजवाद की मुख्य विशेषताएँ हैं :—

(१) स्वेच्छया सहकार।

(२) वातावरण में परिवर्तन पर जोर।

(३) प्रतिस्पर्धा का विरोध।

सहयोगी समाजवादी ऐसा मानते थे कि मानव के विकास के लिए राज्य की अथवा किसी अन्य संस्था की सहायता अपेक्षित नहीं। सब लोग अपनी इच्छा से सहयोग करें। किसी को सहयोग करने को विवश न किया जाय। ये मानते थे कि समाज में अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं, अतः सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण में परिवर्तन किया जाय। वातावरण को बदल देने में व्यक्ति में अपेक्षित सुधार हो जायगा। वे मानते थे कि प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप आर्थिक समृद्धि सम्भव नहीं, अतः समाज में सहयोग एवं सहकार की भावना का विकास किया जाय।

जब हम सहयोगी समाजवाद के आर्थिक दर्शन पर विचार करते हैं तो स्पष्ट दीखता है कि उनके विचारों में गांधी जी द्वारा प्रतिपादित स्वशासित ग्राम स्वराज्य की विचारधारा का पूर्वाभास है। गांधी जी ने जो ग्राम स्वराज्य की कल्पना की है उसमें भी स्वेच्छया से सहकार की भावना का विकास होगा। गांधी जी की मान्यता है कि सहकारिता तो स्वजागृत विचारधारा है जिसमें पड़ोसी के प्रति प्रेम की भावना होती है। पहले दूसरों को खिलाकर तब स्वयं खाने की भावना होती है। गांधी जी ने कहा कि सहकारिता का आधार होगा—अहिंसा। कृषि के क्षेत्र में उद्योग के क्षेत्र में, व्यापार एवं विनिमय के क्षेत्र में सहकार की भावना से ही अहिंसक समाज की रचना सम्भव है। अतः सहकारिता की जो विचारधारा सहयोगी समाजवादियों ने दी गांधी जी ने उसे अहिंसक स्वरूप प्रदान किया।

गांधी जी ने माना कि व्यक्ति के हृदय परिवर्तन से ही अहिंसात्मक क्रान्ति सम्भव है। जब तक व्यक्ति के मानस, व्यक्ति की विचारधारा में आमूल परिवर्तन नहीं होगा तब तक समाज में वास्तविक क्रान्ति नहीं हो सकती और न सच्चा स्वराज्य प्राप्त हो सकता, जिसे बापू ने कहा

है—ग्राम स्वराज्य। इसीलिए उन्होंने स्थान स्थान पर आश्रमों की स्थापना की जिसमें विचार परिवर्तन, हृदय परिवर्तन का अभ्यास किया जाता है।

आज के आर्थिक जीवन में प्रतिस्पर्धा का बोलबाला है। सहयोगी समाजवादियों ने इस प्रतिस्पर्धायुक्त जीवन की कठिनाइयों को समझा और उन्होंने मजदूर एकता, मजदूर कल्याण की बात की। गांधी जी ने इस विचारधारा को पारिवारीकरण के रूप में पेश किया। सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पारिवारीकरण के ढंग से संचालित होगी। पारिवारीकरण समाज की सर्वोत्तम व्यवस्था है। इसमें सबसे सुन्दर सहकारी भावना का विकास होता है। गांधी जी के उस ग्रामस्वराज्य में प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग होगा, उत्पादन पड़ोसी की आवश्यकताओं को देख कर होगा।

प्रोदों

गाँधी जी अराजकतावादी कहकर पुकारे जाते हैं। वे राज्य का विरोध करते और पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। व्यक्ति को अपने विकास का पूरा अवसर मिलना चाहिए और सबको न्यायपूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। प्रोदों अराजकतावादी विचार का प्रारम्भकर्ता माना जाता है। वह राज्य का विरोधी है। प्रोदों का कहना है कि प्रत्येक राज्य स्वभावतः अधिकार में स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने वाला होता है। वे कहते हैं, "मुझे पूर्ण स्वतंत्रता चाहिए—आत्मा की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, श्रम की स्वतंत्रता, वाणिज्य की स्वतंत्रता, शिक्षण की स्वतंत्रता, उत्पादित वस्तुओं के स्वेच्छानुकूल विनियोग की स्वतंत्रता,—तात्पर्य ऐसी स्वतंत्रता मेरा लक्ष्य है, जो अनन्त हो, सम्पूर्ण हो, सर्वत्र हो और सदा के लिए हो।' प्रोदों जिस समाज के निर्माण का स्वप्न देखते थे, उसकी आधार शिला स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व था। यह है प्रोदों की मूल विचारधार—स्वतंत्रता की। महात्मा गाँधी को भी अराजकतावादी कहा जाता है। वे राज्य से कम से कम शासन की बात करते हैं। गाँधीजी कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य व्यवसाय के लिए स्वतंत्र रहना चाहिए। गाँधी जी ने पंचायती राज की व्यवस्था हमारे सामने रखी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और क्रमशः गाँव पूर्णतया स्वावलम्बी एवं परस्परावलम्बी होगा।

गाँव के लोग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव में उत्पादित वस्तुओं से ही करेंगे। वे अपना शासन भी ग्राम पंचायत की व्यवस्था से करेंगे। अर्थात् आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से वे स्वतंत्र होंगे। इस अहिंसक समाज में व्यक्ति आत्म-निर्णय से दूसरे के हित को देखते हुए काम करेगा। हम कह सकते हैं कि गाँधीजी ने स्वतंत्रतावादी विचार-धारा को वैज्ञानिक रूप दिया और उसे ग्राम स्वराज्य की कल्पना के रूप में सामने रखा।

प्रोदों व्यक्तिगत संपत्ति के तीव्र विरोधी थे। उनके अनुसार सम्पत्ति चोरी है, भूमि प्रकृति की मुक्त देन है इसलिए किसी व्यक्ति को उस पर एकाधिकार नहीं मिलना चाहिए। प्रोदों चाहते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का परिहार हो। अनर्जित आय समाप्त कर दी जाय, लगान, व्याज, और मुनाफे का अन्त कर दिया जाय। परन्तु श्रम से उपार्जित सम्पत्ति को रखने का और उसका स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार करने का अधिकार मनुष्य को रहना चाहिए। प्रोदों के इन विचारों का विकास गाँधीजी के विचारों में मिलता है। गाँधीजी व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से विरोध करते हैं। इसी व्यक्तिगत स्वामित्व की समस्या के समाधान हेतु गांधी जी ने ट्रस्टीशिप का अहिंसक सिद्धांत बताया। गांधी जी ने कहा कि सभी भूमि भगवान की है। 'सबै भूमि गोपाल की' का नारा लगाया। साथ ही साथ सारी संपत्ति भी ईश्वर की है। अर्थात् इस संपत्ति का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं किया जा सकता। व्यक्ति को—जिसके पास संपत्ति है—चाहिए कि वह अपने को संपत्ति का ट्रस्टीमात्र माने। वह उसका उपयोग समाज के हित में करें हाँ, अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति वह उस संपत्ति से कर सकता है। गांधी जी ने कहा कि समाज से वर्गभेद मिटे। किसी भी प्रकार का वर्गभेद न हो। सभी उत्पादक एवं उपभोक्ता हों। जो श्रम करेगा उसे भोजन मिलेगा। पर इन्होंने आगे की बात भी की जिसे प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने नहीं कहा था, व्यक्ति शक्ति भर काम करे और अपनी आवश्यकता भर ही ले, बाकी समाज को अर्पित कर दे। इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति आलस्य करे। इसमें तो वह स्वेच्छया से पूरी शक्ति भर काम करेगा।

प्रोदो ने जो विचार संपत्ति के बारे में, स्वतंत्रता के बारे में, एवं न्याय के बारे में दिया वह एक अहिंसक समाज के समीप था। गांधी

जी ने भी भूमि को भगवान द्वारा प्रदत्त माना और आज संत विनोबा भू-दान एवं ग्रामदान की विचार धारा देश के कोने कोने में फैला रहे हैं। इस भू-दान, ग्रामदान के पीछे मूल भावना है—व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना को मिटा कर स्वशासित अहिंसक समाज की रचना करना।

राष्ट्रवादी विचारधारा

राष्ट्रवादी विचारधारा का आरम्भ मुख्यतया जर्मनी में उस समय हुआ जब कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति पिछड़ी थी। ब्रिटेन उससे काफी आगे था। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी और वह अपना व्यापार विदेशों में फैला रहा था। जर्मनी की आर्थिक स्थिति अभी औद्योगीकरण की स्थिति में न थी। फलस्वरूप जर्मनी का शोषण होने लगा। उसी समय लिस्ट जैसे विचारकों ने राष्ट्रवादी विचारधारा रखा। लिस्ट ने कहा कि राष्ट्र को अपना आर्थिक विकास अपने देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार करना चाहिए। अर्थात् यदि प्रतियोगिता करनी हो तो समान स्थिति के देशों में होनी चाहिए। जो देश पिछड़े हैं उनमें व्यापक संरक्षण होना चाहिए।

लिस्ट ही इस विचार धारा का प्रमुख प्रवक्ता है। लिस्ट का विचार है कि अदम स्मिथ के अनुयायी इस बात को भूल गये कि उन्होंने जिस विश्व की कल्पना कर रखी है, वह विश्व कहीं अस्तित्व में है ही नहीं। उन्होंने राष्ट्रीयता के भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया है। लिस्ट की मान्यता है कि कल्पना लोक में विचरण न करके वास्तविक स्थिति की ओर ध्यान देना चाहिए। लिस्ट के अनुसार विश्व के भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक सी आर्थिक स्थिति में नहीं हैं। कुछ राष्ट्र तो पूर्णतः कृषि प्रधान हैं और कुछ पूर्णतः उद्योग प्रधान। इन सभी राष्ट्रों के हितों में भिन्नता है। अतः सबको एक ही डंडे से हाँकना समीचीन नहीं कहा जा सकता। अतः जिस राष्ट्र की जो समस्या हो, जैसी परिस्थिति हो उसी के अनुसार आर्थिक निर्माण किया जाना चाहिए। लिस्ट ने उत्पादक शक्तियों में दो शक्तियों का समर्थन किया है (१) उद्योग धन्धों का विकास (२) नैतिक और सामाजिक सुख स्वातंत्र्य प्रदान करने वाली संस्थाओं का विकास करना। अब लिस्ट एवं गांधी में एकता खोजी जा सकती है।

महात्मा गांधी ने जो अर्थ व्यवस्था हमारे सामने रखी वह भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की उपज है। उनका अर्थशास्त्र वर्णाश्रम धर्म पर आधारित है। अतः उन्होंने जो विचारधारा रखी वह स्वयं भारत से सम्बन्धित है। परन्तु गांधी जी की विचारधारा सम्पूर्ण मानव समाज को एक नया प्रकाश प्रदान करती है। इस नवीन अर्थशास्त्र में उन्होंने जो स्वदेशी की विचारधारा हमारे सामने रखी उसमें विदेशी के प्रति घृणा नहीं हैं। गांधी जी ने कहा कि भारतीय परिस्थिति पश्चिम की परिस्थितियों एवं समस्याओं से भिन्न है। भारत में आबादी अधिक है और भूमि कम है। अतः यहाँ की अर्थरचना विकेन्द्रित ही हो सकती है। वैसे तो उन्होंने औद्योगीकरण का ही विरोध किया है। पर यह विचारधारा भारत के लिए और भी सही है। गांधी जी ने संरक्षण की भी बात की थी। यदि किसी विदेशी उद्योग से, या माल मगाने से भारतीय हित को नुकसान पहुँचता हो तो उस पर कड़ा संरक्षण लगाना चाहिए। किसी भी देश में सबको काम देना उस देश का कर्त्तव्य होता है, अतः हमारी अर्थ व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें सबको पूरा पूरा काम मिले। गांधी जी ने भारत में एक व्यापक स्वदेशी का आन्दोलन ही चलाया जिसका उद्देश्य था—स्वदेशी अर्थ रचना की नींव डालना। परन्तु गांधी जी का राष्ट्रवाद लिस्ट के राष्ट्रवाद से काफी आगे है। गांधी जी का राष्ट्रवाद सत्य और अहिंसा पर आधारित है। फिर इसमें विदेशी वस्तुओं से कोई घृणा नहीं है। इसमें तो पड़ोसी की आवश्यकताओं को देखकर उपभोग के योग्य स्वास्थ्य वर्धक वस्तुओं के निर्माण की बात की गयी है। हम उत्पादन व्यापार या लाभ के लिए न करें बल्कि उपभोग के लिए करें। गांधी जी का राष्ट्रवाद वर्तमान औद्योगिक एवं व्यापारिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का एक सुन्दर साधन है। लिस्ट का राष्ट्रवाद संकुचित था, फिर भी दोनों में कुछ सीमा तक एकता ढूंढ़ी जा सकती है।

जान स्टुअर्ट मिल

मिल परम्परावादी विचारधारा के सबसे बड़े अन्तिम विचारक माने जाते हैं। मिल ने परम्परावादी विचारधारा को चरम सीमा पर पहुँचाया और उन्होंने उसको नष्ट करना भी प्रारम्भ कर दिया। उन्नीसवीं

शताब्दी में स्टुअर्ट मिल के साथ शास्त्रीय विचारधारा एक ओर जहाँ उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँची, दूसरी ओर उसकी नीव में घुन भी लगने लगा। उसका विघटन भी आरम्भ हो गया। साधारणतया उनके विचारों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। (१) शास्त्रीय पद्धति की परिपुष्टि (२) शास्त्रीय पद्धति से मतभेद और (३) आदर्श समाजवाद की विचारधारा। यहाँ ध्यान रहे कि चूँकि वे दो युगों के मध्य में खड़े थे इसलिए उनकी विचारधारा में स्पष्ट भेद हो जाते हैं। परन्तु उनकी विकसित विचारधारा में आदर्श समाजवाद की कल्पना ही है। मिल ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को भी व्यापक बनाया। उन्होंने कहा कि अर्थशास्त्र केवल विशुद्ध विज्ञान ही नहीं, कला भी है। उत्पादन के क्षेत्र में वह विज्ञान है, वितरण के क्षेत्र में कला।

मिल ने अनेक क्रान्तिकारी विचार हमारे सामने रखे जो कि समाजवाद के काफी समीप थे। मिल ने मजदूरी पद्धति के उन्मूलन का विचार रखा। उनकी मान्यता थी कि मजदूरी की सत्ता के चलते व्यक्ति का व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है। कारण, उससे मनुष्य की काम करने की सारी उत्प्रेरणा समाप्त हो जाती है। इसके स्थान पर मिल ने सहकारी समितियों की योजना प्रस्तुत की जहाँ सभी श्रमिक समानता के स्तर पर संगति होंगे, सारी पूँजी के स्वयं मालिक होंगे, मिल कर सारा काम करेंगे और अपने व्यवस्थापकों का चुनाव वे स्वयं करेंगे। अतः मिल ने मालिक मजदूर के भेद को समाप्त करने का प्रयास किया और समाज में एक ही वर्ग—उत्पादक का बनाने का प्रयास किया।

मिल ने लगान के समाजीकरण की बात की। रिकार्डो की मान्यता थी कि लगान प्राकृतिक तत्व है। मिल की मान्यता थी कि वह प्राकृतिक और स्वाभाविक नहीं, अपितु अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक है। लगान मजदूरी की भाँति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक है। व्यक्तित्व के प्रस्फुरण के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जो श्रम करे, उसका प्रतिफल उसी को मिले। लगान में मनुष्य को अनर्जित आयका लाभ प्राप्त होता है। अतः मिल इस दोष को दूर करने के लिए लगान के समाजीकरण पर बल देते हैं। मिल वंशानुगत सम्पत्ति को भी अनर्जित आय मानते हैं और कहते हैं कि यह भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में भारी बाधक है। उनके अनुसार यदि किसी की मृत्यु हो तो उत्तराधिकारियों को पूरा सम्पत्ति न मिले बल्कि अंश ही उन्हें मिले।

अतः मिल ने मजदूरी, लगान या व्यक्तिगत संपत्ति के सम्बन्ध में जो विचार दिये हैं उसकी प्रबल आवश्यकता आज महसूस की जा रही है। गांधी जी ने मजदूरी के सम्बन्ध में कहा कि श्रम का कोई प्रतिमूल्य हो ही नहीं सकता। श्रम न तो वेचा जा सकता और न खरीदा जा सकता। श्रम तो एक मानवीय, सांस्कृतिक आवश्यकता है। उत्पादक एवं उपभोक्ता में, मालिक एवं मजदूर में कोई भेद हो ही नहीं सकता। अतः महात्मा गांधी ने मजदूरी पद्धति को पूर्ण समाप्त कर के श्रम को सांस्कृतिक आवश्यकता का स्वरूप प्रदान किया। हम शक्ति भर काम करें और आवश्यकता भर लें यह विचार सबको अपने मन में रखना चाहिए। जहाँ तक लगान का सवाल है गांधी जी भूमि को ईश्वर की देन मानते हैं। उसका कोई मूल्य हो ही नहीं सकता है। अतः लगान स्वयं अस्वाभाविक एवं असामाजिक है। मनुष्य अपनी शक्ति भर खेत में काम करे और स्वयं का एवं समाज का पोषण करे। लगान या मजदूरी का सवाल क्यों उठता है। व्यक्तिगत संपत्ति के बारे में गांधी जी ने कहा कि 'सब सम्पत्ति रघुपति के आहीं', हम तो केवल ट्रस्टी मात्र हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति हो ही नहीं सकती। पर यह सब होगा कैसे? इसका तरीका बताया कि अब क्रान्ति अहिंसक होगी और उसका साधन होगा—सत्याग्रह और असहयोग।

मार्क्सवाद

'दुनिया के मजदूरों, एक हो।' इस नारे के जन्मदाता कार्लमार्क्स ने और उनके अभिन्न साथी एंजिल ने समाजवाद की जिस विशिष्ठ वैज्ञानिक धारा को जन्म दिया उसका नाम है 'मार्क्सवाद'। मार्क्स मजदूरों के मसीहा माने जाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के कारण जिस प्रकार से मजदूरों का शोषण होता है, समाज में असमानता एवं वर्गभेद उत्पन्न होता है उसका जितना वैज्ञानिक एवं तथ्यपूर्ण विश्लेषण मार्क्स ने किया है उतना उनके किसी भी पूर्ववर्ति विचारक ने नहीं किया था। मार्क्स पूँजीवाद के काले कारनामों से ऊब गये थे अतः उन्होंने एक नवीन विचार धारा रखी जिसमें पूँजीपति वर्ग के समूल नाश की बात की गयी और कहा गया कि समाज में मजदूर वर्ग ही होगा, उसी का शासन होगा। इसके लिए मार्क्स ने हिंसात्मक क्रान्ति अनिवार्य माना। फिर मार्क्स पूँजीवाद के विरोधी थे परन्तु भौतिकता एवं औद्योगीकरण के

नहीं। उन्होंने श्रम को सबसे प्रमुख स्थान दिया। मार्क्स की सफलता का मुख्य कारण था उनके प्रभावपूर्ण विश्लेषण, उत्साहवर्धक नारे और अनुकूल परिस्थिति। अतः मार्क्स समाज के निचले वर्ग के, गरीब के, मजदूर के मसीहा थे। वे स्वयं आर्थिक संकट से त्रस्त थे, वे गरीबों की आह को समझते थे। उनकी समस्याओं के समाधान के लिए वे विह्वल हो उठे। उन्होंने अपनी वेदना व्यक्त करने के लिए, संकट को दूर करने के लिए पूँजीपति वर्ग के नाश कर देने की बात की। उनका नारा रूस एवं चीन में क्रान्ति के रूप में सामने आया। इतना ही नहीं, मार्क्स ने शोषण की पद्धति का स्पष्ट रूप हमारे सामने रखा। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक विकसित एवं क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। परन्तु मार्क्स साध्य एवं साधन में भेद मानते। वे विश्वास करते हैं— कि यदि साध्य सुन्दर है तो साधन इसके विपरीत होने पर भी लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि वे हिंसात्मक मार्ग से सुन्दर, शासन—शोषण विहीन, स्वशासित साम्यवादी समाज की कल्पना कर बैठते हैं। पर यह साध्य साधन का भेद मार्क्स की अदूरदर्शिता ही कही जायगी।

महात्मा गांधी ने मार्क्स से आगे बढ़ कर बताया—जैसा साधन होगा, साध्य भी वैसाही होगा। यदि मार्ग हिंसा का है तो हमें जो फल मिलेगा वह भी हिंसामय ही होगा। इसलिए उन्होंने साम्ययोगी समाज रचना की बात की और कहा कि अहिंसक मार्ग से ही सच्चा साम्यवाद संभव है। गांधी जी ने मार्क्स के विचारों को अहिंसक स्वरूप प्रदान किया। उसमें जो त्रुटियाँ थीं, असंगतियाँ थीं उसे दूर किया। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त हमारे सामने रखा जिससे अमीर गरीब का भेद मिट सके।

यही नहीं मार्क्स ने जहाँ श्रमिक को प्रतिष्ठा प्रदान की, समाज में श्रमिक वर्ग को जन्म दिया, वहीं गांधी जी ने श्रम को प्रतिष्ठा प्रदान की, समाज से वर्ग भेद, जाति भेद को समाप्त किया। समाज में श्रम का कोई भी प्रतिमूल्य नहीं हो सकता है, श्रम तो मानव की सांस्कृतिक आवश्यकता है, ऐसा गांधी जी ने कहा। अतः समाज में श्रम का कोई प्रतिमूल्य हो ही नहीं सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति भर काम करे और आवश्यकता भर ले।

गांधी जी ने साम्ययोगी समाज की कल्पना की जिसमें वर्ग विहीन,

शासन विहीन, शोषण विहीन समाज होगा। मार्क्स ने साम्यवाद की अन्तिम स्थिति की जो रूप रेखा प्रस्तुत की जिसमें राज्य मुरझा जायगा, गांधी जी ने उसी को साम्ययोगी समाज कहा। पर गांधी जी मानते हैं कि उसका प्रयास आज से ही प्रारम्भ कर दें। अहिंसक पद्धति में लक्ष्य प्राप्ति का अभ्यास आज से ही प्रारम्भ किया जाता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि मार्क्स ने जो विचारधारा रखी उसका विकसित स्वरूप गांधी जी ने हमारे सामने रखा। गांधीजी ने मार्क्स के भौतिकवादी, हिंसात्मक तरीके को आध्यात्मिकता, नैतिकता एवं अहिंसा का स्वरूप प्रदान किया।

अन्य समाजवादी विचारक

समाजवादी विचारधारा में मार्क्स सूर्य के समान चमक रहे हैं। परन्तु मार्क्स के बाद अनेक ऐसे विचारक हुए जिन्होंने मार्क्स के विचारों में परिवर्तन किये, उसकी आलोचना की। जर्मन विचारक **बर्नस्टाइन** जो कि मार्क्स के शिष्य थे, मार्क्स के विचारों से मतभेद रखते थे। बर्नस्टाइन का झुकाव व्यावहारिक मार्ग की ओर, समस्याओं के शान्ति-पूर्ण समाधान की ओर था। राज्य के प्रति उनकी प्रवृत्ति अनुकूलतापूर्ण थी और वे प्रशासनिक सुधारों में विश्वास करते थे। उनका मार्ग वस्तुतः नैतिकता का मार्ग था। संशोधनवादी विचारकों की धारणा थी कि मार्क्सवाद जिस क्रान्ति का इतना डंका पीटता है, वह क्रान्ति तो असम्भव है, पर श्रमिकों का आन्दोलन तो चलना ही चाहिए। शान्ति पूर्ण वैध उपायों से श्रमिकों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में जुट जाना चाहिए। संशोधन वादियों ने अत्यन्त ही वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत युक्तियाँ देकर मार्क्सवाद का खण्डन किया।

इस धारा में दूसरे बड़े विचारक हुए पीटर अलेक्सेविच क्रोपाटकिन। क्रोपाटकिन कहते हैं, "जाओ, जनता में बिखर जाओ, उसके भीतर जाकर रहो; उसे शिक्षित बनाओ और उसका विश्वास प्राप्त करो।" क्रोपाटकिन के अनुसार सबके सुख का उपाय है—निःसम्पत्तीकरण। विपुलधन, नगर, भवन, गोचर भूमि, खेती की जमीन कारखाने, जल और स्थल-मार्ग तथा शिक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे और एकाधिकार प्राप्त लोग इनका स्वेच्छापूर्वक उपभोग न कर सकें। **क्रोपाटकिन** ने

कहा है कि संसार में जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम ये सुविधायें अवश्य प्राप्त हो जाँय—पहली, सब कोई उपयोगी धंधा सीख-कर उसमें प्रवीण हो सकें। दूसरी, वह बिना किसी मालिक की आज्ञा के और बिना किसी भू-स्वामी को अपनी कमाई का अधिकांश भाग अर्पण किये स्वतंत्रता पूर्वक अपना रोजगार कर सके। सभी सम्पत्ति सम्मिलित उत्पादन के काम में आयेगी।

क्रोपाटकिन के मत से मानव जाति पर शासन करनेवाले कानून इन तीन श्रेणियों में आते—सम्पत्ति की रक्षा के कानून, सरकार की रक्षा के कानून और व्यक्ति की रक्षा के कानून। यदि हम तीनों का पृथक, पृथक विश्लेषण करें तो हम देखेगें कि वे पूर्णतः व्यर्थ हैं और उतना ही नहीं, हानिकर भी हैं। वे मानते हैं कि समाज का विकास स्वतः स्वाभाविक रीति से होता है, पर राज्य की स्थापना कृत्रिम रूप से होती है और वह वर्गहितों की ओर सतत ध्यान रखता है।

इस परम्परा में रस्किन का प्रमुख स्थान है, जिसने कि गांधी जी को सर्वाधिक प्रभावित किया। कला के पुजारी रस्किन ने जीवन की समस्याओं पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार किया है। वे शास्वत मूल्यों पर ही सबसे अधिक बल देते हैं। रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' ने गांधी जी को सर्वाधिक प्रभावित किया। रस्किन ने कहा है—(१) हर आदमी के लिए शरीर श्रम करना अनिवार्य रहे। (२) हर आदमी के लिए काम रहे। न कोई आलसी रहे, न कोई वेकार। (३) श्रम की मजदूरी का आधार माँग और पूर्ति की कमी-वेशी न रहे। मुनाफा लक्ष्य न रहे, वल्कि सबको समान एवं जरूरत के अनुसार मिले। (४) सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो। (५) शिक्षा का सर्वोच्च स्थान हो। रस्किन कहते हैं कि समाज की समस्त बुराइयों की जड़ है—पैसा। पैसा जीवन का लक्ष्य बनाना मूर्खता है। वह पापपूर्ण भी है। सोने का अम्बार लगाने से क्या फायदा?

इस परम्परा के अन्तिम बड़े विचारक हैं—टालस्टाय। उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने हाथ से श्रम करके, उद्योग कर ही जीवन व्यतीत करना चाहिए। समाज की असमानता को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित बातें जरूरी हैं—

(१) जमीन पर किसानों का स्वतन्त्र अधिकार रहे।

(२) इसके लिए किसान, मजदूरों को चाहिए कि वे असहयोग करें। इस असहयोग की प्रेरणा गांधी जी को टालस्टाय से ही मिली और असहयोग गांधी मार्ग का प्रमुख साधन बन गया।

(३) किसान समझ लें कि जमीन भी हवा, पानी एवं सूर्य की भाँति है—किसी व्यक्ति की नहीं।

(४) इस उद्देश्य प्राप्ति का मार्ग है—सत्याग्रह, असहयोग और अहिंसा।

यह है बर्नस्टाइन, रस्किन, क्रोपाटकिन एवं टालस्टाय की विचार धारा। यह स्वयं सिद्धविचार है कि इन विचारकों ने जो विचार रखे वे सभी गांधी विचारधारा के मूल में है। गांधी जी ने विशेष रूप से रस्किन एवं टालस्टाय से काफी प्रेरणा ली। टालस्टाय से उनका व्यक्तिगत परिचय भी था और टालस्टाय स्वयं गांधी जी के विचारों से प्रभावित थे।

मार्शल

अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र क्या है? क्या अर्थशास्त्र केवल धन का विज्ञान है? आदि समस्यायें प्रारम्भ से आज तक प्रश्न ही बनी हैं। प्रारम्भ में अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान माना गया, परन्तु हर युग में ऐसे विचारकों का प्रभाव बना रहा जो कि अर्थशास्त्र को नीति एवं धर्म से जोड़ते रहे। परन्तु भौतिकवादी अर्थशास्त्रियों का प्रभाव अधिक रहा। मार्शल आधुनिक युग के सबसे अधिक प्रभावशाली अर्थशास्त्री माने जाते हैं। जिन्होंने अर्थशास्त्र के हर पहलू पर विचार व्यक्त किये। उसकी मौलिक देन तो कम हैं, परन्तु इन्होंने पुराने विचारों को इस ढंग से पेश किया कि वे बिलकुल नवीन हो गये।

अदम स्मिथ ने अर्थशास्त्र को 'सम्पत्ति का विज्ञान' बताया था। रस्किन और कार्लाइल जैसे विचारकों ने नैतिकता पर जोर देते हुए कहा था कि अर्थशास्त्र मानव-मस्तिष्क में गन्दी मनोवृत्ति भरने वाला 'काला शास्त्र' है, 'कुबेर का विज्ञान' है। मार्शल ने इन दोनों परस्पर विरोधी धारणाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्ठा की। मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र है—व्यक्तियों के सामाजिक कार्यों का अध्ययन। पर सभी कार्यों का अध्ययन नहीं, केवल उन कार्यों का

अध्ययन जो जीवन की भौतिक वस्तुओं के साथ सम्बद्ध हैं। मार्शल अर्थशास्त्र को सदा स्थिर रहनेवाला शास्त्र नहीं मानते हैं। इनके नियम प्राणीशास्त्र की भाँति हैं, लहरों के नियम की भाँति उनमें परिवर्तन होता रहता है। मार्शल मानवतावाद के समर्थक हैं।

यहाँ स्पष्ट है कि मार्शल ने अर्थशास्त्र को समन्वय की दृष्टि से देखा। उन्होंने उसे मानवतावादी बनाने का प्रयास किया, पर वे भौतिकता एवं औद्योगीकरण के विचारों को न छोड़ सके। मार्शल एवं गांधी जी के विचारों में विशेष साम्य खोजना उचित नहीं है। हाँ, मर्शल में जहाँ तक मानवतावादी दृष्टिकोण एवं जीवन के व्यावहारिक पहलू का विवेचन है, वह गांधी-विचार से मेल खाता है। गांधी जी मौलिक विचारक थे और उन्होंने सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के महत्व का निर्माण सत्य और अहिंसा पर किया।

केन्स

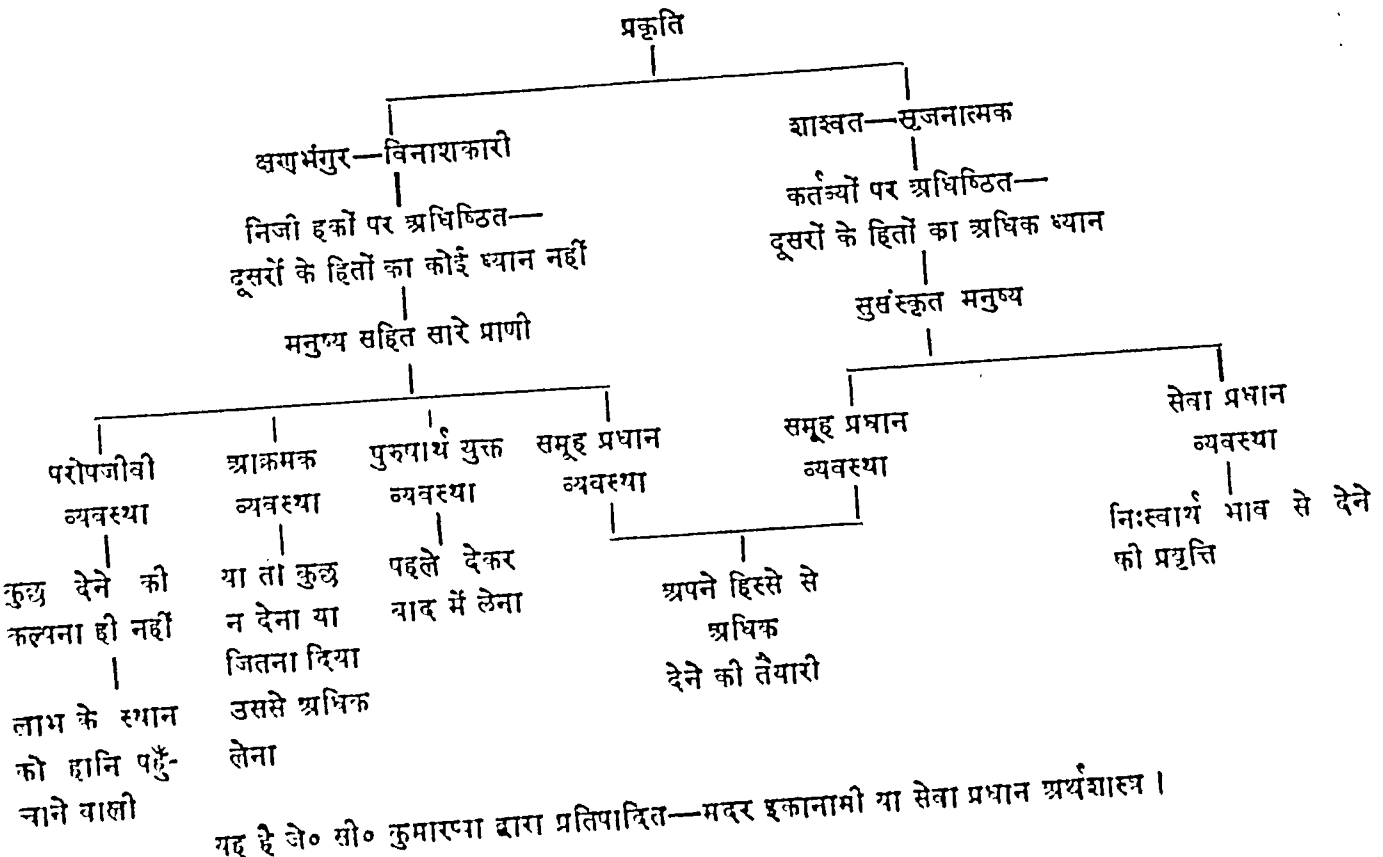
अर्थशास्त्र की आधुनिकतम धारा है—सम्पूर्णदर्शी विचारधारा। अभी तक के अर्थशास्त्री समस्याओं के अध्ययन का केन्द्र-विन्दु बनाते थे व्यक्ति; उनका अर्थशास्त्र था सूक्ष्मदर्शी अर्थशास्त्र। केन्स ने इस धारा को उलट दिया। उसकी विचारधारा का नाम है—सम्पूर्णदर्शी विचारधारा (Macro-Economics)। उसमें व्यक्तियों और वर्गों का अन्तर भुलाकर सभी व्यक्तियों के सम्पूर्ण कार्यों—सम्पूर्ण आय, सम्पूर्ण उपभोग, सम्पूर्ण विनियोग, सम्पूर्ण रोजगार के अध्ययन पर बल दिया जाता है। केन्स की प्रमुख विचारधारा है पूर्ण रोजगार की। किसी भी व्यवस्था को तभी उत्तम कहा जा सकता जब कि वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार दे सके।

जहाँ तक गांधी जी का सवाल है उन्होंने पूर्ण रोजगार को दृष्टि में रखकर भारत में विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की योजना प्रस्तुत की है। भारत में जनशक्ति अधिक है और भौतिक पदार्थ कम है। अर्थात् यहाँ वही योजना सफल हो सकती जो मानव शक्ति का ज्यादा से ज्यादा उपभोग कर सके। केन्स ने पूर्ण रोजगार के लिए उद्योगों का निर्माण, सड़कों का निर्माण एवं अन्य निर्माण की योजना रखी। केन्स पश्चिमी अर्थशास्त्री रखी थे जहाँ की परिस्थिति एवं समस्यायें भारत से भिन्न थीं अतः उन्होंने न

तो औद्योगीकरण का विरोध किया न बड़ी मशीनों का। परन्तु भारत की परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। गांधी जी ने भारतीय परिस्थिति के अनुसार अर्थ रचना की बात की। यहाँ की अर्थ रचना का आधार होगा—विकेन्द्रीकरण। यहाँ बड़े उद्योगों के स्थान पर होंगे—छोटे उद्योग। अतः पूर्ण रोजगार की विचारधारा के सम्बन्ध में गांधी जी एवं केन्स में साम्य ढूँढा जा सकता है। परन्तु गांधी जी केन्स से काफी आगे थे। उन्होंने मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया और कहा कि जीवन को विभाजित नहीं किया जा सकता। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी समस्याओं का समाधान समग्रता की दृष्टि से खोजना होगा। इसीलिए उन्होंने अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र का अंग माना। गांधी जी ने कहा कि आर्थिक नियम नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित होगा।

इस प्रकार अन्ततः हम देखते हैं कि प्रारम्भिक युग से आज तक अर्थशास्त्रियों की इस लम्बी परम्परा में ऐसे विचारकों का बड़ा समूह हमेशा रहा है जो कि अर्थशास्त्र को नैतिक, समाजिक एवं धार्मिक मूल्यों पर आधारित रखना चाहता है। गांधी जी इस परम्परा में सूर्य के समान हैं, और इन्होंने अर्थशास्त्र को एक नया मोड़ दिया है। आज तक इस प्रकार की विचारधारा में समग्रता से विचार नहीं किया गया था और न तो अहिंसक समाज की स्पष्ट एवं पूर्ण रूपरेखा ही पेश की गयी थी। वह काम महात्मा गांधी ने किया। गांधी जी ने एक ऐसे अहिंसक समाज की रूपरेखा पेश की जिसमें सम्पूर्ण मानव विभूति होगा। उसका आधार होगा—सत्य और अहिंसा, उसका मार्ग होगा—सत्याग्रह और असहयोग। हम देखते हैं कि किस प्रकार आर्थिक विचारधारा में उतार चढ़ाव आता रहा और जीवन पद्धति एवं विचार बदलता रहा। हमेशा भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का संघर्ष होता रहा है। आज ऐसी स्थिति आ गयी है जब कि लोग पूर्ण भौतिकता की असफलता को समझने लगे हैं और एक नयी मानवीय व्यवस्था की खोज होने लगी। वह व्यवस्था है गांधी जी द्वारा प्रतिपादित—'सर्वोदय' की।

गांधी विचारधारा की परम्परा में उनके विचारों के नूतन अर्थशास्त्रीय विवेचन कर्त्ता हुए जे०सी० कुमारप्पा। उन्होंने अर्थशास्त्र के विवेचन में एक नया मार्ग दिखाया। जे० सी० कुमारप्पा वर्तमान अर्थशास्त्र को लूट खसोट का अर्थशास्त्र कहते हैं। उन्होंने ऐसी अर्थ व्यवस्था की रूप रेखा प्रस्तुत की जो



यह है जे० सी० कुमारप्पा द्वारा प्रतिपादित—मदर इकानामी या सेवा प्रधान अर्थशास्त्र।

११

स्थायी हो। उन्होंने कहा कि प्रकृति में पाँच प्रकार की व्यवस्थायें है—(१) परोपजीवी व्यवस्था (२) आक्रमक व्यवस्था (३) पुरुपार्थयुक्त व्यवस्था (४) समूह प्रधान व्यवस्था और (५) सेवा प्रधान व्यवस्था।

जे० सी० कुमारप्पा कहते हैं कि सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था ही स्थायी होगी। इसी को उन्होंने मातृप्रधान अर्थव्यवस्था कहा। गांधीजी ने इसे पारिवारिकरण कहा। यह सेवा प्रधान अर्थशास्त्र वही होगा जिसे महात्मा गांधी ने हमारे सामने रखा। प्रो० जे० सी० कुमारप्पा की अर्थ-व्यवस्था को उपरोक्त सारणी से समझ सकते हैं।

प्रो० जे० के० मेहता

प्रो० जे० के० मेहता जो इस युग के मान्य अर्थशास्त्री हैं। देश-विदेश में आर्थिक सिद्धान्त के पण्डित माने जाते हैं, उन्होंने अपनी अर्थशास्त्र की परिभाषा में आवश्यकता विहीन स्थिति का जो विश्लेषण किया है और सादे जीवन और मर्यादित आवश्यकताओं का जो दर्शन हमारे समक्ष रखा है, मनुष्य और वस्तु के स्वास्थवर्धक उपयोगिता का सम्बन्ध निरूपित किया है वह सब गांधी जी के आर्थिक दर्शन के तात्विक आधार हैं। यही नहीं प्रो० मेहता ऐसे विद्वान अर्थशास्त्रियों के विचारों से तदात्म रखते हुए ब्रिटेन और अमेरिका के भी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं जो इसी दिशा में तेजी के साथ सोच रहे हैं। रिचर्ड वी० ग्रेग, वेलक, शुमाखेर ऐसे अर्थशास्त्री आज विश्व की सभ्यता और संस्कृति के रक्षार्थ और भावी मानव समाज के कल्याणार्थ इसी दिशा में सोच रहे हैं जिस दिशा में गांधी जी ने हम सबको चलने का सन्देश दिया है। इसलिए गांधी जी सभी विचारों को समन्वित करके एक सही विचार मानव समाज के समक्ष रखकर सावधान कर रहे हैं। हमें गांधी ऐसे अर्थशास्त्री के विचारों के अनुकूल चलना ही पड़ेगा क्योंकि यह विचार युगों से आये हुए आर्थिक विचारों के समान ही है।

क्या गांधी जी अर्थशास्त्री थे ?

हमारे भौतिक जीवन को नयी दिशा देने का काम जिन मनीषियों ने किया उन्हें हम अर्थशास्त्री कहते हैं। गांधी जी ने हमारे भौतिक जीवन को एक नयी दिशा दी है इसलिए उन्हें अर्थशास्त्री कहने में संकोच नहीं

होना चाहिए। परन्तु जब हम परम्परागत अर्थशास्त्रियों के ढाँचे में या अन्य प्रकार के अर्थशास्त्रियों के ढाँचे में उन पैमानों का सहारा लेकर जो अर्थशास्त्री के लिए आवश्यक हैं गांधी जी को फिट करने का प्रयास करते हैं तो गांधी जी इस ढाँचे में फिट ही नहीं होते। यह परेशानी अर्थशास्त्रियों के लिए ही नहीं है बल्कि सभी शास्त्रों के लिये हैं अर्थशास्त्र में अध्यात्मिकता, नैतिकता और धर्म के लिए गांधी का विचार उन्हें अर्थशास्त्रियों के कोटि से बाहर रख देता है। गांधी जी को एक आध्यात्मिक पुरुष की संज्ञा से हम उन्हें आध्यात्मशास्त्री और धर्मशास्त्री कहकर टाल देते हैं। पुनः जब हम गांधी को धर्मशास्त्रियों; आध्यात्मशास्त्रियों के ढाँचे में फिट करते हैं तो वहाँ भी गांधी फिट नहीं होते हैं क्योंकि वहाँ दरिद्रनारायण की वे पूजा करते हैं; भूखे की रोटी में भगवान को देखते हैं, पायखाने और मलमूत्र की सफाई को वे यज्ञ मानते हैं, सूत्रयज्ञ उनके जीवन की नित्यक्रिया में आता है, ऐसी स्थिति में दुनिया के इतिहास में जितने आध्यात्मवादी या धर्मशास्त्री हुए हैं उनमें गांधी विचित्र स्वरूप लेकर आते हैं। पुनः जब दुनिया के मसीहों में या धर्मप्रवर्तकों में गांधी को ले जाकर हम देखना चाहते तो उस चौखट में भी गांधी नहीं बैठ पाते हैं। बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद की पंक्ति में यदि गांधी को हम बैठा देते हैं तो वहाँ भी ये नहीं बैठ पाते क्योंकि इन धर्मप्रवर्तकों ने मनुष्य के केवल एक पहलू को देखकर और उसी पहलू को लेकर मानव समाज को उच्च सीमा पर लाने का प्रयास किया, परन्तु गांधी ने तो मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को समग्र रूप से देखा।

पुनः जब हम गांधी को सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दानी शिव एवं दधीचि, अहिंसावादी अशोक के बीच खड़ा करना चाहते हैं तो गांधी उस चौखटे में भी फिट नहीं होते। क्योंकि जिन, सत्य, करुणा, अहिंसा, दान, प्रेम के मानवीय गुणों के ये प्रतीक हैं वे गुण इन महापुरुषों के जीवन तक ही सीमित थे, इन लोगों की मृत्यु के उपरान्त वे तिरोहित हो गये। परन्तु गांधी जी ने इन गुणों को केवल वैयक्तिक जीवन तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उन्हें सामाजिक गुण बना दिया। वैयक्तिक और सामाजिक भेद समाप्त हो गये। इस विचित्रता के कारण गांधी वहाँ भी नहीं फिट होते हैं।

पुनः जब हम गांधी को राजनीतिज्ञों में खड़ा करना चाहते हैं तो दुनिया

के राजनीतिज्ञों से एक विचित्र स्वरूप गांधी का प्रकट होता है। उनकी राजनीति नैतिकता और धर्म से अलग की कोई वस्तु ही नहीं। राजशास्त्र की प्रचलित सारी मान्यताओं में एक विचित्र परिवर्तन गांधी के राजशास्त्र में पाया जाता है। इस देश में एक राजनीति का उन्होंने सञ्चालन किया, लेकिन दुनिया में ऐसे अहिंसक, धर्मपूरित, नैतिकता से ओतप्रोत राजनैतिक आन्दोलन विश्व के इतिहास में कहीं नहीं पाया जाता। इसलिए गांधी राजनीतिज्ञों के चौखट में नहीं बैठ पाते।

पुनः जब हम गांधी को समाजशास्त्री के रूप में देखना चाहते हैं तो उसमें भी गांधी समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं में नहीं बैठ पाते। बाल विवाह, विधवा विवाह', नशाबन्दी, समाज रचना, सामाजिक मूल्य इन सारी समस्याओं को उरेहने वाला गांधी एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री नहीं बन पाता। पुनः जब हम उनकी कृतियों द्वारा उन्हें वैज्ञानिकों, डाक्टरों, इंजीनियरों की कोटि में रखना चाहते हैं तो वहाँ स्वास्थ्य के सभी नियमों का प्रयोग करते हुए, रोगी का उपचार करते हुए, उद्योग, खेती, पशुपालन आदि का प्रयोग एवं आविष्कार करते हुए भी गांधी इस चौखट में नहीं बैठ पाते। क्योंकि वे इन सबमें मानवता के, मनुष्यता के गुणों—प्रेम, करुणा; सत्य, अहिंसा को देखते रहते हैं। परन्तु करुणा मूलक, कल्पनाओं, रचनाओं और दरिद्र, दुःखी, दीन मानव के कपोलों में गुलाब की लाली, उनकी वाणी में कोकिल की मधुरता, उनके व्यवहार में प्रकृति का सौन्दर्य देखने के लिए विह्वल गांधी साहित्यकारों की कोटि से भी अलग दिखाई देते हैं।

ऐसी परिस्थिति में गांधी क्या हैं? यह निश्चय करना असम्भव सा प्रतीत होता है। जो व्यक्ति पायखाने से लेकर परमात्मा तक की विशाल परिस्थिति का अन्वेषण करता है, निदान करता है और मानव को समाधान देता है, उसे किसी एक विशेषीकरण के संकुचित दायरे में बांधना कठिन सा प्रतीत होता है। गांधी एक समग्र मनुष्य थे इसलिये उन्होंने समग्र मानव को देखा और उन्हें किसी एक टुकड़े में नहीं बांटा जा सकता है। इसलिए गांधी पूर्ण थे, उनकी दृष्टि पूर्ण थी और उनके समाधान भी पूर्ण थे। इसलिए पूर्ण मानव को, हम अपूर्ण मानव नहीं समझ पाते हैं। वे एक क्रान्तिकारी युग पुरुष थे। क्रान्तिकारी के जो भी लक्षण होते हैं वे सब उनमें हैं। मनुष्य को केन्द्र बिन्दु मान कर सारी प्रकृति तथा सारी प्राकृतिक शक्तियों, सारी सामाजिक शक्तियों को मानव

के लिए मानवीय मूल्यों के आधार पर गांधीजी ने प्रदान किया है। इस शाश्वत मूल्य के कारण एक शाश्वत समाज एवं उसके शाश्वत धर्म की वे कल्पना कर सके हैं। हम सब जो अपना धर्म, स्वधर्म, युगधर्म, अल्पकालीन धर्म के उपासक एवं पुजारी हैं इसलिए वहां तक नहीं पहुँच पाते और गांधी के समाधान को अव्यावहारिक आदर्शवादी कह कर टाल देते हैं। यह गांधी का दोष नहीं बल्कि हमारे अज्ञान, संकीर्णता, स्वार्थ परता का दोष है। गांधी धर्मशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, साहित्य शास्त्र सभी का विवेचन मानवता को केन्द्र में रख कर करते हैं। इसलिए हम उन्हें पूर्ण अर्थशास्त्री मानते हैं क्योंकि उन्होंने इस भौतिक जगत के प्राणियों के लिए आचार संहिता भौतिक जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए बनायी है। इसलिए हम उन्हें एक पूर्ण अर्थशास्त्री कह सकते हैं। इस प्रकार से अर्थशास्त्र के उस व्यापक क्षेत्र को गांधी जी ने अपनाया है जो मानव कल्याण का क्षेत्र है।

इस मानव क्षेत्र को लेकर दुनियां के मनीषियों और विचारकों ने बहुत विचार-विमर्श किया है। इतने समुद्र मन्थन के उपरान्त भी जिन भौतिक और मानवीय सम्बन्धों का निर्धारण किया गया। उन्हें हम केवल दो वाक्यों में कह सकते हैं। प्रथम वाक्य ईसा का है, "मनुष्य केवल रोटी के लिए नहीं जीता है।" दूसरा वाक्य करुणा के अवतार मार्क्स का है, "मनुष्य केवल रोटी से ही जीता है।" यही कारण था कि आज तक मानव समाज को कोई सही मार्ग नहीं प्राप्त हो सका। ऊहापोह की स्थिति में मानव विज्ञान का अंचल पकड़ कर भौतिकता की खोज में बढ़ते बढ़ते एटम बम ऐसे विध्वंसक अन्वेषण की स्थिति में पहुँच गया। राजसत्ता, सामाजिक व्यवस्था का अंचल पकड़ कर मानव आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक पद्धतियां खोजते खोजते पूँजीवाद, नाजीवाद, साम्यवाद तक पहुँच गया। राजसत्ता और विज्ञान के सहारे मनुष्य उचित और निर्दिष्ट स्थल तक अभी नहीं पहुँच सका। प्रारम्भ से ही ऊबा हुआ, दुखी व्यक्ति, मानवीय गुणों को परिष्कृत करता हुआ, अध्यात्म की छोर पकड़ कर मन्दिर, मस्जिद, गिरजा घरों तक पहुँचा और वे सबके सब कर्मकांड की जटिलता में फँस कर सही मार्ग न दे सके। व्यक्ति का व्यक्तित्व, करुणा, प्रेम, सत्य और अहिंसा से स्वच्छ और धवल होता रहे और इन गुणों का प्रतिबिम्ब एक नये

मुक्त समृद्धिशील उन्हीं गुणों से पूरित सामाजिक पद्धति हो तथा विज्ञान की सारी उपलब्धियाँ भय, त्रस्त, शोषण से मुक्त हो कर प्रेम के प्रसार और संवर्धन में सहायक हों, ताकि मनुष्य, समाज और प्रकृति के सम्बन्ध एक ही गुणों से प्रेरित हो। इसलिए तीसरा वाक्य जिसे गाँधी ने कहा, "मनुष्य को रोटी भी चाहिए।" यहाँ पर उन सब मानवीय आध्यात्मिक गुणों से भौतिकता में प्राण प्रतिष्ठा गांधीने की है और यही सम्बन्ध शाश्वत है, गुणमूलक, और सुखमूलक हैं। गांधी एक बड़े व्यावहारिक अर्थशास्त्री हैं।

मनुष्य, प्रकृति और समाज के सम्बन्धों के निरूपण को लेकर गांधी जी के विचारों की तुलना मार्क्स के विचारों से की जाती है। मार्क्स भी निः सन्देह मजदूरों की असमर्थता, दीनता, शोषण को देख कर तिलमिला उठा था और उसका करुण हृदय उफानों और तूफानों से इतना विक्षुब्ध-मय हो गया था कि उसने अपने विचारों से साम्यवादी व्यवस्था का चित्रण कर डाला। गांधी में भी करुणा स्थल हैं लेकिन इस करुणा में प्रेम, अहिंसा, के मानवीय गुण ऐसे अनुस्यूत हैं कि मार्क्स और गांधी के प्रेरणा-स्थल करुण रस के होते हुए भी गांधी ने एक मानवीय कला का सृजन किया और मार्क्स के सोने में गांधी ने सुगन्ध डाल दी है। करुणा एवं प्रेम की यह सुगन्ध मानवीय सुगन्ध बन कर गांधी के साम्य-योग में प्रस्फुटित हुई। मार्क्स साम्यवादी हैं गांधी साम्ययोगी। इसलिए जो अन्तर "वाद" और "योग" में होता है वह गांधी और मार्क्स में है। गांधी जी ने स्वयं कहा, "साम्य वाद एक सुन्दर शब्द है और जहां तक मैं जानता हूँ इसमें समाज के सभी सदस्य समान होते हैं, न कोई नीच होता है न कोई ऊँचा। शरीर में सिर ऊपर है इसलिए वह ऊँचा नहीं माना जाता है और न पैर नीचा होने से नीचा। इसी प्रकार साम्यवादी समाज में सब समान माने जाते हैं। उसमें राजा, प्रजा, धनी गरीब, मालिक मजदूर, सब एक स्तर पर रहते हैं। साम्यवाद स्फटिक की भांति पवित्र है। उसके लिए साधन भी उतने ही पवित्र चाहिए। यह पवित्र स्थिति पूर्ण पवित्रता से ही प्राप्त की जा सकती है। अतः केवल सत्यवादी, अहिंसक और पवित्र हृदय वाले साम्यवादी ही भारत तथा विश्व में साम्यवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं।"[1] मार्क्स

---

१. दिल्ली ७ जुलाई १९४७।

बड़े विचारक थे। मानवीय विचारों की गंगा में मार्क्स हरिद्वार हैं तो गांधी प्रयाग। मार्क्स के बाद गांधी आये इसलिए मार्क्स की श्रृंखला में गांधी का विचार आगे बढ़ता है। गांधी सत्य अहिंसा की तपोभूमि भारत में उत्पन्न हुए परन्तु मार्क्स भौतिकता से क्षुब्ध औद्योगिक क्रान्ति से विह्वल उसकी उपलब्धियों से आशान्वित संहार की हिंसक धरती पर जन्मे, इसलिए धरती का भेद, युग का भेद दोनों को साम्ययोगी और साम्यवादी भेद में डाल दिया। परन्तु दोनों हैं महान् क्रान्तिकारी।

गांधी युग की भूमिका

सभ्यता का इतिहास स्वतन्त्रता प्राप्ति का इतिहास माना जाता है। मानव तीन प्रकार की मुक्ति चाहता है। प्रथम अभाव से मुक्ति, द्वितीय अज्ञान से मुक्ति, तृतीय अन्याय से मुक्ति। मानव की उन्नति और विकास का लक्ष्य स्वतन्त्रता है। प्राचीन युग में जाति, रीति-रिवाज, धर्म के बन्धन स्वतन्त्रता प्राप्ति के मार्ग में मानव के लिए बाधक सिद्ध हुये। आगे चलकर राजा, महाराजा, अमीर-उमरा, पंडित, पुरोहित, मालिक इत्यादि बाधा बनकर समाज में उत्पन्न हो गये। इन सामाजिक रोगों के अतिरिक्त बीमारी, दरिद्रता, दुर्भिक्ष, बाढ़ तथा अन्य प्रकार की दैहिक, दैविक तथा भौतिक बाधायें भी मानव की स्वतन्त्रता में बाधक सिद्ध होने लगीं। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का स्वरूप धूमिल पड़ गया। धार्मिक क्रान्तियाँ हुईं, उनका मन्तव्य जीवन मूल्यों तथा आध्यात्मिक भावनाओं में परिवर्तन करना था और जिसका प्रभाव आर्थिक जीवन पर पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुआ। गौतमबुद्ध ने सबके लिए निर्वाण का मार्ग प्रस्तुत किया और जीवन के प्रत्येक पहलू पर उनकी विचारधारा का प्रभाव पड़ा जिससे नये जीवन मूल्य, नया सामाजिक ढाँचा, दर्शन, साहित्य, राजनीति, कला तथा व्यवस्था का जन्म हुआ। इसी प्रकार से ईसामसीह तथा मुहम्मद साहब ने भी परिवर्तन का आध्यात्मिक पक्ष अपनाया परन्तु उसका प्रभाव जीवन के सभी पहलुओं पर पड़ा। आर्थिक जीवन भी प्रभावित हुआ परन्तु आर्थिक ढाँचे का बुनियादी स्वरूप बना ही रहा, यद्यपि अन्य सामाजिक जीवन के पहलू बहुत कुछ परिवर्तित हुये। ये धार्मिक विचार आगे चलकर कुछ विवेकी पुरुषों के ही आचार मात्र रह

गये। साधारण लोग उससे दूर हो गये। इसलिए वे विचार शक्तिहीन हो गये। ये विचार अपनी सच्ची आत्मीयता खोकर खोखले बन गये। एक नारे के रूप में जातीयता के पोषक बने। साथ ही साथ समाज को हिंसा तथा शोषण की ओर ले गये। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक वर्ग दूसरे वर्ग का और एक देश दूसरे देश का शोषण करने लगा। यहीं से हिंसा और असत्य का उग्र रूप बढ़ा। आर्थिक जीवन के विकास की ओर दृष्टिपात करने पर दास प्रथा का स्वरूप सामने आता है। यहाँ हम मानव के श्रम का अर्थात् शरीर का शोषण पाते हैं, साथ ही साथ आत्मा का भी शोषण पाते हैं। मानव के शरीर तथा आत्मा दोनों का शोषण प्रारम्भ होता है। दोनों के शोषण से मुक्ति पाना मानव का लक्ष्य है। सहयोगिता के आधार पर जीवन का साधन प्राप्त करके स्वच्छन्दता पूर्वक जीवन चलाना मानव ने प्रारम्भ करना चाहा। इसी बीच प्रतियोगिता ने संघर्ष को जन्म दिया। संघर्ष से क्लान्त होकर आत्म-रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की गयी। राजा ने सैनिक बल से तथा सामन्तों की सहायता से समाज में शक्ति स्थापित करने का व्रत लिया। कालान्तर में रक्षक राजतन्त्र-शक्ति, भक्षक बन गई। जन-स्वतन्त्रता का पूर्ण अपहरण हो गया। इससे ऊब कर राकीसपीर, सेंट जस्ट आदि ने फ्रांस में विस्फोट का आयोजन किया। राजतन्त्र समाप्त हुआ। अब फ्रांस में पूँजीवाद तथा केन्द्रित लोकसत्ता की स्थापना हुई। प्रथम जनक्रान्ति से भी मानव मुक्त न हुआ। उसने प्रजातन्त्र का रूप स्थापित किया। परन्तु उस पर भी नियन्त्रण पूँजीवाद का हो गया। जेम्सवाट द्वारा वाष्पशक्ति का आविष्कार हुआ। इसने एक केन्द्रित यान्त्रिक उत्पादन पद्धति को बढ़ावा दिया। पूँजीवाद के उग्र स्वरूप ने राजसत्ता पर अधिकार जमा लिया। अब राजसत्ता तथा आर्थिक सत्ता दोनों पर कुछ धनी पूँजीवादी लोगों का बोलबाला हुआ। मानव राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों स्वतंत्रता खो बैठा। मानव की इस विह्वलता का प्रथम विस्फोट रूसी क्रान्ति में हुआ। पूँजीवादी युग ने अपने अनुकूल साहित्य, कला, दर्शन तथा अन्य प्रकार के सांस्कृतिक ढाँचे का निर्माण कर लिया था परन्तु उन मूल्यों तथा दर्शनों में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। रूसी क्रान्ति आर्थिक क्रान्ति का संदेश देती है। इसके पीछे कार्लमार्क्स सरीखे विचारकों का दर्शन था। रूस में नई क्रान्ति का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। यही नहीं सामाजिक न्याय, सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण

का रूप लेकर सामाजिक नियंत्रण में विश्व के प्रत्येक अंचल में यह विचार पनप रहा है। रूस तथा चीन में इसका पूर्ण प्रयोग किया जा रहा है। यह परिणाम था, उस पूँजीवाद की नग्नविषमता, अत्यधिक समृद्धि के बीच अकिंचिनता, बाहुल्य के बीच दरिद्रता, प्रासादों के बीच झोपड़ियाँ तथा स्वतंत्रता के बीच प्रतिबन्ध आदि दोषों का। लोकतंत्र का अस्थि-पञ्जर मात्र अवशिष्ट रह गया है। एक दूसरे को हड़प जाने के लिए दो विकराल युद्ध हुये और अणुबम ऐसे आविष्कार का नग्नचित्र सामने आता जा रहा है। विज्ञान की दासता मानव ने पूर्ण रूप से स्वीकार कर ली है। मानव समाज में निर्णय व्यक्ति की इच्छाओं, अभिलाषाओं या आवश्यकताओं के अनुसार नहीं अपितु भौतिक परिस्थितियों के अनुसार किये जा रहे हैं। इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि मानव की सत्ता के होने न होने का निश्चय उसकी ज्ञानशक्ति नहीं करती, प्रत्युत उसकी सामाजिक सत्ता करती है। समस्त सामाजिक विकास का आधार उत्पादन, साधन और उनका स्वामित्व है। यह समाजिक विकास कला, विज्ञान, संस्कृति, दर्शन तथा मानव चरित्र का निर्माण करता है। मार्क्स इसलिए पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और राज्य को नष्ट करना चाहते थे; जिससे वर्ग विहीन समाज में न्याय, समानता तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता अक्षुण बनी रहे। इसीलिए हिंसात्मक पद्धति को अपनाना अच्छा माना गया, जिससे इस पद्धति का पूर्ण सर्वनाश हो सके। आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए मार्क्स पूर्णरूपेण उद्यत हुए। उनका प्रयोग शोषणहीन, वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना के रूप में रूस में हो रहा है परन्तु प्रयोग इतना अधकचरा-सा प्रतीत हो रहा है कि मानव की स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त होना कठिन-सा प्रतीत होने लगा है। यह इसलिए कि राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाने के कारण व्यक्ति सब प्रकार की स्वतंत्रता खो बैठेगा।

इसी प्रकार के युग में गांधीजी अपनी सर्वोदय विचार-धारा का क्रान्तिकारी संदेश लेकर आए। समाज रचना का नया कदम, नया स्वरूप हमारे सामने गांधीजी ने रखा है। इसके विश्लेषण के पहले यह देखना चाहिए कि गांधी जी एक अर्थशास्त्री थे या नहीं। क्योंकि समाज रचना का आर्थिक दृष्टिकोण परखना भी आवश्यक है। गांधी जी एक कुशल एवं व्यावहारिक अर्थशास्त्री थे। इसलिए उनकी समाज रचना का चित्र पूर्ण तथा सत्य है। अन्य अर्थशास्त्रियों की भाँति गांधी जी 'कम

काम ज्यादा दाम' या 'सस्ता खरीदो महँगा वेचो' या 'निर्जीव माँग और पूर्ति संतुलन' आदि के अमानवीय एकांगी रूप को अपनाने वाले नहीं हैं। इन्होंने मानवीय अर्थशास्त्रियों की श्रेष्ठ परम्परा अपनायी है। मानव-जीवन के समग्र विकास राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं व्यक्तिगत पहलू का पूर्ण ध्यान गांधी जी को है। आर्थिक जीवन एकांगी नहीं है। साथ ही साथ उनके आर्थिक सिद्धान्त हवाई नहीं हैं बल्कि सब विचार पहले आचार से पुष्ट करके निकले हैं। गांधी भारतीय परम्परा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पोषक होने के साथ-साथ पश्चिमी परम्परा के अर्थशास्त्रियों की परम्परा के भी पोषक हैं। फ्रांस के प्रकृतिवादियों की भाँति इन्होंने भी कृषि को सर्वोत्तम तथा उत्पादक पेशा माना है। उसी का विकास तथा सम्वर्द्धन समाज को सम्पत्तिशील बनाता है। उन्हीं के विचारों की भाँति इनका भी अर्थशास्त्र का विचार है। अदिम-स्मिथ के, प्राकृतिक मूल्य की भाँति ये भी किसी वस्तु के उत्पादन में जितना शारीरिक श्रम लगा हो वही उसका मूल्य है, के समर्थक हैं। इसीलिए शारीरिक श्रम की प्रधानता तथा महत्व इनके विचार का दृढ़ पहलू है। रस्किन् की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक की प्रेरणा से इन्होंने सर्वोदय विचार का सृजन किया। सामाजिक या मानवीय अर्थशास्त्र की जो विचार-धारा 'रस्किन्' और 'कार्लाइल' ने प्रस्तुत की उसके ये पोषक हैं। मानवीय अर्थशास्त्र के सृजन के लिए इन्होंने मानव के नैतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन का बड़ा ही सुन्दर समन्वय किया है। भूमि तथा ग्रामीण उद्योगों का 'सीताराम' की तरह मानव के जीवन के लिए स्मरणीय नाम दिया। इन्होंने अर्थशास्त्र को एक ऐसा शास्त्र माना जो मानव की शारीरिक तथा आध्यात्मिक भूख की तृप्ति करता है। वास्तविक अर्थशास्त्र की कल्पना गांधी जी ने की है। इसलिए गांधी जी को हम कल्याणवादी अर्थशास्त्री और सामाजिक वैज्ञानिक कहते हैं। नैतिक पहलू को वे कभी नहीं भूलते। साध्य तथा साधन की पवित्रता का ध्यान प्रतिक्षण रखते थे। प्रत्येक व्यक्ति नैतिकता की रक्षा करते हुए अपने आर्थिक सुधार की योजना, स्वयं प्रस्तुत करे, यही इनके विचार थे। सिसमण्डी' ने सामाजिक अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'नैतिकतत्व' की विस्तृत व्याख्या की है, और इसके महत्व को समाज में स्थापित करने का प्रयास किया है। गांधी जी ने भी सच्चे अर्थशास्त्री की भाँति इसी पहलू को विशेष प्रधानता दी है। 'प्राउधन' ने 'न्याय'

की विस्तृत व्याख्या में सम्पत्ति को चोरी माना है और बड़े ही कटु शब्दों का प्रयोग किया है। यही न्याय गांधी जी की अपनी शब्दावली में अहिंसा है। आर्थिक क्षेत्र में हिंसा-अहिंसा की व्याख्या न्याय को समक्ष रखकर इन्होंने चुभते हुए अर्थ में की है। 'सम्पत्ति चोरी' के स्थान पर 'याते-दारी' (Trusteeship) की शब्दावली बड़ी ही मार्मिक है। सबका अधिकतम कल्याण अर्थात् सर्वोदय दर्शन की इन्हीं भावनाओं को लेकर पूर्ण परिपक्वता इन्होंने प्रदान की है। जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिच-लिस्ट, की भाँति इन्होंने संरक्षण नीति की पुष्टि की है क्योंकि स्वतंत्रता की व्यापारिक नीति सब दोषों का कारण बनती है। कल्याणकारी समाज का लक्ष्य मानवीय अहिंसात्मक समाज की रचना करनी है। मानवीय आवश्यकतायें स्वास्थ्यकर हों तथा न्यूनतम हों। सादा जीवन उच्च विचार का दर्शन गांधी जी ने समाज के समक्ष रखा। ये विचार 'थोरियो' के विचार के अनुसार ही हैं। जिसमें भौतिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण ही आर्थिक स्वतंत्रता, स्वयं पूर्णता तथा तृप्ति की पूर्ण प्राप्ति करा सकता है। समाजवादी अर्थशास्त्री ही नहीं बल्कि कल्याणकारी अर्थशास्त्री तथा अन्य प्रकार के मानवीय अर्थशास्त्र की कल्पना करने वाले अर्थशास्त्री की भाँति गांधी जी अर्थशास्त्र के बड़े ही सुलझे हुए पंडित हैं। इन्होंने अर्थशास्त्र को नया ज्ञान तथा मार्ग दर्शन प्रदान किया। गांधी जी ने कार्लमार्क्स की आर्थिक विचारधारा में अधिक व्यापकता तथा मानवता का सृजन किया है। साध्य तथा साधन की पवित्रता से इन्होंने समाज को शान्ति तथा सुख का संदेश दिया है। बेकारी, शोषण, दरिद्रता, वितरण की विषमता, प्रतिस्पर्धा, साम्राज्य-लिप्सा इत्यादि का अन्त गांधी जी बड़े ही सरल तरीके से करा देते हैं। सामाजिक रोगों को समूल नष्ट करने में ये पूर्ण सफल होते हैं। सामाजिक रोगों के सबसे सफल निदान-कर्त्ता और निवारणकर्त्ता गांधी जी हैं। आज तक कोई ऐसा अद्भुत व्यक्ति विश्व में नहीं उत्पन्न हुआ जो गांधी जी की भाँति समग्र मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष का पंडित हो। भारतीय सार्वजनिक जीवन में उनका प्रवेश देश की दरिद्रता को देखकर ही हुआ। मध्यकालीन भूमि-व्यवस्था, रूढ़िग्रस्त सामाजिक पद्धति, भारतीय जनता की दरिद्रता, ह्रासोन्मुख उद्योग आदि आर्थिक समस्याओं को लेकर गांधी जी ने अपना कार्य-क्रम निश्चित किया। अर्थशास्त्र के उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व के सभी पहलुओं पर इन्होंने पूर्ण प्रकाश डाला है।

इसी से पूर्णतया मानना पड़ता है कि गांधीजी एक बड़े अर्थशास्त्री थे। पहले इन्होंने गरीबों की ही समस्या ली। इन्होंने पहले नमक कर का विरोध किया। उसके उपरान्त रचनात्मक कार्य-क्रम में खादी तथा ग्रामोद्योग का समावेश किया। इनका यह मत था कि जिस प्रकार व्यक्ति के चरित्र का गठन होता है उसी प्रकार समाज-व्यवस्था द्वारा समाज का भी किया जाता है। व्यक्तियों के आचार-विचार, आदर्श और जीवन पर ही समाज का गठन पूर्णतया निर्भर है। मानव के लिए भौतिक साधन आवश्यक है परन्तु वही सब कुछ नहीं है, कृषि तथा उद्योग का विकेन्द्रीकरण इनका लक्ष्य था। इससे पूँजीवादी स्वामित्व तथा नौकरशाही का स्वामित्व समाप्त हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति मुक्त वातावरण में अपने आर्थिक जीवन का निर्माण कर सकेगा। उसी का यन्त्र होगा, उसी के साधन होंगे, उसी के अनुकूल कार्य होंगे। सब प्रकार की विषमता तथा शोषण का अन्त होगा। यह पहले कहा जा चुका है कि गांधीजी का अर्थशात्र सत्य और अहिंसा के दो स्तम्भों पर खड़ा है। गांधी जी की समाज व्यवस्था और मानव विकास का चित्र, विकेन्द्रित उद्योगों, आर्थिक तथा राजनैतिक दोहन से मुक्त, समानता, स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र से ओत-प्रोत समाज, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सदाचारपूर्ण और आध्यात्मिक जीवन बिता सकता है, का ही है। मानव की आदि आवश्यकता उसकी भौतिक आवश्यकता है जिससे वह जीवित रह सके। उसकी अन्तिम आवश्यकता आध्यात्मिक आवश्यकता जिससे वह विकसित और अग्रसर हो सके। दोनों की प्राप्ति इस सर्वोदय व्यवस्था में होगी और तभी मानव की समग्र उन्नति होगी।

सर्वोदय शब्द की व्याख्या आवश्यक है। गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' पढ़ी। यह पुस्तक बाइबिल की एक कथा के आधार पर है। एक अंगूर के बगीचे के मालिक ने एक पेनी रोज पर कुछ मजदूर रखे थे। मजदूर अंगूर के बगीचे में काम करने लगे। दोपहर को जब वह मजदूरों के अड्डे पर गया तो देखा कुछ मजदूर खड़े हैं। उसने उन्हें भी बगीचे में काम करने के लिए भेजा और उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। तीसरे पहर जब वह पुनः मजदूरों के अड्डे पर गया तो फिर बेकार मजदूरों को देखा उन्हें भी बगीचे में काम करने को भेजा। शाम को वह पुनः मजदूरों के अड्डे पर गया तो बेकार मजदूरों को बैठा पाया तब उसने पूछा 'तुम

लोग यहाँ क्यों बेकार हो ?' मजदूरों ने उत्तर दिया 'हमें आज किसी ने काम पर नहीं लगाया'। तब बगीचे के मालिक ने उन्हें भी बगीचे में काम करने के लिए भेज दिया और उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। रात को सब मजदूरों को बुलाकर मजदूरी देने के लिए उसने मुनीम से कहा और सबसे पीछे आये हुये आदमी से मजदूरी शुरू करने को कहा। सबको एक पेनी मिली। प्रातःकाल से आये हुए मजदूरों को लगा कि उन्हें इसी हिसाब से अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए, परन्तु उन्हें भी एक पेनी मिली। इस पर उन्होंने मालिक से कहा कि सबसे पीछे आये हुये मजदूरों को भी एक पेनी मिली और सुबह से आये लोगों को भी एक पेनी मिली। हमको अधिक मजदूरी मिलनी चाहिए। बगीचे के मालिक ने कहा 'मैंने तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं किया क्योंकि एक पेनी रोज पर तुम्हें काम करना कबूल था वह तुम्हें मिला ही। अतएव घर जाओ। तुम्हें जितना दिया उतना ही अन्त वाले को भी दूँगा। जो चीज मेरी है, उसका उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार करने के लिए क्या मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ ? मैंने अच्छा बर्ताव किया इसका तुम्हें क्यों दुःख हो रहा है ? प्रथम व्यक्ति अन्तिम होगा और अन्तिम व्यक्ति प्रथम होगा, क्योंकि बहुत लोगों को बुलाने पर भी उनमें से थोड़े ही चुने जायेंगे।

रस्किन् ने इस पुस्तकों में चार निबंध लिखे हैं। इसमें सम्पत्ति की व्याख्या विशुद्ध रूप से की गयी है। ईमानदारी तथा सत्यता से सम्पत्ति कमाई जानी चाहिए तभी समाज चेतना पूर्ण तथा उन्नत होगा। डाक्टर, लेखक या सिपाही देश की जितनी सेवा करते हैं उतनी ही सेवा फावड़ा और कुदाल लेकर काम करने वाला मजदूर भी करता है। इस निबंध में 'सम्मान का मूल', सद्भावना और सहानुभूति आधुनिक अर्थशास्त्र की मान्यता, मालिक के कर्तव्य, 'सम्पत्ति की धारायें', अमीरी का अर्थ, सम्पत्ति और समाजद्रोह, नैतिक शक्ति, 'लौकिक न्यायदान', गरीबों का शोषण चोरी है, सम्पत्ति गरीबों की ओर बहनी चाहिए, विवेक का उपयोग, उचित पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए, स्पर्धा का दुष्परिणाम, 'मूल्य निर्धारण', वस्तु की उपयोगिता, मेहनत और बाजार का दर, श्रम की प्रेरणायें इत्यादि का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

गाँधीजी के शब्दों में रस्किन् की विचारधारा के तीन सूत्र हैं—

(१) व्यक्ति का श्रेय समष्टि के ही श्रेय में निहित होता है।

(२) वकील के काम की कीमत भी नाई के काम की कीमत के बराबर ही है, क्योंकि हर एक को अपने व्यवसाय में से अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

(३) मजदूर का अर्थात् किसान का अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट है।

'सर्वोदय' शब्द भारतीय संस्कृति की पद्धति में निहित है। सर्वोदय का यह आदर्श हमें अत्यन्त प्राचीन समय से प्रेरणा देता रहा है। जैनाचार्य सुमंतभद्र ने दो हजार वर्ष पूर्व इस भावना को यों व्यक्त किया है—सर्वापदामंतकरं निरंतं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव। गीता में योगी और भक्त के लक्षण में कहा गया है कि वह 'सर्वभूत हिते रताः' होता है। संसार के समस्त श्रेष्ठ सन्तों तथा धर्मसंस्थापकों ने इस आदर्श को सर्वश्रेष्ठ माना है। ऋषियों की हजारों वर्ष पुरानी प्रार्थना है कि –

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चित् दुखमाप्नुयात्॥

यह शब्द गांधी जी द्वारा प्रणीत है। आज यह नई प्रेरणा से नये समाज निर्माण में नये युग का सन्देश दे रहा है। अहिंसा और सत्य के आधार पर स्थापित वर्गविहीन और जातिविहीन तथा जिसमें किसी का कोई शोषण नहीं कर सकता और जिससे प्रत्येक व्यक्ति और समूह को सर्वांगीण विकास करने के अवसर और साधन प्राप्त हो सकते हैं, ऐसे समाज की स्थापना करना सर्वोदय समाज का साध्य है। अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण का पश्चिमी सिद्धान्त सर्वोदय नहीं मानता। जिस प्रकार से एक कुटुम्ब का मालिक कुटुम्ब के सब सदस्यों का कल्याण चाहता है, उसी प्रकार सर्वोदय सबके कल्याण में विश्वास करता है। मनुष्य का सारा जीवन समाज के पोषण से ओतप्रोत है। अस्तु उसके कार्यकलापों का हेतु भी समाज सेवा, समाज धारण और समाज समृद्धि ही होना चाहिए। समाज को शारीरिक और मानसिक योग्यता प्रदान करने के लिए शरीर बल और बुद्धि बल दोनों की समान मान्यता होनी चाहिए। दोनों का सामाजिक और आर्थिक मूल्य समान होना चाहिए। आर्थिक पूँजीवाद की अपेक्षा बौद्धिक पूँजीवाद समाज के लिए अधिक खतरनाक है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों और ब्राह्मणों ने ऐसा विधान बनाया कि बुद्धिजीवी लोग बुद्धि का विक्रय न करें, बल्कि

अस्तेय और अपरिग्रह का व्रत लें। इस सिद्धान्त को अपनाने से समाज की विषमता, ऊँच-नीच की भावना का लोप होगा, समाज एक रस मय होगा। यहाँ सर्वोदय, साम्ययोग की राह से प्राप्त किया जा सकेगा। व्यक्तियों के शारीरिक और बौद्धिक गुणों तथा सामर्थ्य में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, परन्तु सभी मनुष्य नैतिक तत्व या सत्य की अनुभूति में समान और एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सेवक-गुण से सम्पन्न होना चाहिए। व्यक्तिगत पवित्रता से अपने को शून्य में परिवर्तित कर देना, दुर्गुणों का सतत् विरोध करना, ऐसे साधन प्रस्तुत करना जो सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकें, व्यक्तिगत गुणों को सामूहिक शक्ति में बदल देना आदि कार्य से सच्चा सेवक बनना होगा। एकादश-व्रत – सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, शरीर-श्रम, सर्व धर्म समभाव तथा स्वदेशी भावना का नित्य पारायण करके आत्मशक्ति प्राप्त करना प्रत्येक समाज सेवक के लिये आवश्यक है।

पंचम-परिच्छेद

सर्वोदय

'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग सबसे पहले जैन मुनियों ने किया था। परन्तु गांधी जी को यह शब्द रस्किन की पुस्तक "अन्टू दिस लास्ट" से मिला। जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका की यात्रा कर रहे थे, उसी समय उन्हें यह पुस्तक पढ़ने को मिली और उसके बाद वे उसी के हो गये, इस पुस्तक के विचारों में ही रम गये और अन्त में "सर्वोदय" की कल्पना उनके दिमाग में आयी। गांधी जी ने 'अन्त्योदय' शब्द का प्रयोग गुजराती में किया था। उपनिषदों एवं अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय तो उसमें 'सर्वोदय' की भावना से मिलता-जुलता विचार सामने आता है।

अन्तिम व्यक्ति

(१) समाज की सबसे बड़ी उस संख्या को समाज का अन्तिम व्यक्ति कहा जाता है जो आर्थिक साधनों में विपन्न होते हैं। वे भौतिक रूप से भी अन्तिम व्यक्ति होते हैं। कार्लमार्क्स ने उन्हें 'हैनवाट' कहा है।

(२) समाज के ऐसे व्यक्ति जो सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित न हों।

(३) राजनैतिक सम्मान जिनका न हो या कम से कम हो।

(४) ऐसे व्यक्ति जो धार्मिक रूप से सबसे निम्नकोटि के हों, उपेक्षित हों।

(५) जिनका सांस्कृतिक जीवन पूर्ण अविकसित हो, व्यवहार एवं आचारपूर्ण न हो या यों कहें कि जो गैर सामाजिक हों।

(६) वे व्यक्ति जिनके मन में भाव-विचार हैं पर वे भाव-विचार शिक्षा की कमी के कारण पूर्ण नहीं हो पाते हों इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक रूप से जो निम्नकोटि का हो वही समाज का अन्तिम व्यक्ति है।

गांधी जी ने समाज के अन्तिम व्यक्ति से अपना जीवन दर्शन प्रारम्भ किया है। जो व्यक्ति अन्तिम व्यक्ति से ऊपर है उनको उन्होंने दूसरा घटक माना है। तीसरे घटक में उनसे अच्छे व्यक्ति एवं चौथे घटक में सबसे अच्छे व्यक्ति को माना है। इस प्रकार सबके उदय की बात करके गांधी जी ने समाज के इसी अंग को सबसे पहले विकसित करने का काम शुरू किया। गांधी जी के २१ रचनात्मक कार्यक्रमों में समाज के सबसे दीन, हर प्रकार से हीन व्यक्ति के विकास को लक्ष्य बनाकर रचनात्मक कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाता है। उनका मत है कि यदि इस प्रकार का उत्थान होगा तब सारे समाज का उत्थान कहा जायगा। भौगोलिक रूप से उन्होंने शहर एवं गांव दोनों के उत्थान की बात की, परन्तु गाँव को प्राथमिकता दी, क्योंकि गाँव अपेक्षाकृत पिछड़ा है। उन्होंने इसीलिए ग्राम-स्वराज्य, ग्रामोदय की विचारधारा सामने रखी।

गांधी जी का विचार है कि—

(१) सबसे अधिक आबादी उन लोगों की है जो गरीब एवं दीन दुःखी है।

(२) बहुत बड़ा क्षेत्र एवं आबादी गाँवों में रहती है। गाँव के उत्थान का अर्थ है राष्ट्र का उत्थान। इसी प्रकार बहुसंख्यक गरीबों के उत्थान का अर्थ है देश का उत्थान। इसे उन्होंने सर्वोदय अर्थशास्त्र कहा। जब गांधी जी ने सर्वोदय शब्द का प्रयोग किया तो उनका यह भी तात्पर्य था कि जो समर्थ व धनी हैं उनका सभी प्रकार का उदय तभी सम्भव है जब उनके द्वारा ऐसे कार्य किये जायँ जिससे समाज से दुःख दारिद्रय समाप्त हो जाय। इसलिए अमीरों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपनी सम्पत्ति या अपनी शक्ति का प्रयोग सामाजिक उत्थान के लिए करें तभी सबका उत्थान सम्भव है। इस प्रकार गांधी जी ने सम्पत्तिशाली एवं गरीब दोनों के लिए एक मानव-दर्शन दिया। उन्होंने हृदय-परिवर्तन, स्वचिन्तन, स्वशासन के द्वारा एक नये प्रकार की अर्थव्यवस्था का संयोजन किया, इसी को सर्वोदय अर्थशास्त्र कहते हैं। सर्वोदय-अर्थनीति में प्रत्येक व्यक्ति का उपभोग स्वास्थ्यवर्धक तथा नियंत्रित होगा।

प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादन, जहाँ तक मूलभूत आवश्यकताओं का उत्पादन है, निजी होगा। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति तभी उपभोग करेगा जब कि वह उत्पादन करे।

(३) प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक श्रम से उत्पादन करना होगा।

(४) उत्पादन के साधन पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होगा। उत्पादक यन्त्र का प्रयोग एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के शोषण के लिए नहीं करेगा। इसलिए उत्पादकता, कार्यक्षमता, के साथ-साथ वे यन्त्र प्रत्येक व्यक्ति के क्रयशक्ति के भीतर होंगे ताकि कोई उस पर कब्जा करके शोषण न कर सके।

(५) इसमें मालिक, मजदूर, स्वामी व मजदूर के सम्बन्ध नहीं होंगे। हर व्यक्ति की कार्यप्रणाली में दोनों समन्वित होंगे। दोनों गुणों का मेल होगा। मूलभूत आवश्यकता की तृप्ति के उद्योग जो निजी उपयोग के लिए आवश्यक होंगे, उनका संचालन पंचायती होगा। उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होगा जो स्वास्थवर्धक जीवनोपयोगी हों। नशीली व कार्यक्षमता क्षीण करनेवाली वस्तु का उत्पादन नहीं होगा। मूलभूत उद्योग, भोजन, वस्त्र, आवास, पशुपालन, आदि की व्यवस्था निजी क्षेत्र में होगी।

विनिमय का क्षेत्र

विनिमय का माध्यम आजकल की भाँति मुद्रा में न होकर शारीरिक श्रम में होगा। वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण बाजार से न होकर लोगों की जरूरत एवं उपयोगिता द्वारा होगा। वस्तुओं के क्रय विक्रय में लाभ का उद्देश्य न होकर समाज की उपयोगिता और आवश्यकता की पूर्ति का होगा। विनिमय में विज्ञापन व्यय नहीं होगा। किसी प्रकार का एकाधिकार एवं प्रतिस्पर्धा नहीं होगी। वस्तुओं के मूल्य एक सामान्य स्थिति में निर्धारित होंगे। पुरस्कार निर्धारण मुद्रा में न होकर वस्तुओं में होगा। वितरण के क्षेत्र में लगान, व्याज, लाभ एवं मजदूरी वर्तमान अर्थशास्त्र के आधार पर निर्धारित नहीं होंगे। इसके निर्धारण में जो माँग पूर्ति या समर्थता का सिद्धान्त है वह सिद्धान्त नहीं होगा; बल्कि प्रत्येक मनुष्य की स्वास्थवर्धक आवश्यकता ही मापदण्ड होगी। प्रत्येक मनुष्य अपनी श्रम शक्ति, बुद्धि शक्ति, साधन शक्ति, सम्पत्ति शक्ति, का प्रयोग पूर्ण निष्ठा एवं योग्यता से करेगा। अपनी आवश्यकता अनुसार उपभोग करने के पश्चात् शेष समाज के लिए छोड़ देगा। अधिकतर पुरस्कार मुद्रा में न होकर वस्तु में होगा।

लोक वित्त (Public Finance)

वर्तमान लोक वित्तीय स्थिति में परिवर्तन होगा। लोकवित्त के लिए जो आवश्यक साधन हैं वह व्यक्ति देगा लेकिन स्वश्रमित व प्रसन्नता के विचार से। लोक कल्याण के सारे काम सम्पन्न किये जायँगे। जितनी अधिक लोककल्याण की भावना मनुष्य में विकसित होगी उतनी ही राज्य की सीमा कम होती जायगी और एक स्थिति में राज्य विहीन समाज हो जायगा।

सर्वोदय अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त—

(१) प्रचलित अर्थशास्त्र में प्रारम्भ से आज तक काफी परिवर्तन होता रहा है। सम्पत्ति, भौतिकता, उपयोगिता पर अधिक जोर दिया है। बहुत ही कम विद्वानों ने मनुष्य को केन्द्र बिन्दु माना है। आज मनुष्य की महत्ता स्वीकार की जा रही है। उसी दिशा में सर्वोदय अर्थशास्त्र का केन्द्र मानव है, इसका प्रारम्भ मानव अर्थशास्त्र से होता है।

(२) यह अर्थशास्त्र इस बात को मान कर चलता है कि मनुष्य के सारे उद्देश्य अहिंसा, सत्य पर आधारित हैं। मनुष्य में परमार्थ, सन्तोष, नैतिकता, सहयोग, सहिष्णुता, दया, सामाजिकता, शोषण मुक्ति, स्वतन्त्रता, समता जितने मानवीय गुण हैं वे सब मूलरूप से पाये जाते हैं। समय समय पर परिस्थिति जन्य विकार मनुष्य में आ जाते हैं, इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र इन मूलभूत मानवीय गुणों से चलता है जो मनुष्य में है और जिनसे मानवता का सृजन होता है। जो कुछ अर्थशास्त्र में भिन्नता पैदा हुई है उसका कारण है कि अर्थशास्त्रियों ने मूल मानवीय गुणों को ध्यान में न रख कर परिस्थति को ध्यान में रखा। इसी का निराकरण सर्वोदय अर्थशास्त्र करता है। इसीलिए इसमें शाश्वत नीति का प्रवेश है और इसमें भिन्नता व विकार के लिए स्थान नहीं है। बहुधा सर्वोदय अर्थशास्त्र के विषय में भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं इन भ्रान्तियों के पीछे यही कारण है कि हम संकुचित रूप से मानवीय विकारों को ही मनुष्य का गुण मान लेते हैं, परन्तु यह वास्तविकता नहीं है। सर्वोदय अर्थशास्त्र इन भ्रान्तियों को मिटाता है।

(३) सर्वोदय अर्थशास्त्र सर्वांगीण है क्योंकि मानव जीवन के समग्र दृष्टि का विवेचन इसमें होता है। यह ऐसा नहीं मानता कि मनुष्य केवल

आर्थिक व्यक्ति है वल्कि इसका एक समग्र जीवन है और समग्र जीवन से ही उसका आचार-विचार चलता है। अब तक के अर्थशास्त्रियों ने इस विचारधारा की अवहेलना की है। सर्वोदय अर्थशास्त्र की मान्यता है कि मनुष्य का भौतिक जीवन उसकी सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से ओत-प्रोत होता है। उपभोग से वितरण तक की परिस्थिति आती है इससे हम उदासीन नहीं हो सकते। इसीलिए इस अर्थशास्त्र में समग्रता को स्थान दिया गया है जिससे कि मानव जीवन का निरूपण होता है। इसीलिए यह अर्थशास्त्र राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक सभी प्रकार की शक्तियों का लोकतान्त्रिक ढंग से विकेन्द्रीकरण चाहता है। इसमें वे सब दोष जो केन्द्रित या एकाकी जीवन के होते हैं, आ ही नहीं सकते। व्यक्ति व समाज में जो संघर्ष है, सर्वोदय अर्थशास्त्र इसे नहीं मानता। व्यक्तित्व का विकास मूल उद्देश्य है। परन्तु इनका समग्र विकास विकसित समाज में ही सम्भव है। इसलिए दोनों का विकास साथ-साथ होना चाहिए। व्यक्तित्व जितना ही विकसित होता है समाज उतना ही समृद्ध व विकसित होगा और उसी मात्रा में व्यक्ति समाज से शक्ति उपलब्ध कर सकेगा। इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र में दोनों में विरोध नहीं माना गया है। व्यक्तिगत अर्थशास्त्र और सामाजिक अर्थशास्त्र एवं सिद्धान्तों में जो भिन्नता होती है वह सर्वोदय अर्थशास्त्र में नहीं है।

(४) अर्थशास्त्र के वर्तमान रूप में हम मुद्रा को विनिमय का मापदण्ड मानते हैं। पर सर्वोदय अर्थशास्त्र विनिमय-मापदण्ड श्रम को मानता है। मानव श्रम ही वास्तविक सम्पत्ति है। उसी से वस्तु का उत्पादन होता है। वही विनिमय का मापदण्ड भी है। इस प्रकार वह एक ऐसा मापदण्ड है—जो उत्पादन एवं विनिमय दोनों की भिन्नतायें हैं, जो लागत व मूल्य के रूप में पैदा होती हैं—उन्हें दूर करता है।

मुद्रा के कारण जो वस्तुओं के मूल्य में उतार चढ़ाव होते हैं और जिनके कारण वास्तविक सम्पत्ति का मापदण्ड सम्भव नहीं होता उन्हें सर्वोदय अर्थशास्त्र समाप्त कर देता है। शोषण की प्रवृत्तियाँ भी इस अर्थशास्त्र में सम्भव नहीं हैं। आज जो वितरण के क्षेत्र में असमानता पायी जाती और जो संघर्ष व्याप्त है उसके लिए भी इसमें कोई जगह नहीं है। क्योंकि इसमें शारीरिक श्रम ही श्रेष्ठ है। वास्तविक सम्पत्ति का सृजन श्रम से होता है और चूँकि शारीरिक श्रम करनेवाला ही उत्पादक है,

अतः वही उपभोक्ता भी होगा। इस प्रकार उत्पादन से उपभोग तक जो वितरण व विनिमय के द्वारा असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं उनका उसमें समावेश नहीं होगा।

(५) बौद्धिक श्रम की श्रेष्ठता यह अर्थशास्त्र आवश्यक मानता है पर बौद्धिक श्रम का प्रयोग समाजसेवा के लिये ही होना चाहिए। इसमें महत्ता शारीरिक श्रम की है और बौद्धिक श्रम के कारण जो विषमताएँ समाज में पैदा होती हैं और जिनके कारण शारीरिक श्रम अप्रतिष्ठित होता है, इसका निराकरण इस अर्थशास्त्र में किया जाता है। बौद्धिक श्रम का सहारा लेकर समाज में एक प्रतिष्ठित हुजूर वर्ग पैदा होता और शारीरिक श्रम के प्रति अप्रतिष्ठा एवं अपमान की भावना उत्पन्न होती है इसके लिए इस अर्थशास्त्र में स्थान नहीं है। इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र श्रमवान् एवं श्रमनिष्ठ समाज की कल्पना करता है। श्रीमान् समाज, बुद्धि या पूँजीनिष्ठ, सत्ता निष्ठों के लिए इसमें उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि श्रमनिष्ठ समाज के लिये।

(६) एक सुदृढ़ और समृद्धिशील समाज की रचना के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के जीवन का नियमन उसके दैनिक जीवन का एक सुनिश्चित कार्यक्रम हो। कम से कम चार घण्टा शारीरिक श्रम सबके लिए अनिवार्य हो, इससे उत्पादकता की वृद्धि के साथ-साथ समता व निष्ठा का भी विकास होगा। एक ऐसे मूल्य का सृजन होगा जो समाज के लिए लाभदायक होगा। वैसे सामान्यतः सभी व्यक्तियों की दिनचर्या का विभाजन ऐसा होगा कि हर व्यक्ति, आवश्यकतानुसार आठ घण्टा काम, आठ घण्टा आराम एवं आठ घण्टा अपना सांस्कृतिक विकास करे। इससे प्रत्येक व्यक्ति में स्वावलम्बन का विकास होगा। यह स्वावलम्बी समाज परस्परावलम्बी समाज बनकर असली अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करेगा जिससे समाज सभी, विशेषकर भौतिक विकारों से मुक्ति पा सकेगा। सर्वोदय की यह कल्पना इसीलिए है कि आज चौबीस घण्टे समय को कुछ लोग आराम एवं विलासिता में नष्ट करते हैं, कुछ लोग काम करते-करते परेशान रहते हैं तो कुछ आराम से। अतः दोनों के असमानता का निराकरण करके दोनों का गुणात्मक विकास किया जाय।

व्यापार का आधार

व्यापार का आधार समाज सेवा होगा। व्यापार द्वारा वस्तुओं को उस

स्थान पर पहुँचाना जहाँ उसकी आवश्यकता होगी इसका उद्देश्य होगा। व्याज, किराये, दलाली तथा व्यसनों पर चलने वाले जितने व्यवसाय हैं लाभ के लिए न चलकर समाज सेवा के लिए चलेंगे। जितने अनुत्पादक उद्योग हैं उनके लिए इसमें कोई स्थान नहीं होगा। समाज में जितने दोष पैदा होते हैं उनके पीछे यही अनुत्पादक व्यवसाय होते हैं। इसलिए इन्हें समाप्त कर उत्पादक उद्योग एवं व्यवसाय चलाया जायगा।

काम, आराम और मनोरंजन

आज के समाज में जो एक दूसरी खराबी है कि काम व आराम तथा मनोरंजन में कोई सहयोग नहीं है। समाज में कुछ व्यक्ति चौबीस घण्टे काम में ही रहते हैं और रोटी के सपने देखते। कुछ चौबीस घण्टे आराम ही करते हैं कुछ चौबीस घण्टे मनोरंजन में ही लिप्त रहते, तो कुछ को मनोरंजन मिलता ही नहीं। इस प्रकार समाज में जो असन्तोष व दोष उत्पन्न होते है उनको दूर करने के लिए सर्वोदय में आराम, काम एवं मनोरंजन में सहयोग होगा। काम में आराम एवं मनोरंजन होगा। आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम और आठ घण्टे मनोरंजन, यह आचार संहिता प्रत्येक व्यक्ति के लिए होगी। इस प्रकार जो चौबीस घण्टे के आराम से ऊबे हैं उनके जीवन में शक्ति व काम में स्फूर्ति आयेगी। उनकी उत्पादन-शक्ति का अच्छी प्रकार से उपयोग होगा। प्रत्येक व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम अनिवार्य होगा। बौद्धिक श्रम का उपयोग धन अर्जन के लिए नहीं वल्कि समाज सेवा के लिए होगा। इससे प्रत्येक व्यक्ति को आराम व काम समान रूप से उपलब्ध हो सकेगा। वास्तव में समाज निर्माण की जितनी पद्धतियाँ हैं उनमें प्रत्येक को समान काम, आराम सम्भव हो सके यही सर्वोदय का लक्ष्य है।

सम्पत्ति का उपयोग

सम्पत्ति एवं साधन जो उत्पादन के लिए बहुत आवश्यक हैं उनके प्रयोग का अधिकार सबके लिए समान रूप से होगा। जो परिस्थिति आज की है जिसमें कि सम्पत्ति एवं साधन के प्रयोग कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित है, इस स्थिति का निराकरण सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था में किया जायगा। भूमि सम्पत्ति व साधन, इनके प्रयोग में जो प्रतियोगिता; व्यक्ति-

गत लाभ, ईर्ष्या आदि का भाव होता है वह समाप्त होगा और प्रेम एवं सहयोग से सारा काम होगा।

उपभोग के आधार पर उत्पादन का निर्धारण होगा। उपभोग के पीछे जो दर्शन होगा वह सादा जीवन तथा उच्च विचार का होगा। अर्थात् केवल स्वास्थ्यवर्द्धक आवश्यकताओं का उपभोग ही इस अर्थ-व्यवस्था में प्रधानता पायेगा। सादा जीवन उच्च विचार का अर्थ होगा कि मनुष्य की आवश्यकता उन्हीं चीजों की होगी जो आयु, सत्व, बल और आरोग्य का वर्द्धन करेगी जिससे कि शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य आगे बढ़ सके। ऐसी स्थिति में आवश्यकताएँ कम से कम होंगी राष्ट्र के उत्पादन के साधन का उपयोग उन्हीं स्वास्थ्यवर्द्धक आवश्यकताओं के उत्पादन में किया जायगा। उसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि प्रत्येक व्यक्ति जो समाज में रहता है उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति पूर्ण रूपेण होगी, क्योंकि उन वस्तुओं का उत्पादन अधिक से अधिक होगा साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति स्वयं कर सकेगा क्योंकि जो साधन अन्य प्रकार की आवश्यकताओं, विलासिता-सम्बन्धी उपभोग में अपव्यय होते हैं वे प्रत्येक व्यक्ति को सहज ही उपलब्ध हो सकेंगे। साधनों का बाहुल्य और उनकी सहज प्राप्ति से ऐसा सम्भव होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति कर सके। इससे जितनी सामाजिक कुरीतियाँ, दोष, मिलावट, शोषण, बेकारी, बीमारी आदि हैं वे समाज में नहीं पनप सकेंगी। पूरे देश का आर्थिक विकास सन्तुलित ढङ्ग से हो सकेगा। भूमि जो, अनाज, फल आदि उत्पन्न करती है, उसका प्रयोग तम्बाकू एवं अन्य नशीली वस्तुओं के उत्पादन में नहीं किया जायगा।

इसी प्रकार ऐसे उद्योगों का विकास होगा जो समाज की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। फिर ऐसे यन्त्रों का विकास होगा जो एक व्यक्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन उसी व्यक्ति द्वारा उसके घर के वातावरण में कराने में सहायक होगा। धीरे-धीरे समाज के उपभोग में इस प्रकार की व्यवस्था आयेगी जो विषमता के कारण समाज में दोष उत्पन्न हो गये हैं वह समाप्त हो जायगें। यह लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति परिवार गांव क्षेत्र का होगा और यह सतत् स्वावलम्बी व्यवस्था की ओर बढ़ेगा।

इस व्यवस्था में ग्रामीण जीवन को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि

अन्न, कच्चा माल या यों कहें कि मनुष्य की सारी जीवनदायिनी वस्तुओं का उत्पादन गाँव में ही होता है। इसलिए गाँव जो सारे उत्पादन का स्त्रोत है उसको प्राथमिकता व प्रोत्साहन देना आवश्यक होगा। सारी अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आधारित है। इसीलिए ग्रामीण जीवन के जो विभिन्न पहलू—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक हैं उनका संवर्धन व संरक्षण बहुत आवश्यक है। सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि सारी सभ्यता व संस्कृति प्रकृति की गोद में पली है। इसीलिए गाँव को कतिपय दृष्टियों से प्रोत्साहन देना है। ग्रामीण जीवन व्यतीत करनेवालों की संख्या इस देश में तो ८०-८२% है। अन्य देशों में भी ग्रामवासियों की संख्या अधिक है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के चार आर्थिक स्तम्भ हैं (१) कृषि (२) बारी (३) पशुपालन (४) उद्योग। इन चारों का अर्थात् अन्न उत्पादन तथा कच्चे माल का उत्पादन। दूसरे बारी के अन्तर्गत फल-फूल, साग-सब्जी का उत्पादन। तीसरे पशुधन अर्थात् गोपालन। चौथे छोटे स्तर पर चलने वाले उद्योगों का विकास। इन सबका विकास समग्र अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था न केवल एक सैद्धान्तिक विचार है अपितु एक सामाजिक शास्त्र भी है। व्यावहारिकता के माध्यम से इसके द्वारा नयी व्यवस्था का भी निरूपण किया जाता है। इसलिए इसका उपनाम सर्वोदय अर्थनीति है। एक ऐसे समाज की कल्पना है जिसमें सब प्रकार की समता सम्भव है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी प्रकार की समता इस व्यवस्था में सम्भव बनायी जा सकती है। समता के ये विचार केवल 'वाद' के रूप में या ऊपर से राज्य के नियम से नहीं लादे जायँगे। इसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए स्थान है। व्यक्ति का व्यक्तित्व जितना ही ऊँचा होगा उतना ही समाज ऊँचा होगा। व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा बाह्य सामाजिक बन्धनों या राजकीय कानून या किसी प्रकार की पद्धति से मनुष्य के ऊपर थोपी नहीं जायगी, बल्कि मनुष्य के अन्दर जो उसकी स्वयं की अनुभूति व शक्ति है उसका जागरण किया जायगा। स्वशासित और अनुभूति के आधार पर कर्त्तव्य भावना से मनुष्य में चेतना का विकास करना आवश्यक है क्योंकि मूलरूप से इस अर्थनीति में माना जाता है कि हर मनुष्य मूलतः सत्य, प्रेम, करुणा का पुंज है। उसकी ये गुणात्मक शक्तियाँ समय के प्रभाव, परिस्थितियाँ एवं अन्य दोषवश शिथिल पड़ जाती हैं, उन्हें नित्य जागरूक रखने की आवश्यकता है। इसीलिए

इसमें मनुष्य की गुणात्मक शक्ति में विश्वास किया जाता है। यह बड़ा भारी भेद साम्यवाद एवं सर्वोदय में है। सर्वोदय में समता का भाव है। प्रत्येक व्यक्ति कार्य को अपने जीवन से आरम्भ करता है इसलिए 'साम्यवाद' न होकर 'साम्ययोग' होगा। इसमें उपभोग, उत्पादन, वितरण, विनिमय सभी क्षेत्रों का सम्यक विकास होगा। इसलिए, सर्वोदय की अर्थनीति एक व्यावहारिक और सामाजिक नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के, चाहे वह समर्थ हो या असमर्थ, विकास की व्यवस्था होगी।

सर्वोदय अर्थशास्त्र का दृष्टि कोण :—

(१) इस समाज रचना की नींव में नीति, धर्म, सत्य, अहिंसा का प्रमुख स्थान होगा।

(२) आर्थिक समता।

(३) ट्रस्टीशिप का सिद्धांत।

(४) सामाजिक क्षेत्र में ऊँच नीच का भेद नहीं होगा।

ज्ञान प्राप्ति का सबको समान अवसर प्राप्त होगा और सब अपनी शक्ति के अनुसार बौद्धिक शक्ति का विकास कर सकेंगे। किसी भी सामाजिक, राजनैतिक आदि बाधा के कारण उनके ज्ञान प्राप्ति में कमी हो ऐसी व्यवस्था इसमें नहीं होगी।

जितनी वस्तुयें है उनका दाम उनके उत्पादन में लगे श्रम के अनुसार होगा। वस्तुओं के दाम में जो परिवर्तन होते हैं और जिनके कारण केवल कृत्रिम प्रपञ्च हैं जिनके कारण समाज में वस्तुयें नहीं मिल पातीं इस समाज में इन कृत्रिम प्रपञ्चों को स्थान नहीं दिया जायगा। आर्थिक व्यवस्था एव उत्पादन की इकाईयों का भी विकेन्द्रीकरण होगा। सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक रूप से किसी प्रकार का शोषण नहीं होगा। स्वशासन होगा। अधिकतर बाह्यशासन से समाज मुक्त होगा। उद्योग में विशेष कर खेती व ग्रामोद्योग की प्रधानता होगी ताकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर के वातावरण में ही जीविका का साधन उपलब्ध हो सके।

विनिमय में मुद्रा का बहुत कम और आगे चल कर बिलकुल ही प्रयोग नहीं होगा। समाज श्रमनिष्ठ बनेगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम करना अनिवार्य होगा। इस प्रकार का जो समाज होगा इसमें समाज का लक्ष्य है प्रत्येक नागरिक शरीर से स्वस्थ हो

विचारों में स्वतंत्र हो, अपनी जीविका स्वतंत्र रूप से चला सके। सबके मन में श्रम का आदर हो और दूसरों के कार्य में सहायक बने।

विज्ञान का आदर होगा, लेकिन विज्ञान का प्रयोग ऐसी वस्तुओं के आविष्कार में होगा जो सामान्य मनुष्य के लिए लाभदायक हों। प्रत्येक मनुष्य सामान्यतः इस विज्ञान के प्रयोग से अपनी जीविका चला सके। हर एक व्यक्ति के आर्थिक जीवन में ऐसा सम्भव हो कि वह सादगी, अपरिग्रह तथा शरीर श्रम तीनों को अपना सके। इससे उसकी चित्त वृत्ति में सबके भले में हमारा भला है ऐसा भाव उत्पन्न होगा। इस प्रकार के व्यक्तियों की तैयारी के लिए शिक्षा जीवनोपयोगी हो। शिक्षा सबके लिए सुलभ हो और यह जीवन की शिक्षा हो ताकि इस शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने पैर पर खड़ा हो सके। अपने घर गाँव के वातावरण में ही उसे पूरी जीवन शिक्षा मिले।

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सर्वसुलभ हो। विशेष कर प्राकृतिक चिकित्सा की प्रधानता हो। स्वास्थ्य की प्रमुख बातों की जानकारी सबको सुलभ हो ताकि अज्ञानता के कारण चाहे भोजन सम्बन्धी हो, सफाई सम्बन्धी हो, बीमारी न हो सके। मलमूत्र की सफाई और उसका प्रयोग, शरीर के अवयवों का ज्ञान; संतुलित आहार, रसोई घर, व्यक्तिगत व सामाजिक सफाई, वस्त्र, स्वावलम्बन, मकान आदि सबको सुलभ हो।

साहित्य कला व विज्ञान लोकहित के लिए हो। यह केवल स्वांतः सुखाय स्वार्थ साधना का कारण न बने। एक दूसरे मनुष्य से जो आज मुद्रा युग में क्रय विक्रय द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है वह नहीं होगा। मनुष्य मनुष्य है वह क्रय विक्रय की वस्तु नहीं बनाया जा सकता है। इसलिए इस प्रकार का जो विचार समाज में है और इसके कारण जो विकृति पैदा होती है वह इसमें नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्य एक विभूति है। सारी भौतिक वस्तुएँ उपकरण हैं मनुष्य के लिए न कि मनुष्य उनके लिए। समाज में जो इतनी धन लिप्सा बढ़ी है उसका लोप होगा। उसकी जगह पर मानव का श्रम निष्ठ, सहायता निष्ठ समाज पैदा होगा।

— ———

प्रथम-परिच्छेद

समाज-परिवर्तन की पद्धति

क्रान्ति :—(१) क्रान्ति क्या है ?

समाज में आमूल परिवर्तन कर देना क्रान्ति है। क्रान्ति का अर्थ परिवर्तन से है। आज तक क्रान्ति का जो साधारण अर्थ लिया जाता है उसमें क्रान्ति का अर्थ खूनी क्रान्ति से होता है। सर्वोदय में क्रान्ति का अर्थ आमूल एवं समग्र परिवर्तन से है। इस परिवर्तन में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मानस में परिवर्तन होगा। विचार में परिवर्तन का अर्थ है उसके व्यवहार में परिवर्तन। इसका अर्थ है कि वह अपने दिन प्रतिदिन के जीवन में उन सब गुणात्मक शक्तियों की प्राप्ति का अभ्यास करे जो नये समाज के बनाने के लिए आवश्यक हैं। वास्तविकता तो यह है कि जब यह परिवर्तन होगा तभी सारे समाज की प्रक्रिया में परिवर्तन होगा। इसलिए क्रान्ति के अर्थ हुए प्रत्येक मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन और उस परिवर्तन का दैनिक जीवन में अभ्यास और वह दैनिक जीवन का अभ्यास समाज में नये मूल्यों की स्थापना करे। अब तक के प्रचलित मूल्य और अब तक की पद्धति व मान्यतायें बदल जायें। उनके बदलने के लिए न केवल उसका चिंतन अपितु व्यवहार भी बदले, तभी क्रान्ति सम्भव है। इस क्रान्ति के लिए साम्यवादी देशों में 'ब्रेन वाशिंग' की प्रक्रिया अपनायी गयी हैं लेकिन इसमें बाहर से लादी गयी जबरदस्ती है, इसमें मनुष्य की विवेक शक्ति के स्वतः जगाने की कोई प्रक्रिया नहीं है। सर्वोदय की क्रान्ति की प्रक्रिया में मनुष्य के जो आन्तरिक गुण हैं उनके जगाने की प्रक्रिया है। यह मान्यता है कि मनुष्य मूलभूत गुणों का पुंज है और शिक्षा के माध्यम से इसको परिष्कृत किया जा सकता है। इस क्रान्ति के लाने में चूंकि नया समाज बनाना है, इसलिए नये समाज के लिए नयी शिक्षा आवश्यक होगी। इस नयी शिक्षा जिसे 'नयी तालीम'

कहते हैं इसके, अपने नये मूल्य होंगे क्योंकि नया समाज नये मूल्यों की भित्ति पर खड़ा होगा और यह मूल्य 'नयी तालीम' से निर्धारित होगा। अतः क्रान्ति शिक्षण द्वारा होगी। इस शिक्षण का हमारा आधार नित्य का जीवन होगा। पायखाने से लेकर परमात्मा तक का सन्निहित जीवन इस शिक्षा के प्रयोग में आयेगा। कल (मशीन) से लेकर कुदाल तक की और कुदाल से कुरान, बाईबिल और वेद तक की समग्र शिक्षा ही इसकी भित्ति है। इसी के द्वारा नया समाज बनेगा और यही सर्वोदय अर्थनीति में क्रान्ति का अर्थ है।

(२) क्रान्ति का आधार हिंसा नहीं अहिंसा होगी। जहाँ तक आर्थिक क्रान्ति है उसमें अहिंसा के अर्थ हैं कि उन सब उपकरणों को ग्रहण करना जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण को समाप्त कर सकें और उस आर्थिक पद्धति को स्वीकार करना जो किसी भी प्रकार के शोषण का निराकरण कर सके। यही नहीं कि किसी भी व्यक्ति का आर्थिक शोषण न हो बल्कि बौद्धिक एवं वैचारिक असमर्थताभी न हो। दूसरे शब्दों में जो आर्थिक, सामाजिक सम्बन्ध है वह ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, मालिक-मजदूर, मैनेजर-मजदूर के न होकर केवल एक मानव सम्बन्ध हो अर्थात् एक रस समाज हो। इस प्रकार की मान्यता प्रत्येक व्यक्ति के मन में स्वयं उत्पन्न हो। अर्थात् स्वयं प्रेरित हो और प्रत्येक व्यक्ति सहर्ष अपने कर्तव्यों की अनुभूति के आधार पर इसे स्वीकार करे। यही अहिंसात्मक स्वरूप है क्रान्ति का बिना किसी बौद्धिक या आध्यात्मिक शक्ति का हनन किये इस प्रकार के परिवर्तन की प्रक्रिया स्वयं पारित हो जाय इसी को क्रान्ति का अहिंसक स्वरूप कहते हैं। इस अहिंसक स्वरूप में शाश्वत मूल्यों को ही प्रधानता दी जाती है, तभी अहिंसात्मक स्वरूप हमारे समक्ष आता है। ये शाश्वत मूल्य भौतिक रूप में ये हैं :—

१—वे वस्तुएँ जो स्वतः स्पष्ट व प्रमाणित होती हैं।

२—जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लिए चाहता है, उन्हीं को मूल्य कहते हैं। अहिंसक क्रान्ति में इन्हीं मूल्यों को अपनाना पड़ता है।

(३) साधन की शुद्धता—इस क्रान्ति में साधन की शुद्धता अति आवश्यक है। उद्देश्य एवं आदर्श चाहे जितने ही शुद्ध हों यदि उनकी प्राप्ति के साधन शुद्ध नहीं है तो वह सर्वोदय क्रान्ति नहीं हो सकती है। जब साधन शुद्ध होंगे तो उद्देश्य स्वयं ही शुद्ध होंगे। लेकिन यदि

साध्य शुद्ध है तो हो सकता है उसके लिए अशुद्ध साधन हो, परन्तु यह अनुचित है। अतः साधन की शुद्धता जरूरी है। यह आवश्यक इसलिए है कि इस क्रान्ति के मार्ग में किसी प्रकार के दोष नहीं आ सकते, हम अपने पथ से विचलित नहीं हो सकते। हमारे लक्ष्य सदैव शुद्ध रहते हैं। जब साधन शुद्ध होते हैं तो साधक या समाज नैतिकता से पूर्ण रहता है। यह साधन शुद्धि का विशेष महत्व है।

(४) अर्थ रचना और राज्य-रचना दोनों विकेन्द्रित होंगे. इसके अर्थ हैं कि समाज का स्वरूप एक पिरेमिड की भांति होगा। प्रत्येक गाँव समाज के आर्थिक और राजनैतिक इकाई की नींव होगा और उसी पर आर्थिक और राजनैतिक समाज खड़ा होगा। इसका अर्थ है कि छोटी-छोटी इकाइयाँ, ग्रामों की जो एक दूसरे के दुःख-सुख से परिचित होंगी, एवं जिनमें समस्याओं की एक रूपता होगी। पारिवारीकरण की भावना प्रबल एवं पुष्ट होगी। इससे जो समाज बनेगा वह उन्नतिशील होगा।

(५) इस समाज रचना में खेती व ग्रामोद्योग को प्रधानता प्रदान की जायगी क्योंकि मूलभूत आवश्यकताओं की तृप्ति इन्हीं दोनों से होगी। अतः इन मूलभूत आर्थिक इकाइयों की प्रधानता होगी ताकि सारा समाज अपने शारीरिक श्रम द्वारा अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति कर सके। यह है समाज रचना का मूलभूत सिद्धान्त।

सर्वोदय अर्थ व्यवस्था में व्यक्ति

(१) प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित हो। यह तभी होगा जब कि उसे काम करने का अवसर मिले। इसीलिए जीविका के साधन की जरूरत होती है। यह मनुष्य के लिए आवश्यक है और समाज के लिए भी, ताकि व्यक्ति उत्पादक बन सके एवं समाज उससे समृद्धिशील बन सके। व्यक्ति की प्रेरणा, स्वतन्त्रता आदि अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक है। इसलिए व्यक्ति के विकास पर पूँजीवाद में जोर दिया गया है। पर पूँजीवादी व्यवस्था में अधिकतम उत्पादन के स्थान पर एक दोष आ गया है, अर्थात घोर स्वार्थरता की भावना का विकास हुआ। फल स्वरूप शोषण, विषमता, दारिद्रय एवं असमर्थता का प्रकोप बढ़ा। इस दोष को दूर करने के लिए समाजवाद का विचार आया।

सामाजिक क्षेत्र व स्वरूप का विकास हुआ। परन्तु इस अर्थव्यवस्था में भी दोष प्रतीत हुआ। पूँजीवाद के गुण उसमें भी आ गये। पूँजीवाद के दोषों का निराकरण हुआ लेकिन सबसे बड़ा दोष यह आया कि व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित न हो सका। व्यक्ति बनाम समाज का यह विवाद चला। सर्वोदय अर्थ व्यवस्था में व्यक्तित्व का विकास समाज के सन्दर्भ में होगा। व्यक्ति का समग्र एवं सम्पूर्ण विकास होगा। व्यक्ति ही इकाई है उसके स्वार्थ एवं परमार्थ दो गुण हैं, इन दोनों गुणों का सन्तुलित विकास होगा इससे व्यक्ति का परमार्थ जागेगा। उसके भीतर करुणा, दया, प्रेम, सत्य, अहिंसा के गुणों का विकास होगा अर्थात् वह सामाजिक प्राणी बनेगा। सर्वोदय अर्थव्यवस्था में व्यक्ति प्रधान सामाजिक गुणों का विकास होगा।

(२) आत्मनिर्माण के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति कार्यरत रहे ताकि वह अपने समय का पूर्ण सदुपयोग कर सके। इसके लिए आठ घण्टा काम, आठ घण्टा आराम और आठ घण्टा सांस्कृतिक विकास का दैनिक कार्यक्रम होगा। प्रतिदिन व्यक्ति आत्मनिरीक्षण करेगा और इस बात का प्रयास करेगा कि उसके द्वारा कितना सृजन का कार्य हुआ। उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य तो नहीं हुआ जिससे किसी का अहित हुआ हो। उसके काम से कितना सामाजिक लाभ हुआ। यही आत्म-निरीक्षण का मन्तव्य हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को सामाजिक सन्दर्भ में देखेगा। यही आत्मनिर्माण की पहली सीढ़ी है।

(३) व्यक्ति का बड़प्पन उसकी सेवकाई में निर्भर है। सबसे बड़ा सेवक सर्वोदय समाज में सबसे बड़ा आदमी होगा। बड़प्पन का आधार सेवा होगी। सेवा का अर्थ हुआ कि समाज में जो दुःखी है, असमर्थ है, दरिद्र है ऐसे लोगों की सेवा करना; उन्हें ऊँचा उठाना, उनके लिए करुणा की भावना, त्याग आदि सेवक के महान गुण हैं। जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण होंगे वही समाज का महान व्यक्ति होगा। व्यक्ति के बड़प्पन एवं छोटे पन का यही मापदण्ड होगा।

(४) व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित हो इसके लिए जितने जीवन के सुधार स्थल हैं, सेवा के स्थल हैं वही प्रत्येक व्यक्ति के लिए तीर्थ-स्थल बनेंगे। क्योंकि पूरे समाज का संयोजन एवं सुधार आवश्यक है और यह तभी सम्भव होगा जब जीवन को पवित्र बनाने के लिए, संरक्षण के लिए इस प्रकार के सुधार केन्द्र बनेंगे। इसका संचालन निःस्वार्थ

सेवी व्यक्तियों द्वारा होगा तभी प्रत्येक व्यक्ति का जीवन और अन्ततोगत्वा पूरे समाज का जीवन परिष्कृत एवं शुद्ध हो सकेगा।

(५) हमारा जो समाजिक, धार्मिक जीवन है उस जीवन को वास्तविक भौतिक जीवन के सन्दर्भ में देखना होगा। उदाहरण स्वरूप हमारे जो व्यवहार एवं अन्य प्रकार के सांस्कृतिक द्वन्द्व हैं उनको भौतिक भूमिका देनी होगी और उस भौतिक भूमिका में उन सब व्यक्ति के गुणों को विकसित किया जायगा। अर्थात् जो दीपावली का त्योहार है उससे समाज में स्नेह का विकास हो। इस प्रकार से जो सम्पत्ति हमारे पास है उसे समाज के व्यक्तियों को परिवार मान कर बांटा जाय यह एक प्रकार से हमारे आर्थिक जीवन की कड़ी बनेगी। दीवाली एवं दशहरे का त्योहार उस ढंग से मनाया जाय जिससे राजनैतिक जीवन में नैतिकता का विकास हो। राजनैतिक जीवन शुद्ध हो। सामाजिक जीवन में जो जाति ऊँच-नीच का भेद है उसे मिटाया जाय। इसके लिए होली का त्योहार मिलने-जुलने एवं भेद-भाव मिटाने के लिए हो। गणतन्त्र दिवस हमारे जीवन में उल्लास का कारण बने। इस प्रकार से जो नया समाज बने उसका आधार पुष्ट हो। इसी सन्दर्भ में हमारा भौतिक एवं सांसारिक जीवन विकसित हो। इस प्रकार से समाज के अन्दर ही व्यक्ति के समस्त सामाजिक गुणों का विकास हो। यही व्यक्ति का स्थान है सर्वोदय अर्थ व्यवस्था में।

सर्वोदय अर्थशास्त्र का सामाजिक मूल्य

सर्वोदय अर्थशास्त्र का आधार है मानवीय मूल्य। आज विश्व में जो आर्थिक पद्धति चल रही है उसका आधार है भौतिक मूल्य। जो कुछ बाह्य वस्तुएँ हैं और हमारी शारीरिक आवश्यकता की तृप्ति करती हैं, उन्हीं भौतिक वस्तुओं एवं मूल्यों के विषय में वर्तमान अर्थशास्त्र में सिद्धांतों का निरूपण किया जाता है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र जैसे उपयोगी शास्त्र की अवहेलना की गयी। उसे आज भी पेट एवं रोटी का शास्त्र कहा जाता। मानव अर्थशास्त्र की संज्ञा सर्वोदय अर्थशास्त्र को दी गयी है। इसीलिए सर्वोदय का लक्ष्य मानवीय मूल्यों को प्राप्त करना है। मनुष्य के लिए ही सारे भौतिक उपकरणों, साधनों का प्रयोग होता है। उन उपकरणों का प्रयोग इस ढंग से हो कि मानवता का अधिकतम

विकास हो। आज एक तरफ घोर भौतिकवादी मूल्य एवं विचारधारा चल रही है, दूसरी तरफ, दूसरे छोर पर आदर्श मूल्य का सृजन हो रहा है जिसमें वस्तुगत का निर्धारण आत्मगत द्वारा किया जाता है। प्रधानता आत्मगत शक्तियों की होती है, उसी से वस्तुगत का निर्माण होता है। आदर्श मूल्यों की स्थिति में साध्य की प्रधानता होती है और भौतिक मूल्यों की स्थिति में साधन की प्रधानता होती हैं। जो आदर्श मूल्य होते हैं उनके दो प्रकार हैं (१) ऐच्छिक आदर्श मूल्य; जो मूल्य मनुष्य के मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं। उनके पीछे किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं होती है। (२) दूसरे प्रकार के वे आदर्श मूल्य होते हैं, जिसे सरकार स्वयं कोई नियम बनाकर निर्धारित कर देती है। इन दो भौतिक और आदर्श मूल्यों के कारण आत्मगत और वस्तुगत मूल्यों और विचारों में द्वन्द्व चलता है। अन्य प्रकार के जो मूल्य हैं उनमें आर्थिक मूल्य, नैतिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, धार्मिक मूल्य प्रमुख रूप से हैं। आर्थिक मूल्य के अंतर्गत हम इस बात की जानकारी पाते हैं कि मनुष्य सीमित साधनों के भीतर किस प्रकार अपना संतुलन कायम करता है क्योंकि हर मनुष्य के सामने भौतिक पदार्थ, देश, काल इन तीनों की सीमा है। इसीलिए इन तीनों के अभाव में मनुष्य जो व्यवहार करता है उसका आधार उपयोगिता तथा अनुपयोगिता होता है। मनुष्य की पूर्णता तभी संभव होती है जब वह इस प्रकार का चुनाव करता है कि उसको इन सीमित साधनों से अधिक से अधिक संतोष प्राप्त हो। उन्हें आर्थिक मूल्य कहा जाता है।

नैतिक मूल्य :—जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करता और जिसका आधार एक नैतिक प्रभाव होता है और जिसके पीछे यह आधार होता कि कौन उचित है, कल्याणकारी और अच्छा है; इससे इन नैतिक मूल्यों का निर्माण होता है। उसमें मनुष्य का नैतिक तत्व प्रधान होता है।

राजनैतिक मूल्य :—मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है इसलिए समाज मनुष्य के अस्तित्व के साथ लगा हुआ है। इस समाज के भिन्न-भिन्न स्वरूप होते हैं। जब एक समाज दूसरे समाज के साथ या एक समाज दूसरे व्यक्ति के साथ एक सम्बन्ध स्थापित करता है ताकि व्यक्ति एवं समाज दोनों व्यवस्थित एवं शान्ति मय स्थिति में रह सके तब उसे राजनैतिक मूल्य कहते हैं। समाज एवं व्यक्ति दोनों में इसकी इच्छा होती है। इन्हीं

को आधार मान कर राजनैतिक पद्धति, सामाजिक पद्धति का निर्माण होता है।

सौन्दर्यात्मक मूल्य

सर्वोदय अर्थशास्त्र केवल शुद्ध अर्थशास्त्र नहीं है, यह समग्र मानव विकास या यों कहें कि यह सामाजिक अर्थशास्त्र है। क्योंकि महात्मा गाँधी ने स्वयं कहा था कि मनुष्य का जीवन टुकड़ों में नहीं हो सकता है। वह एक समग्र जीवन है जिसमें कि सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन सन्निहित है। आर्थिक मनुष्य की कोई कल्पना नहीं की जा सकती है। इसीलिए उन्होंने समग्र मनुष्य की कल्पना की है। गाँधीजी ने प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के संवर्धन व विकास पर विशेष बल दिया। उन्होंने एकादश व्रत की जो कल्पना की है उसमें प्रत्येक मनुष्य आत्मशुद्धि के माध्यम से व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को परिष्कृत करने का प्रयास करेगा। इसीलिए एकादश व्रत को नित्य का जीवन क्रम गाँधी जी ने बनाया। इस व्रत में शरीर श्रम से लेकर ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, आदि के संकल्प हैं। इस प्रकार मनुष्य जो अपने भौतिक जीवन को चलाये उसमें कहीं से भी स्वार्थपरता, दोष, विकार न आने पाये तभी व्यक्ति पवित्र एवं उन्नत होगा, तभी सामाजिक जीवन भी पवित्र होगा। आगे गाँधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम में सारे समाज निर्माण की प्रक्रिया डाल दी है। एक समाज निर्माता, एक युग द्रष्टा, और व्यावहारिक अर्थशास्त्री के गुण गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों में झलकता है।

इक्कीस रचनात्मक कार्यक्रमों का जैसे खादी, ग्रामोद्योग, नशाबन्दी, जातिभेद, अस्पृश्यता निवारण, साम्प्रदायिक एकता, ग्राम सफाई, नयी तालीम, स्त्री पुरुष की समानता, आरोग्य के नियम, देश की भाषाओं का विकास, प्रांतीय संकीर्णता का निवारण, आर्थिक समानता, खेती की उन्नति, मजदूर संगठन, आदिम जाति सेवा, विद्यार्थी संगठन, कुष्ट सेवा संकट निवारण या दुःखी की सेवा, गो सेवा तथा अन्य प्रकार के सामाजिक सेवा व परमार्थ आदि के रचनात्मक कार्यक्रम हैं। इससे स्पष्ट है कि गांधी जी इस भौतिक जीवन को आमूल परिवर्तन की ओर ले जाना चाहते हैं। इसमें जो भी कार्यक्रम हैं आर्थिक हैं।

गाँधी जी मनुष्य को एक इकाई के रूप में विकसित तो करना चाहते हैं परन्तु मनुष्य के व्यक्तिगत गुण जैसे सत्य, अहिंसा, करूणा, प्रेम, परोपकार आदि गुणों एवं मूल्यों को सामाजिक मूल्य बना देना चाहते हैं। व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट विकास, व्यक्ति का सही अर्थ में सामाजिक प्राणी व विवेक पूर्ण-प्राणी का होना तभी संभव है जब कि व्यक्ति अपने छोटे-छोटे स्वार्थों से ऊपर उठे और अपने सुख दुख को दूसरे के सुख दुःख में देखने का प्रयास करे। यही गांधी जी की सामाजिक नीति है।

गांधी जी ने स्पष्ट कहा है कि उनके अर्थ शास्त्र में और नीति शास्त्र में कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। सारी वस्तुओं का आधार मानवता एवं मित्रता है, इसलिए वे बराबर कहते हैं कि उनकी राजनीति और धर्म में कोई विलगाव नहीं है। सबको एक नैतिकता एवं सामाजिक मूल्य पर तौलते हैं इसलिए साध्य एवं साधन की जो उपादेयता है, शुद्धता है उस पर वे विशेष जोर देते हैं। साधन और साध्य दोनों शुद्ध हों और यह शुद्धता तभी आ सकती है जब उसमें नैतिकता हो, यह नैतिकता कोरा उपदेश नहीं है बल्कि गाँधीजी ने उसमें एक नया दर्शन एवं नया जीवन पिरोया। इसलिए गाँधीजी एक दर्शनकार हैं और एक वैज्ञानिक भी। परन्तु आधुनिक युग का जो दर्शनकार है वह व्यवहार विमुख है और आज का वैज्ञानिक प्रयोगशाला का बंदी बन गया है। परन्तु गाँधीजी एक दर्शनकार एवं वैज्ञानिक होते हुए व्यवहार कुशल व्यक्ति हैं जिन्होंने आत्मज्ञान और विज्ञान को एक में मिलाने का प्रयास किया। इसलिए वे सफल अर्थशास्त्री हैं। शुद्ध अर्थशास्त्र का जो रूप हमें देखने को मिलता है उसके सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा है। इसीलिए मानव अर्थशास्त्री, कल्याण अर्थशास्त्री, समाजवादी अर्थशास्त्री, आदि के विचार एवं स्कूल चले आ रहे हैं। गाँधीजी का सर्वोदय अर्थशास्त्र मानवीय कल्याणकारी एवं समाजवादी अर्थशास्त्र है। लेकिन उनके समाजवाद में आध्यात्मिकता एवं नैतिकता है। उनके समाजवाद में जीवन के रहन सहन के स्तर की नहीं बल्कि जीवन मान या जीवन मूल्य की प्रधानता है। अर्थात् मानवीय मूल्य की ही प्रधानता उनके सारे विश्लेषण में है। इसीलिए किसी भी प्रकार का दोष व विकार उनके आर्थिक विचार में नहीं पाया जाता। उन्हें मानवीय अर्थशास्त्री कहना उचित होगा।

व्यक्ति की आचार संहिता

गाँधी जी प्रत्येक व्यक्ति को साम्यवादी नहीं साम्ययोगी के रूप में देखना चाहते हैं। समता, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व के गुणों से उन्होंने साम्ययोग की कल्पना साकार करने का प्रयास किया। साम्यवाद जिन गुणों की स्थापना नहीं कर सका उनकी स्थापना व्यक्ति के आचरण द्वारा गांधीजी सहज रूप से करने की कल्पना करते हैं। इसलिए गांधीजी का साम्ययोगी समाज होगा और उसका प्रारम्भ व्यक्ति के जीवन से होगा। इसीलिए गाँधी जी ने प्रत्येक व्यक्ति की दिनचर्या में तीन महान् व्रतों का उपक्रम किया जिससे व्यक्ति का एक ही व्यक्तित्व हो। दो व्यक्तित्व की कल्पना ही न हो। व्यक्ति साम्ययोग की राह पर चल कर एक रस श्रमनिष्ठ समाज बनाये। अतः उन्होंने (१) सामूहिक प्रार्थना (२) सामूहिक सफाई और (३) सामूहिक कताई को आचार संहिता के रूप में दिया।

सामूहिक प्रार्थना

सामूहिक प्रार्थना केवल एक कोरा धर्म एवं अध्यात्म मात्र नहीं है जैसा कि विभिन्न धर्मों एवं कर्मकाण्डों में है। बल्कि उसके पीछे व्यावहारिक भौतिक आधार है। प्रत्येक व्यक्ति अपने एवं समाज के जीवन को सुखमय बनाने के लिए संकल्प लेता है। यह संकल्प इस बात का द्योतक है कि हर व्यक्ति शरीर श्रम में निष्ठा रख कर काम करेगा एवं उत्पादक वर्ग बनेगा। स्वावलम्बी जीवन होगा, परावलम्बी, शोषक, अनुत्पादक का जीवन नहीं होगा। शरीर श्रम से ही उत्पादन संभव होता है। जहाँ तक उपभोग का क्षेत्र है अस्वाद का अर्थ है कि स्वास्थ्य वर्धक आवश्यकताओं की तृप्ति होगी न कि स्वाद वर्धक की। आज जो असंतोष है उसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि स्वास्थ्य वर्धक से उठकर स्वाद वर्धक की ओर चली गयी है। स्वाद वर्धक आवश्यकता अनन्त एवं हानिकारक है। इसलिए सादा जीवन उच्चविचार की धारणा प्रत्येक के मन में हो तो व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन सुखी होगा। आवश्यकतायें इतनी मर्यादित एवं सीमित होंगी कि अपने ही साधनों से उनकी तृप्ति संभव होगी। यही है गांधीजी की आध्यात्मिकता जो भौतिक जीवन को पवित्रतम एवं सुखदायी बनाती है। एकादश व्रत के अलावा जो गाँधी जी

ईशोपनिषद् एवं अन्य धर्म ग्रन्थों से भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों को एक मंच पर सामूहिक प्रार्थना का अभ्यास कराते थे उसका यही तात्पर्य है कि व्यक्तिगत स्वार्थ विकार, मिट जाय एवं सामूहिक स्वार्थ एवं विचार प्रत्येक व्यक्ति में पनपे।

इस प्रार्थना में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति बराबर यह चिन्तन करे कि उसका स्वार्थ परमार्थ में ही निहित है। उसके पास जो भी साधन या शक्ति है उसका वह एक ट्रस्टी है। वह तभी उसका उपभोग कर सकता है जब उसमें समर्पण की भावना हो। इस प्रार्थना द्वारा प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपने ही समान समझता है, उसमें धर्म, जाति, वर्ग, रंग, लिंग उन सब भिन्नता के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रार्थना में भौतिक जीवन के प्रतिनिष्ठा है। यही सामूहिक प्रार्थना की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे एक रस समाज बनेगा। मनुष्यता या मानवता हमारे मन में, हमारे विचार में, वाणी व कर्म में महत्त्व पाये यही सबसे बड़ी खूबी है।

गांधीजी ने सारे समाज को एक रस बनाने का प्रयास किया है। इस कार्यक्रम द्वारा उन्होंने इस देश में ऐसे समाज बनाने का श्रीगणेश किया जिसमें कोई भेद नहीं होगा और सारा समाज मिल कर उत्पादन में सहयोग प्रदान करेगा। प्रार्थना द्वारा वर्ग के विचार, विशिष्टता के विचार इन सब को उन्होंने दूर करने की कोशिश की। हम सब मनुष्य हैं और मानव धर्म के पालन में प्रत्येक व्यक्ति का एक ही प्रकार का सहयोग एवं व्यवहार होना चाहिए। सामूहिक प्रार्थना से दोनों समय हम इसी बात का चिन्तन करते हैं। इससे (१) उपभोग में सादगी (२) उत्पादन में अपना श्रम (३) विनिमय एवं वितरण में मानवीय मूल्यों की स्थापना (४) सार्वजनिक व व्यक्तिगत जीवन में समता, एकता की झलक प्राप्त होती है। सामूहिक प्रार्थना केवल कर्मकाण्ड नहीं है बल्कि आर्थिक जीवन में इसकी बहुत बड़ी उपादेयता है।

सामूहिक सफाई

समाज निर्माण की दिशा में गांधीजी का यह दूसरा कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम द्वारा गांधीजी ने आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक तथा धार्मिक नीतियों का एक साथ समाधान प्रस्तुत किया है। इसके अन्दर

जो सामाजिक भेद है वह दो वर्गों में समाज को बांटता है। वह वर्ग जो समाज में स्वच्छता का कार्य करता है जिन्हें हम भंगी कहते हैं। यह कार्य बड़ा पवित्र है। बच्चों के मल-मूत्र की सफाई एवं अन्य प्रकार की स्वच्छता का काम माता करती है। उसे बहुत प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त है। परन्तु सारे समाज को स्वच्छ करने का कार्य-भार जिन पर है उन्हें हम भंगी एवं अस्पृश्य कहते हैं, वे घृणास्पद एवं निम्नकोटि के माने जाते हैं, यह एक सामाजिक अभिशाप है। इसके द्वारा समाज में किस प्रकार की कटुता पैदा होती है, ऊँच-नीच की भावना का विकास होता है—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। समाज से इस दुर्भावना को मिटाने के लिए गांधी जी ने यह इच्छा व्यक्त की थी 'हमारा अगला जन्म भंगी के घर हो।' इसमें बहुत बड़ा दर्द छिपा है। गांधीजी ने हरिजन उद्धार के सामाजिक पहलू को प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में दूसरा पहलू राजनैतिक है। गांधी जी ने सतत यह प्रयास किया कि भंगी, हरिजन आदि को वही बराबरी का स्थान मिले जो सवर्णों को प्राप्त होता है। हरिजन, भंगी आदि को सामाजिक धार्मिक एवं राजनैतिक प्रतिष्ठा देने का प्रयास गांधी जी ने किया। तीसरे सबसे अधिक उन्होंने इसके पीछे इस भौतिक युग में आर्थिक पहलू को सामने रखा। इस आर्थिक पहलू का विश्लेषण करते हुए उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वच्छता को उत्पादक, पवित्रतम, कल्याणकारी कार्य बताया। यह कार्य आर्थिक रूप से उत्पादक है। इसके विश्लेषण में उन्होंने जो विचार व्यक्त किए उनके आधार पर उत्पादकता और उर्वरक शक्ति की मीमांसा की गयी है। मनुष्य प्रतिदिन कितना मलमूत्र त्याग करता है यदि उसका विनियोग भूमि में किया जाय तो निःसन्देह भूमि की उर्वरक शक्ति कई गुना अधिक हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति का, जो इस दुनिया में उपभोग करता है, यह धर्म है कि भूमि की क्षीण उत्पादकता व उर्वरक शक्ति की पूर्ति करे। महात्मा जी ने अपने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया कि मलमूत्र की स्वर्ण खाद प्रति व्यक्ति से प्रतिदिन कितनी मात्रा में प्राप्त हो सकती और उसका प्रभाव भूमि पर :कितनी मात्रा में कितने दिनों तक अच्छी प्रकार से रह सकता है। मनुष्य एवं पृथ्वी इन दोनों के सम्बन्धों का उल्लेख कर कहा जा सकता है कि भूमि मनुष्य को पुष्टिकारक भोजन से शक्ति देती है, उसकी उस क्षीण उर्वरक शक्ति को वापस करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। इसलिए मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह

जो कुछ मल-मूत्र के रूप में त्याग करता है वह पृथ्वी को पूर्ण रूपेण प्राप्त हो।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि इस मलमूत्र को भूमि में डाल दे। यदि ये वस्तुएँ अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहती हैं तो बीमारी का कारण बनती हैं। इसका मानव शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गन्दगी चाहे जिस प्रकार की हो उसे ढकना चाहिए। सामूहिक सफाई की प्रक्रिया को उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का व्रत बनाया ताकि भू-माता को अधिक से अधिक उर्वरक प्राप्त हो। यह एक बहुत ही क्रान्तिकारी आर्थिक कदम है जिसके द्वारा महात्मा जी ने देश में कृषि की उत्पादन शक्ति की वृद्धि का कार्यक्रम बनाया। इससे भंगी-कष्ट-मुक्ति, शुचिता, एवं स्वच्छता का प्रभाव, भूमि की उर्वरा शक्ति की वृद्धि आदि का एक नया विज्ञान गांधी जी ने दिया। शौचालयों के निर्माण की कई उत्कृष्ट विधियों का प्रयोग किया। आज उन्हीं के बताये मार्ग पर कतिपय ढंग से प्रयोग किये जा रहे हैं। यदि सभी प्रकार की गन्दगी प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझ कर भूमि को दे तो सारा काम सुचारू रूप से हो और देश की उत्पादन शक्ति भी बढ़े। इससे बहुत बड़ा आर्थिक लाभ भी होता है। शहर, देहात के प्रत्येक व्यक्ति अपनी इस कर्त्तव्य-निष्ठा के प्रति जागरूक हों तो निःसंदेह देश की आर्थिक शक्ति बढ़ सकेगी। गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों में इसका विशेष महत्त्व रहा है। इसी कल्पना को लेकर उन्होंने आश्रमों का संचालन किया जहाँ सामूहिक सफाई के द्वारा एक रस समाज की कल्पना साकार हुई एवं समस्त भेद भाव को मिटाने का प्रयास हुआ। प्रत्येक उपभोक्ता उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ाये यही सामूहिक सफाई के पीछे एक उत्पादक दर्शन है।

सामूहिक कताई

सामूहिक कताई जो चर्खे या तकली से होगी वह एक प्रतीक है। इसका यह तात्पर्य है कि किस प्रकार से शरीर श्रम को प्रधानता दी जाय। शारीरिक श्रम आज समाज को दो भागों में बाँटता है। इस युग में भी जहाँ धर्म, जाति, रंग भेद नहीं है उसमें एक नया भेद शरीर श्रम द्वारा पैदा होता है। मनुष्य-मनुष्य में जो ऊँच नीच का भेद है वह शरीर श्रम से पैदा किया जा रहा है। जो शरीर श्रम करता है वह

मजदूर कहा जाता है, जो केवल बौद्धिक श्रम करता है उसे प्रबन्धक या मालिक कहा जाता है। इस प्रकार शारीरिक श्रम करने वाले को हेय दृष्टि से देखा जाता है। वह छोटा एवं नीच माना जाता है। इस प्रकार से बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम में जो भेद उत्पन्न हो गया है उसका निराकरण सर्वोदय अर्थशास्त्र में किया जाता है। इस अर्थशास्त्र द्वारा शारीरिक उत्पादक श्रम को महत्ता प्रदान की गयी है।

गांधी जी शारीरिक श्रम करने वाले उत्पादक की महानता स्थापित करना चाहते हैं। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उन्होंने इसे व्रत बनाया इसके द्वारा उन्होंने निम्नलिखित मीमांसा की :—

(१) शरीर श्रम उत्पादन के लिए आवश्यक है इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक शारीरिक श्रम करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक होना चाहिए।

(२) इस शरीर के स्वस्थ रखने के लिए किसी न किसी प्रकार का शारीरिक श्रम करना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहने के लिए उत्पादक श्रम करे ताकि दो प्रकार का लाभ हो सके। (क) अधिक से अधिक उत्पादन हो सके। (ख) मनुष्य स्वस्थ रह सके।

(३) जो उपभोक्ता है उसके लिए आवश्यक है कि पहले वह उत्पादक बने। बिना उत्पादन के उपभोग चोरी है। उत्पादक बनने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक श्रम करना आवश्यक हो जाता है।

(४) समाज से शोषण का अन्त करने के लिए, विषमता को समाप्त करने हेतु, भेद समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक श्रम करे। व्यक्ति किसी दूसरे पर आश्रित न रहे। इससे समाज में शान्ति एवं न्याय होगा।

(५) समाज में व्यक्ति का जीवन तीन प्रकार से चल सकता है :—

१ परावलम्बी जीवन—इसे परोपजीवी जीवन कहते। अर्थात् दूसरों पर जीवन या यों कहें दूसरे का शोषण करके जीना, इसे भारतीय दर्शन में मत्स्यन्याय कहा गया है। इस प्रकार के समाज में इसी प्रकार की मान्यता होती है और पूँजीवादी समाज की कुछ ऐसी ही मान्यता है जिसके कारण पूँजीवादी समाज का आधार ही समाप्त हो रहा है।

(२) स्वावलम्बी जीवन—प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी बने। स्वावलम्बन का महत्त्व उत्पादन के क्षेत्र में ही सबसे अधिक है। स्वावलम्बन का यह अर्थ हुआ कि अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को हम स्वयं उत्पादित करें।

(३) स्वावलम्बन का क्षेत्र पूर्ण विकसित होगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताओं की तृप्ति में अपनी ही उत्पादित वस्तु के द्वारा समर्थ होगा; तभी यह तीसरे प्रकार अर्थव्यवस्था का विकास होगा जिसे परस्परावलम्बी अर्थव्यवस्था कहते हैं। परावलम्बी एवं परस्परावलम्बी में सबसे बड़ा भेद होगा कि परस्परावलम्बी व्यवस्था में व्यक्ति प्रत्येक कार्य करने में समर्थ होगा। कोई काम छोटा-बड़ा नहीं होगा। इस संकल्प के साथ व्यक्तियों में पारस्परिक उत्पादन की व्यवस्था होगी।

जब कोई कार्य छोटा-बड़ा नहीं है तो किसान-मजदूर, नाई-वकील, सब बराबर होंगे। कोई कार्य बुरा नहीं होगा। यह मान्यता सारे समाज में मान्य होगी। इससे शारीरिक श्रम के प्रति जो घृणा, नीचता आदि का विचार है वह स्वयं समाप्त हो जायगा। समाज को एक नया मूल्य, नया मापदण्ड प्राप्त होगा। आज की पूँजीगत, श्रमगत, व्यवस्थागत जो भिन्नतायें एवं विरोध हैं वे सब समाप्त हो जायँगे और सम समाज बन सकेगा। इस प्रकार जो राजनैतिक समता, समाजिक समता मिली है वह परिपूर्ण होगी। बिना आर्थिक समानता के ये समतायें आज समाज में विकार के रूप में दिखाई पड़ती है। सर्वोदय व्यवस्था में इन सबका अन्त हो जायगा और आर्थिक समता के विकास के साथ-साथ मानवीय समता की स्थापना होगी।

शारीरिक श्रम द्वारा एवं उसकी महत्ता द्वारा इस अर्थशास्त्र का यही उद्देश्य है कि आज के समाज में जहाँ उपभोक्ता को महत्व प्राप्त है वहाँ उत्पादक को महत्ता प्राप्त हो। उत्पादक को महत्व प्रदान करने का अर्थ है कि शरीरश्रम को महत्व प्रदान किया जाय। आज के युग की माँग है कि सामाजिक न्याय, सामाजिक समता, एवं सामाजिक कल्याण सबको सुलभ हो। इस युग के लिए कार्ल मार्क्स ने एक नया मूल्य एवं नया सन्देश दिया जिसकी मान्यता प्रत्यक्ष या परोक्ष, पूर्ण या अपूर्ण रूप से प्रत्येक देश में हो रही है। लेकिन इस श्रम के महत्व का भान कराके मार्क्स ने निराश मजदूरों के मन में एक स्वामित्व की भावना पैदा की। सामर्थ्य एवं स्वामित्व को एक वर्ग से लेकर इस श्रमिक वर्ग को दिया जो वास्तव

में समर्थ एवं वस्तुओं का स्वामी है। इसने केवल हस्तांतरण की प्रक्रिया पूरी हुई। परन्तु मार्क्स श्रम के गौरव एवं महत्व को शाश्वत् रूप न दे सके। इसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का मूल्य न बना सके। गांधी जी ने इस अर्थशास्त्र द्वारा श्रम के महत्व को व्यक्ति के जीवन का व्रत बना दिया। टालस्टाय के ब्रेड लेबर को गांधी जी ने अपनी कर्म मीमांसा द्वारा व्यक्ति के जीवन में वही स्थान दिलाया जो पवित्र स्थान मनुष्य के जीवन में पूजा एवं तप का होता है। शारीरिक श्रम का विश्लेषण करके टालस्टाय के ब्रेड लेबर को महात्मा जी ने एक आध्यात्मिक रूप दिया और रोटी केवल रोटी न रह कर भगवान के रूप में बन गयी। रोटी में भगवान अर्थात् भौतिकता में आध्यात्मिकता को देखना, यही मानव जीवन का उत्कृष्ट और सम्मानित रूप है जिसकी स्थापना शारीरिक श्रम द्वारा अपने आर्थिक दर्शन में गांधी जी ने की है। सामूहिक कताई केवल एक संकेत है जिसके द्वारा इस भौतिक जीवन को पवित्र स्वरूप दिया जा सकता है।

सप्तम-परिच्छेद

सर्वोदय की आर्थिक पद्धति

किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए आर्थिक पद्धति का बहुत ही महत्व होता है। सर्वोदय अर्थव्यवस्था में स्वामित्व का क्या महत्त्व होगा, संचालन किस प्रकार होगा और उससे प्राप्त उत्पादन का व्यक्तियों के मध्य कैसे वितरण होगा, दूसरे शब्दों में उपभोग, विनिमय, उत्पादन, वितरण की व्यवस्था क्या होगी यह विचारणीय प्रश्न हैं। इसके लिए जो अर्थव्यवस्था स्वावलम्बन के आधार पर मान्य की गयी है वह यह है कि उत्पादन सबके लिए और उपभोग के लिए होगा। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन से लाभान्वित होगा। आज दुनियाँ में जो आर्थिक पद्धति है उसे निम्ननिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :—

(क) पहली आर्थिक पद्धति पूँजीवादी पद्धति है जिसके मूल में जो तथ्य हैं वे सामान्यतः निम्नलिखित बातों पर बल देते हैं—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने आर्थिक कार्य के लिए स्वतंत्र है। किसी भी प्रकार का राजकीय या सामाजिक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है। अपने उपकरणों द्वारा वह जिस प्रकार का जिस ढंग से कार्य करना चाहे करे। यह सबसे बड़ी विशेषता है। प्रत्येक अपनी शक्ति के अनुकूल अपने साधनों की सीमा के भीतर जो भी कार्य करना चाहे करे। इससे अधिकतम उत्पादन तो सम्भव होगा ही साथ ही साथ अधिकतम व्यक्तिगत शक्ति का प्रयोग भी सम्भव होगा।

(२) उत्पादन लाभ के लिए होता है। लाभ ऐसी प्रेरक शक्ति है जिससे उत्पादक अधिकतम लाभ के लिए अधिकतम उत्पादन करता है।

(३) प्रतियोगिता—बिना किसी बाधा के प्रत्येक व्यक्ति प्रतिस्पर्धा द्वारा अपने सामान को अपने ढंग से बनाता है। साथ ही साथ उसके विक्रय की सारी व्यवस्था करता है। इस प्रकार यदि अन्य प्रवृत्तियों को छोड़ भी दें तो पूँजीवाद में व्यक्ति का स्वार्थ लाभ के कारण इतना

अधिक बढ़ जाता कि वह सारा उत्पादन लाभ के लिए करने लगता है और जब लाभ की प्रवृत्ति घर बना लेती है तब वह मनुष्य के विकारों पर व्यापार करने लगता है। मनुष्य के विकारों पर, मनुष्य के दुर्गुणों पर, मनुष्य की असमर्थता पर, लाभ का व्यापार चलने लगता है। वस्तुओं में निकृष्ट तत्त्वों का समावेश, मिलावट आदि की प्रवृत्ति चलने लगती है। यदि उत्पादन से लाभ नहीं होता तो उत्पादित वस्तु समुद्र में फेंकी जाती है। अन्धाधुन्ध उत्पादन की प्रक्रिया से देश के साधनों का भी दुरुपयोग होता है। अनुत्पादित वस्तु गलत दिशा, गलत मात्रा में प्राप्त होने के कारण बर्बाद की जाती है। उसके पीछे शोषण, लूट आदि की प्रक्रिया तो होती ही है साथ ही साथ प्राकृतिक, आर्थिक, मानवीय सारी शक्तियों का दुरुपयोग होता है। यह दुरुपयोग दो प्रकार से होता है :—

(१) बहुत सी वस्तुओं का विकास एवं प्रयोग नहीं हो पाता और वे समाज में बिना प्रयोग किये ही पड़ी रह जाती हैं।

(२) जिन वस्तुओं का प्रयोग होता है उनका प्रयोग गलत वस्तुओं के उत्पादन में होने लगता है। उनकी बर्बादी होती है। साथ ही साथ वे उत्पादक को लाभ नहीं दे सकतीं इसलिए उन्हें नष्ट भी कर दिया जाता है। इन कतिपय दोषों के कारण एक नये प्रकार के विकल्प एवं पद्धति की खोज जरूरी है।

(ख) इसी के कोख से इन्हीं मान्यताओं से एक दूसरे प्रकार की आर्थिक पद्धति का जन्म हुआ जिसे साम्यवादी पद्धति कहते हैं। इसके आधारभूत सिद्धान्तों में और पूँजीवाद के सिद्धान्तों में केवल इतना अन्तर है कि उत्पादन लाभ के लिए न होकर उपभोग के लिए होगा। स्वामित्व व्यक्तिगत न होकर राजकीय होगा। उत्पादन राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा। किसी किस्म की बर्बादी नहीं होगी। उत्पादित वस्तुओं का वितरण ऐसा होगा कि सभी उसका उपभोग कर सकें। इस अर्थव्यवस्था में लाभ का कोई स्थान नहीं होगा। इसमें व्यवस्था राज्य द्वारा नियुक्त कर्मचारियों द्वारा की जायगी। ये व्यवस्थापक पूँजीवादी पद्धति की भाँति मालिक नहीं होंगे, बल्कि राज्य के नौकर होंगे। ये सब अन्तर केवल दिखावे के रूप में हैं। वास्तविकता तो यह है कि इस पद्धति का जन्म पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। इसलिए वे सब दोष इस पद्धति में भी आ गये हैं। सम

वितरण का उद्देश्य तो पूरा हुआ परन्तु अधिकतम उत्पादन का उद्देश्य अधूरा रह गया। इसका कारण है कि इसमें जो सामाजिक प्रेरणायें आनी चाहिए वे न आ सकीं। इस प्रकार इस पद्धति द्वारा यह स्वप्न देखा गया था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए निश्चिन्त होगा। प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम आवश्यकता की तृप्ति होगी ही साथ में उसकी कार्य करने की शक्ति, स्वतंत्रता, आदि का विकास होगा यह स्वप्न अधूरा रह गया। इसलिए यह स्वाभाविक है कि दोनों पद्धतियों की गुणात्मक शक्ति को निकाल कर एक नयी पद्धति का सृजन हो। ऐसी स्थिति में कौन पद्धति किस रूप में किस सीमा तक प्रयोग में लायी जा सकती है एवं व्यावहारिक हो सकती हैं? विचारकों ने सहकारिता की पद्धति की संस्तुति की है। कुछ लोगों ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की संस्तुति की है। कुछ लोगों ने अपने ढंग से नये समाजवाद की कल्पना की है।

सबसे बड़ा प्रश्न है कि इन सब आर्थिक पद्धतियों का प्रयोग किस धरातल पर हो और किस प्रकार हो। सीमित क्षेत्र में इसके प्रयोग किये गये हैं परन्तु विस्तृत क्षेत्र में बिना इसके प्रयोग के यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से सही है। इसके पीछे बहुत से कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि भौतिक साधनों का विकास जिसे हम तकनीकी प्रगति कह सकते हैं उसकी प्रगति की चाल तीव्र है और मानवीय समाज की, जिसे दूसरे ढंग से सामाजिक स्थिति कह सकते हैं, प्रगति की चाल उससे बहुत पीछे है। आर्थिक पद्धति और तकनीकी विकास दोनों में बहुत बड़ा दुराव हो गया है। तकनीकी प्रगति का निर्माता भी मनुष्य है और सामाजिक पद्धति को बनाने वाला भी मनुष्य है। ये दोनों इसके दो हाथ तो हैं पर एक हाथ विशाल होता जा रहा है पर दूसरा छोटा है। इस असन्तुलन के कारण मनुष्य के विचार, मनुष्य की आकांक्षायें, मनुष्य की कार्य प्रणाली व क्रिया शीलता इन सबमें अन्तर दिखाई देता है। मनुष्य स्वयं इन परिस्थितियों के कारण यह निश्चित नहीं कर पाता कि अपने निजी स्वार्थ एवं सामाजिक स्वार्थ एवं परमार्थ का समन्वय वह किस मात्रा में किस सीमा के अन्दर करे। विचारों में वह सामाजिक स्वार्थ या भावों को लाने का वाणी द्वारा प्रयास करता है परन्तु कतिपय परि-स्थितियों के कारण स्वार्थ इतना प्रबल हो जाता कि सारी सामाजिक

भावनायें विलीन हो जाती हैं। इसी अन्तर्द्वन्द्व एवं विरोधाभास के कारण मनुष्य किसी सही रास्ते का अनुगामी नहीं बन पा रहा है। इन सब परिस्थितियों का जब विश्लेषण किया जाता है तो ऐसा लगता कि कहीं न कहीं बड़ा दोष है जो मनुष्य के लिए बाधक है। प्रत्येक व्यक्ति आज एक तीसरे प्रकार की पद्धति, व्यवस्था एवं विचार की इसलिए तलाश में है कि ये दोनों पद्धतियाँ अब इसके लिए बेकार सी हो गयी हैं। इस तीसरी पद्धति का प्रयोग तो अभी नहीं हुआ है, अभी वह विचारों में जगह बना रही है। इसे जब व्यवहार में लाया जायगा तभी इसके महत्व और व्यावहारिकता को आँका जा सकता है। यह तीसरी पद्धति सर्वोदय अर्थशास्त्र की है।

इस व्यवस्था में जो प्रचलित दो आर्थिक पद्धतियों के द्वन्द्व हैं वे समाप्त हो जायँगे। इन द्वन्द्वों में एक, व्यक्ति व समाज का द्वन्द्व है। दूसरा, पूंजी और श्रम का द्वन्द्व, तीसरे, अधिकार एवं कर्त्तव्य का द्वन्द्व, चौथे मानवता और भौतिकता का द्वन्द्व, पाँचवाँ, स्वावलम्बन एवं परावलम्बन का द्वन्द्व, छठा, मालिक और मजदूर का द्वन्द्व, सातवाँ कच्चे व पक्के माल का द्वन्द्व, आठवाँ उपभोक्ता एवं उत्पादक और नवाँ उत्पादक और वितरण में द्वन्द्व है, इन सबका निराकरण इस पद्धति में हो जाता है।

सर्वोदय की पद्धति

इसमें उत्पादक ही उपभोक्ता होगा। प्रत्येक व्यक्ति को उपभोग के लिए पहले उत्पादक बनना पड़ेगा। इससे जो सम्बन्धों के कारण द्वन्द्व पैदा होता है वह समाप्त होगा। उत्पादक समाज इस बात की गारंटी सबको देगा कि सभी सामाजिक एवं आर्थिक कार्य समान हैं। ऊँच-नीच, मालिक-मजदूर, उत्पादन-वितरण, इन सब समस्याओं के लिए कोई स्थान नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति होगी। प्रत्येक व्यक्ति समाज के लिए उत्पादन करेगा और समाज उतना समृद्धशील बनेगा कि वह प्रत्येक व्यक्ति की उत्पादकता एवं कार्यक्षमता की वृद्धि में सहायक होगा। इस प्रकार से व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे के पूरक होंगे न कि एक दूसरे के विरोधी।

आज मुक्त अर्थव्यवस्था में जो इतना बड़ा दुराव पैदा हो गया है वह

समाप्त हो जायगा। इस पद्धति के उत्पादन में व्यक्ति पूर्णरूपेण शक्तिमान होगा। जो उसके समक्ष बाधायें हैं वह समाप्त हो जायँगी। पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था में जो दोष उत्पन्न हो गया है उसका निराकरण होगा। किसी प्रकार की विभिन्नता और सन्देह इसीलिए नहीं रहेगा। कि इस पद्धति का मूल केन्द्र मनुष्य होगा। मानवीय अर्थशास्त्र मानवीय मूल्यों से संचालित होगा। ऐसी स्थिति में किसी भी प्रक्रिया में कोई दोष पैदा ही नहीं हो सकता।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है इसलिए उसे व्यक्तिवादी आर्थिक पद्धति कहते हैं। दूसरी तरफ समाज-वादी अर्थव्यवस्था में व्यक्ति को महत्व न देकर समाज को अधिक महत्व दिया जाता है। सर्वोदय अर्थपद्धति में व्यक्ति व समाज में अन्तर समाप्त हो जाता है, इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों को प्रधानता दी जाती है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के सहायक एवं पूरक होते हैं। ऐसी अवस्था में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को व्यक्तिकरण से सम्बोधित किया जाता है, समाज-वाद को सामाजीकरण से सम्बोधित किया जाता है। परन्तु इस सर्वोदय व्यवस्था में व्यक्तिकरण एवं सामाजीकरण दोनों में कोई भेद नहीं किया जाता। इसे व्यक्ति का सामाजीकरण कह सकते हैं। पर वास्तविकता यह है कि यह अर्थव्यवस्था दोनों का कोई मिश्रित घोल नहीं है बल्कि स्वयं एक मौलिक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था है। इसलिए इस अर्थ-व्यवस्था को हम पारिवारीकरण से सम्बोधित कर सकते हैं। पारिवारीकरण के अर्थ हुए कि जिस प्रकार से एक परिवार में कोई व्यक्ति होता है जो सारे परिवार की व्यवस्था करता है लेकिन इस व्यवस्था में परिवार के प्रति एक प्रेम, सहिष्णुता एवं दया की भावना होती है। ये सब गुण इस अर्थव्यवस्था में पाये जाते हैं। व्यक्ति का गुणात्मक विकास जिस प्रकार से परिवार में होता उसी प्रकार से समाज में भी होता है। हमारी सारी आर्थिक व्यवस्था इन्हीं गुणों द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित होती है। जिस प्रकार से परिवार का प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार उत्पादन करके पूरे परिवार का भरण-पोषण करता है उसी प्रकार से इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति, उत्पादन अपनी योग्यता के अनुसार करेगा। इन उत्पादित वस्तुओं के उपभोग के लिए अपनी आवश्यकतानुसार प्रत्येक परिवार का सदस्य वस्तुओं को ग्रहण करे। यही प्रवृत्ति एवं

प्रक्रिया सामाजिक उपभोग के सन्दर्भ में भी होगी। प्रत्येक परिवार में जो सम्बन्ध उत्पादन एवं उपभोग के होते हैं वही सम्बन्ध समाज में भी होते हैं। समाज एवं परिवार इन्हीं मूल्यों पर चलते हैं। ऐसी स्थिति में समाज का प्रत्येक सदस्य अधिकतम उत्पादन भी करता है और अधिकतम उपभोग भी करता है। पूंजीवादी एवं साम्यवादी अर्थव्यवस्था में जो उत्पादन एवं उपभोग के गुण हैं वे इस अर्थव्यवस्था में स्वतः आ जाते हैं। इस आर्थिक पद्धति में यही सबसे बड़ा गुण है। इसी गुणात्मक सन्दर्भ में सारी आर्थिक क्रियायें जैसे उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण चलते हैं—आज की प्रचलित आर्थिक पद्धति में जो विकार उत्पन्न होते हैं उनकी सम्भावना इस पद्धति में नहीं होती। चूंकि पारिवारीकरण इस पद्धति के मूल में होता है इसलिए वे सब बुराईयाँ जो भौतिक लिप्सा, राजनैतिक सत्ता; पदलोलुपता, संग्रह की भावना, आर्थिक-विषमता, शोषण, अपमान, दरिद्रता, बेकारी आदि होते हैं वे सब इस पद्धति में हो ही नहीं सकतीं। इसलिए इस आर्थिक पद्धति को अधिक श्रेष्ठ एवं उचित माना जाता है। दुनिया में इस पद्धति के गुणों का नाम तो लिया जाता है पर इसका प्रयोग अब तक नहीं हो पाया। इसका सबसे बड़ा कारण है कि मनुष्य की कमजोरियाँ इस रास्ते में बाधक होती हैं। आज सभी कार्यों का नियामक तन्त्र राज्य होता है। इस पद्धति में राज्य शक्ति का प्रयोग प्रायः नगण्य होगा। पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था में राज्य का प्रयोग बड़ी मात्रा में किया जाता है। चूँकि इस अर्थव्यवस्था में उपभोग के प्रकार, उसकी सीमा, आदि निश्चित होंगे इसीलिए उत्पादन मर्यादित, स्वास्थ्यवर्धक उपभोग से नियन्त्रित एवं संचालित होंगे। कृषि, उद्योग, यातायात, बैंक, वाणिज्य, सबका नियमानुसार संचालन इन्हीं गुणों पर आधारित होगा।

साम्यवाद तथा साम्ययोग के तात्विक भेद

साम्ययोग में ऐसा माना जाता है कि मनुष्य स्वभावतः गुणों का पुंज है, उसकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति सद्‌गुणमय है। परन्तु उसमें जो दोष आ जाते हैं वे दोष परिस्थितिजन्य या विकासजन्य होते हैं। इसलिए साम्ययोगी मानवीय निष्ठा में पूर्णविश्वास करता है। मनुष्य की गुणात्मक शक्ति में विश्वास रखता है।

परन्तु साम्यवाद की यह मान्यता है कि मनुष्य न तो स्वभाव से अच्छा है और न बुरा। उसे परिस्थितियाँ अच्छा और बुरा बनाती हैं। साम्यवाद की मान्यता मनुष्यता में और मनुष्य की गुणात्मक शक्ति में नहीं है बल्कि परिस्थितियों में है। मनुष्य इन्हीं परिस्थितियों का दास है। इसीलिए साम्यवाद मनुष्य को परिस्थितियों में बाँधता है और सापेक्षिक मूल्य में विश्वास करता है। वहीं पर साम्ययोगी निरपेक्ष मूल्य का विश्वासी है। दोनों मूल्यों में बहुत बड़ा अन्तर है। साम्यवाद इस मूल्य की विभिन्नता के कारण साम्ययोग से अपने सारे विश्लेषणों में भिन्न हो जाता है।

साम्ययोग आत्मसंयम, आत्मविश्वास, आत्मनिर्माण पर बल देता है, इससे मनुष्य में नये संस्कारों का निर्माण होता है और परिस्थितियों में ऐसा परिवर्तन होता है कि मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्ति के विकास में कोई बाधा नहीं पहुँच पाती और उन सब दोषों के हटाते रहने की प्रक्रिया चलती है जो मनुष्यता के विकास में बाधक होते हैं। ये परिस्थितिजन्य दोष उस राख की तरह होते हैं जो प्रज्वलित अग्नि के ऊपर कालांतर में आ जाते हैं। उनका कोई विशेष महत्व नहीं होता।

परन्तु साम्यवाद वस्तु परिवर्तन को प्रधानता देता है। चूँकि इसकी यह मान्यता है कि परिस्थितियाँ ही मनुष्य का निर्माण करती हैं और बाह्य वस्तुएँ ही मनुष्य के विचार, मस्तिष्क, मन को निर्मित करती हैं इसलिए सारी परिस्थितियों को ही बलपूर्वक इस तरह परिवर्तित कर देना कि जो इनसे दोष उत्पन्न होते हैं वे उत्पन्न ही न हों और मनुष्य दोषमय न हो सके। साम्यवाद मनुष्य को दुर्बल प्राणी मानता है और परिस्थितियों को उसका निर्माता। यद्यपि यह भ्रम ही है कि परिस्थितियों के निर्माता मनुष्य को इतना निर्बल मान लिया जाय क्योंकि जो मनुष्य परिस्थितियों का निर्माण करता है उसमें इतनी शक्ति तो अवश्य ही होती है कि वह आवश्यकता पड़ने पर उसे नष्ट भी कर दे। मनुष्य ही रिंग मास्टर है। इसलिए मनुष्य को परिस्थितियों का दास मान लेना, असमर्थ मान लेना भ्रम ही हो सकता है। ऐसा माना जा सकता है कि परिस्थितियाँ कुछ काल तक मनुष्य को व्यामोह में डाल दें और मनुष्य उन्हीं को सब कुछ मान बैठे परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह उसका दास बनकर असमर्थ हो जाता है। आत्मसंस्कार जो उसकी सबसे महान् गुणात्मक शक्ति है उसके द्वारा वह युग द्रष्टा बनकर महान् क्रान्तिकारी का रूप लेता है।

साम्ययोग हृदय परिवर्तन में पूर्ण विश्वास रखता है। हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया का सहारा लेकर सारी बाह्य परिस्थितियों को परिवर्तित कर देना, ऐसा इसलिए सम्भव है कि मन और विचार में परिवर्तन ही कार्य में प्रतिबिम्बित होता है। आन्तरिक तथा बाह्य परिवर्तन मनसा, वाचा, एवं कर्मणा द्वारा साथ-साथ होने लगते हैं।

परन्तु साम्यवाद का यह विश्वास है कि बाहरी शासन और नियन्त्रण के द्वारा मनुष्य के विचार और मन में परिवर्तन सम्भव है। बाह्य परिस्थितियों को एक बलवती शासन और नियन्त्रण की पद्धति से बदल देने से ही मनुष्य भी मनसा, वाचा, कर्मणा से बदल जायगा। परन्तु साम्यवाद इस बात को भूल जाता है कि परिवर्तन विचारों में सबसे पहले होता है और वैचारिक परिवर्तन के उपरान्त जो व्यवहार होता है वह स्थायी होता है। यदि बाह्य परिवर्तन हुआ और वैचारिक परिवर्तन नहीं हुआ तो ये सारी प्रक्रिया जड़वत होगी और कालान्तर में बिना समझ के ये परिवर्तन बेकार हो जायेंगे।

साम्ययोग मनुष्य को विभूति मानता है। मानव केन्द्र बिन्दु होता है। वही साध्य है। उसके विकास के लिए ही सारी रचना, योजना और व्यवस्था होती है, ये सारे उपक्रम केवल साधन मात्र हैं। ये सारी बाह्य व्यवस्थाएँ मनुष्य की स्वयं कर्तृत्व, स्वप्रेरित शक्ति के लिए उपयोगी होती हैं।

परन्तु साम्यवाद मानव को क्रान्ति की सारी क्रिया में, संयोजन में, व्यवस्था में, केवल साधन मात्र मानता है। मानव उपकरण है जो इन साध्य आदर्शों व्यवस्थाओं के लिये उपयुक्त होता है। यहीं पर साम्यवाद सबसे अधिक भ्रामक हो जाता है। मनुष्य ही सारे ज्ञान विज्ञान विद्या पद्धति का प्राण रहा है और आज भी है। मानव के लिये ही सबका निर्माण हो रहा है। ऐसी स्थिति में मानव की अवहेलना और केवल उसे उपकरण मात्र मान लेना उचित नहीं है। यद्यपि साम्यवाद मनुष्य के लिये ही सारी रचनाओं का उपक्रम करता है परन्तु उसे गौण मान कर अपने सारे आदर्शों को धूमिल कर देता है और इसीलिये बहुत की त्रुटियाँ और भ्रम साम्यवाद में आ जाते हैं। साम्ययोग मानव को ही श्रेष्ठ एवं परममूल्य मान कर चलता है इसलिये उसमें किसी दोष की आशंका ही नहीं रह जाती।

साम्ययोग चूंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं कर्तृत्व, स्वशासन,

संस्कार और निर्माण की आधार शिला पर आधारित है, इसलिये वह मनुष्य की अपूर्व दिव्य शक्ति को जाग्रत करना ही अपना ध्येय समझता है।

इसलिये उन जड़वत बंधनों से जो भय और सत्ता पर आधारित होते हैं उनसे मुक्ति पाना चाहता है। इसलिये शासन मुक्ति की साधना साम्ययोग में प्रथम चरण है। इसी से व्यक्ति का नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विकास होता है। यह विकास मानवीय मूल्य पर आधारित होने के कारण सदैव उन्मुक्त, पवित्र, दिव्य एवं शाश्वत होता है।

परन्तु साम्यवाद राज्य संस्था एवं राज्य सत्ता को समाज परिवर्तन का प्रमुख साधन मानता है। इस तंत्र के द्वारा वह एक ऐसे समाज की ओर जाना चाहता है जो शासन विहीन, राज्य विहीन होगा। जिसमें सामाजिक भावनायें होंगी। परन्तु यह भ्रम और भी भयावह सिद्ध होता है कि उसी राज्य तंत्र को वलवती रूप देकर, सुदृढ़ वनाकर किस प्रकार से उसे निर्वल एवं नष्ट किया जा सकता है। इसलिये यह साधन साम्यवाद के आदर्शों की प्राप्ति के सर्वथा प्रतिकूल है। शासन मुक्ति शासन भक्ति से नहीं हो सकती है।

साम्ययोग अहिंसा को जीवन का निरपेक्ष एवं शाश्वत मूल्य मानता है। सारी मानवीय क्रान्ति का आधार अहिंसा होती है। अहिंसा का अर्थ यही हुआ कि प्रत्येक मानव वल पूर्वक नहीं वल्कि सद्भावना और विश्वास पूर्वक उन सब प्रक्रियाओं को मान लेता है जो इस क्रान्ति में निहित हैं। अहिंसा मानवीय गुण है और जितनी ही अहिंसात्मक शक्ति मनुष्य में होती है उतना ही मनुष्य वीरता की ओर बढ़ता है। हिंसा क्लीव शक्ति है, निर्बल मानव की शक्ति है। अहिंसा मानव को मानव से जोड़ती है, जब कि हिंसा मानव को मानव से तोड़ती है। अहिंसा मानव के उन सब गुणों जैसे, करुणा सहानुभूति से अभिप्रेरित होती है और एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने की प्रेरणा देती है। यह एक प्रेरक शक्ति मानव से मानव को बाँधने के लिए और मानव में मानव को देखने के लिये उत्पन्न करती है। इस शक्ति के द्वारा मानव रंग-भेद, जाति-भेद, वर्ग-भेद, धर्म-भेद, क्षेत्र-भेद से ऊपर उठकर एक विशाल समुद्र वन जाता है। उसमें किसी प्रकार का विकार दुराव, वैमनस्य हो ही नहीं पाता। यही मानवीय निष्ठा के क्रान्तिकारी का गुण वन कर सामाजिक गुण वन जाता है।

परन्तु चूँकि साम्यवाद निरपेक्ष मूल्य में कोई विश्वास नहीं करता और उसमें शाश्वत मूल्य के लिये कोई स्थान नहीं होता, अतएव वह केवल सापेक्ष मूल्य को ही प्रधानता देता है। इसलिये हिंसा का अथवा अहिंसा का उसके समक्ष कोई भेद ही नहीं है। परिस्थितियों के बदलने के लिये हिंसा, भय, सत्ता सब का प्रयोग इसे मान्य होता है। यह इस बात को मानता है कि बलपूर्वक, भय से परिस्थिति को निर्मित करना चाहिये, क्योंकि मनुष्य अज्ञान वश परम्परावादी होने के कारण विकृत परिस्थितियों के मोह में फँसा होता है। भय एक मात्र उपाय है जिससे परिवर्तन लाया जा सकता है।

परन्तु यह समझ में नहीं आता है कि यदि कोई परिस्थिति मानव के कल्याणार्थ है तो क्या मानव इतना मूर्ख है कि उसका स्वागत स्वतः नहीं करेगा। हिंसा के आधार पर मनुष्य को बाध्य करके जो रचना होगी वह टिकाऊ तो हो ही नहीं सकती और एक हिंसा और भय को दूसरी हिंसा और भय से निर्मित करना पड़ता है और इस प्रकार भय और हिंसा का स्वरूप विकराल हो जाता है, मनुष्य के मन में एक प्रतिक्रिया पैदा होती है जो अगले समाज के लिए घातक सिद्ध होती। इसलिए हिंसा, निर्बलों, अविश्वासियों का गुण बनती है और समाज को निर्बल बनाती है।

साम्ययोग इस बात को मानता है कि गरीबी अमीरी भगवान् द्वारा निर्मित नहीं हैं, यह पिछले जन्म के पाप के कारण नहीं है बल्कि यह बनावटी है और मनुष्य द्वारा निर्मित है इसका निराकरण स्वयं मनुष्य की शक्ति के अन्दर है। मनुष्य ही निर्माता है और मनुष्य ही इसे दूर करने वाला भी है। सारी आर्थिक विषमताएँ समाज द्वारा निर्मित होती हैं। यह नैसर्गिक नहीं हैं। इनका निराकरण मानव समाज की पहली आवश्यकता है।

यहाँ साम्यवाद भी पूर्णतया साम्ययोग के विचारों से सहमत है। यह विचार साम्यवाद की महान् देन है। अब तक सभी धर्मों एवं मसीहों ने यही कहा था कि दरिद्रता नैसर्गिक है, दैव निर्मित है, परन्तु साम्यवाद ने ही पहली बार यह नया मूल्य दिया कि यह ऐसा नहीं है। इसी मान्यता, मूल्य और भूमिका से साम्यवाद का उदय होता। यही मानव के लिए सबसे बड़ा क्रान्तिकारी विचार है कि गरीबी, आर्थिक विषमता मानवकृत है। यह मिट कर रहेगी, धन और धरती सबमें बँट के रहेगी। यहाँ पर साम्यवाद और साम्ययोग एक मत हैं।

साम्ययोग इस बात को मानता कि इस विषमता की बुनियाद में मनुष्य के विकार : अज्ञान की वह शक्ति है जो उसे अपने गुणों से पदच्युत करती है। उसमें कुछ संग्रह, लोलुपता, आर्थिक प्रभुत्व की आकांक्षा, वासना की प्रधानता हो जाती है, जिससे मनुष्य इन वासना मय प्रलोभनों से अपने कर्त्तव्य से विचलित हो जाता है। कतिपय ढंग से समाज का शोषण करने लगता है। यहीं पर विषमता की जड़ पनपने लगती है। पद, धन, नाम, प्रतिष्ठा के मोह का सहारा लेकर और उनके मोह में बँधकर इन सब विषमताओं का वह कारण बन जाता है। पुनः जब उसे ज्ञान होता है तो वह इनसे मुक्त हो जाता है।

साम्यवाद भी इस बात को मानता है, परन्तु मनुष्य के उन गुणों की ओर वह ध्यान नहीं देता है जिनके कारण इन सब वासनाओं से मनुष्य त्राण पा जाता है। उसका कारण यह है कि साम्यवाद इन सब विषमताओं की बुनियाद में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक पद्धतियों व व्यवस्थाओं को जोड़ देता है। इस तथ्य को वह स्वीकार करता है कि व्यक्ति के संग्रह, लोलुपता, अज्ञानता के दोषों के कारण ही यह विषमता उत्पन्न होती है परन्तु सारा दोष साम्यवाद पद्धति को मढ़ देता है। यही इसमें भ्रम है।

साम्ययोग इस वासना और लोलुपता को मनुष्य का स्वाभाविक गुण नहीं मानता, यह मनुष्य का विकार है। इसलिये इसका निराकरण भी संभव होता है। हमारा प्रतिदिन का जीवन सारा मानव समाज का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे विकार नष्ट हुए हैं और हमने उनके लिए पश्चाताप भी किया है। इसीलिए आज समाज स्थायी रह सका है।

परन्तु साम्यवाद इस बात को मानता है कि यह विषमता इतिहास में एक विकसित रूप लेकर हमारे सामने आती है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। इसके निराकरण के उपाय ही सामाजिक विकास की प्रक्रिया है। इसके निराकरण के लिए बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ही आवश्यक है, क्योंकि परिस्थितियाँ ही इन विकारों को बढ़ाने एवं स्थायी रखने में सहायक होती हैं। इनका निराकरण अवश्य होगा और आवश्यक भी है परन्तु बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन द्वारा ही; न कि मानव के आंतरिक परिवर्तन द्वारा जैसा कि साम्ययोग मानता है।

साम्ययोग जीविका और जीवन के सम्बन्ध को मान्यता देता है और मानता है कि आर्थिक विषमताओं, अन्यायों का सम्बन्ध राज नैतिक,

सामाजिक, और सांस्कृतिक पद्धतियों से होता है। परन्तु सारी राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक बुराईयों का कारण केवल आर्थिक विषमताएँ हैं, ऐसा नहीं है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, उसके विचारों में महान् परिवर्तन होते हैं। आर्थिक विषमता में ही दुनिया के सारे विकारों का कारण नहीं होता है। इसके लिए इतिहास साक्षी है। आर्थिक विषमता जीवन पर प्रभाव डालती है, इसमें कोई संदेह नहीं परन्तु इसी का पूरा हाथ होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। युगों से मानव की चेतना उसके जीवन के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को आगे बढ़ाती रही है। इसलिए उनमें जब भी कालान्तर में विकार हुआ है तब समाज बुराईयों से ग्रस्त हुआ है।

साम्यवाद सारी राजनीतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक बुराइयों की बुनियाद में आर्थिक उत्पादन के साधन तथा पद्धति को एक मात्र कारण मानता है। सारे सामाजिक दोष, अन्याय केवल आर्थिक दोषमय उत्पादन पद्धति एवं विषमता के कारण हैं। साम्यवाद मनुष्य की उन सब विचार शक्तियों और चेतनाओं की, जो धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्रों में प्रस्फुटित हुई हैं, अवहेलना करता है। यह एक महान् भ्रम है। इतिहास में परिवर्तन लाने की शक्ति उसमें दोष या गुण लाने की शक्ति, मनुष्य के विचारों से प्राप्त हुई है और ये विचार सामाजिक आकांक्षा या व्यक्तिगत आकांक्षाओं से प्रस्फुटित हुए हैं, न कि केवल आर्थिक विषमताओं से। परन्तु साम्यवाद ने इन पर जो विशेषबल दिया है उसका मूल कारण उस समय की योरप की परिस्थिति विशेष थी। जीविका और जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है परन्तु इन सम्बन्धों का निर्वाह जीवन के मूल्यों पर आधारित होता है।

साम्ययोग सामाजिक दोषों के निराकरण में आर्थिक दोषों के निराकरण को एक महत्वपूर्ण स्थान देता है। यदि आर्थिक विषमताओं, दोषों, उत्पादन पद्धतियों में परिवर्तन होता है और उनका गुणात्मक प्रयोग होता है तो सारी सामाजिक विषमताओं तथा दोषों के निराकरण में सहायता मिलती है। गांधी जी के शब्दों में मनुष्य को रोटी भी चाहिए से स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक विषमता भी अपना महत्व रखती है, परन्तु उसी का पूर्णरूपेण स्थान नहीं है।

साम्यवाद आर्थिक विषमताओं को अमोघ यन्त्र मानता है। यही

उसका रामबाण है। यदि आर्थिक विषमता का निराकरण कर दिया गया तो सारे सामाजिक दोष अपने आप विलुप्त हो जायँगे, ऐसा दावा है। ये दोष चाहे धार्मिक हों, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक या व्यक्तिगत हों सबके सब आर्थिक दोष के निराकरण से ही नष्ट हो जायँगे। परन्तु साम्यवाद का यह महान् भ्रम है। समाज में दोषों का अध्ययन करके देखें तो पता चलता कि असंख्य दोष असंख्य कारणों से होते हैं, केवल आर्थिक दोषों के निराकरण से ही वे कभी दूर नहीं हो सकते। दुनिया में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, कलात्मक विविध प्रकार की क्रान्तियाँ हुईं, क्योंकि मनुष्य के अन्दर दिल और दिमाग भी अपनी सारी कल्पनाओं के साथ इस जड़वत शरीर में स्थित है। इसी चेतना से सारे गुण दोष उत्पन्न होते हैं और इसी से उनका निराकरण भी होता है। भौतिक बुराईयों का निराकरण ही सारी सामाजिक बुराईयों का निराकरण कर ही नहीं सकता। आर्थिक विषमताओं के निराकरण से समाज की वे बुराईयाँ दूर हो सकती हैं जो केवल उन्हीं कारणों से हैं।

साम्ययोग सभ्यता तथा संस्कृति को प्रधानता देता है। अर्थरचना और राजतंत्र दोनों का निर्माण समाजनीति, जो संस्कृति और सभ्यता की रीढ़ है, के द्वारा होता है। समाज की सभ्यता और संस्कृति आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करती है और उसी आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप राज्य व्यवस्था बनती है। एक सभ्य सुसंस्कृत समाज मानवीय मूल्य के निर्माण एवं निर्वाह के लिए मानवता के अनुकूल ही अर्थरचना करता है। अर्थरचना में समाज की सभ्यता और संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। इसी अर्थरचना के द्वारा समाज और मानव अपने गुणों, सभ्यता एवं संस्कृति के माप दंड की अभिव्यक्ति करता है।

साम्यवाद इसके विपरीत सभ्यता और संस्कृति में अर्थरचना को प्रतिबिम्बित करता है। सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था, सभ्यता, संस्कृति का निर्धारण आर्थिक व्यवस्था से होता है। इतिहास के उदाहरणों से साम्यवाद इस बात की पुष्टि करता है कि सारी सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण अर्थरचना द्वारा ही हुआ है। अर्थ रचना को बदल देने से सभ्यता और संस्कृति तथा मानवीय सम्बन्ध बदल जाते हैं। इस प्रकार साम्यवाद केवल मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध को ही प्राथमिकता और महत्व देता है। जो मनुष्य के जीवन के वास्तविक लक्ष्य और मूल्य

हैं और जिनसे सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण होता है उनको साम्यवाद उतना प्रभावशाली नहीं मानता। यह एक विडम्बना ही है। यद्यपि साम्यवादियों ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए इतिहास को बहुत तोड़ा और मोड़ा है परन्तु इतिहास स्वयं इस बात के विरोध में है। जितना ही समाज सभ्य और सुसंस्कृत रहा है उतनी ही उसकी आर्थिक रचना भी न्यायोचित रही है। जितना ही समाज नीच, खसोट एवं शोषण-वाली पद्धति पर रहा है उतनी ही उसकी अर्थरचना विकृत रही है। सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति और समाज के भौतिक एवं आर्थिक व्यवहार भी सभ्य और सुसंस्कृत होते हैं। इसके विपरीत होने पर आर्थिक व्यवहार भी विकृत होते हैं।

साम्ययोग स्वामित्व की भावना का निराकरण करता। व्यक्तिगत स्वामित्व और व्यक्तिगत सम्पत्ति ऐसी वस्तु कोई नहीं है। यहाँ तक कि यह शरीर भी व्यक्ति का नहीं है। किसी भी प्रकार के स्वामित्व, किसी भी प्रकार की सम्पत्ति की भावना ही व्यक्तिगत रूप से नहीं होनी चाहिए। व्यक्ति की बुद्धि, व्यक्ति का शरीर, भूमि, पूँजी, साधन ये सबके सब समाज को समर्पित होंगे। 'सबै भूमि गोपाल की' 'सब सम्पत्ति रघुपति कै आही', यही समर्पण की प्रमुख भावना है। यही साम्ययोग की मान्यता है।

साम्यवाद केवल व्यक्तिगत स्वामित्व और संपत्ति का निराकरण आवश्यक मानता है। वह साम्ययोग से कई कदम इसलिए पीछे है कि साम्योग तो स्वामित्व और सम्पत्ति की भावना तक का निराकरण करता है। साम्यवाद, सम्पत्ति और स्वामित्व की बुनियाद नष्ट नहीं होने देता, उसे दूसरे स्वरूप में मान्यता देता है। सामाजिक सम्पत्ति, सामाजिक स्वामित्व की भावना व्यक्ति के मन में विकार का सृजन करती है। व्यक्ति भावना से मुक्त नहीं हो पाता है और सम्पत्ति और स्वामित्व की ओर उसकी बराबर दृष्टि रहती है क्योंकि ईर्षा की प्रेरक शक्ति समाज में रहती है जो आगे चलकर समाज को पुनः विकृत कर देती है। परन्तु साम्ययोग बड़ी सतर्कता के साथ इसकी भावना को ही समाप्त कर देता है।

साम्ययोग इस प्रकार से व्यक्तिगत और सामुदायिक सभी प्रकार के स्वामित्व एवं सम्पत्ति की भावना को दूर कर देता है। सम्पत्ति और स्वामित्व की जो अहं भावना है उसे जड़मूल से समाप्त कर देना

इसका लक्ष्य है। यह एक मनोवैज्ञानिक सहज आवश्यक प्रक्रिया होनी चाहिए।

परन्तु साम्यवाद ऐसा मानता है कि पहले कदम में व्यक्तिगत स्वामित्व की जगह राजकीय स्वमित्व होगा और उस राज्य संस्था पर श्रमजीवियों का स्वामित्व होगा। सामाजीकरण के लिए स्वामित्व का राजकीयकरण होगा और धीरे-धीरे यह प्रक्रिया चलेगी। यहाँ पर साम्यवाद का केवल भ्रम है क्योंकि स्वामित्व और सम्पत्ति का रूप व्यक्ति या व्यक्ति के समूह कहीं भी हो यह सदैव मोह, लोभ लोलुपता, और लिप्सा का कारण बना रहेगा। मनुष्य इस स्वामित्व की वासना से बराबर आक्रान्त रहेगा। उसे प्राप्त करने की बराबर कोशिश करता रहेगा। साम्ययोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज से ही स्वामित्व विसर्जन की साधना आरम्भ कर देता है, और श्रमदान, बुद्धिदान, सम्पत्तिदान, भूदान, साधनदान, जीवनदान आदि का अभ्यास इसी क्षण से आरम्भ हो जाता है। किसी भी प्रकार की बाह्य सत्ता, कानून, और भय की आवश्यकता नहीं होती।

साम्ययोग लोकात्मा और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। मनुष्य की शक्ति—शारीरिक, मानसिक—भगवान द्वारा प्रदत्त है। सारी प्राकृतिक, मानसिक, सामाजिक शक्तियाँ भगवत कृपा से समाज को प्राप्त है। वे सब गुण, जो प्रत्येक मानव के पालन पोषण के प्रयोग में आते हैं, ईश्वरीय गुण हैं। इसलिए सारी शक्ति और सम्पत्ति ईश्वर की है। साम्ययोग किसी एक वर्ग या सरकार या श्रमिकों के स्वयं निर्वाचित प्रतिनिधियों की सम्पत्ति नहीं मानता।

परन्तु साम्यवाद श्रमिकों द्वारा संचालित सरकार की सम्पत्ति को वास्तव में श्रमिकों की सम्पत्ति मानता है। लेकिन इसे श्रमिकों की सम्पत्ति मानना भ्रम है क्योंकि साम्यवाद जिस प्रक्रिया से प्रारम्भ करता है उस प्रक्रिया का अंत आरम्भ से सर्वथा भिन्न हो जाता है। जैसा कि स्पष्ट है कि श्रमिकों का राज्य या श्रमिकों की सम्पत्ति आगे बढ़कर श्रमिकों के लिए राज्य या श्रमिकों के लिए सम्पत्ति और अंत में श्रमिकों पर राज्य या श्रमिकों पर सम्पत्ति का रूप ले लेता है। इसलिए सम्पत्ति के क्षेत्र में साम्यवाद, साम्ययोग से बहुत पीछे है। साम्ययोग वास्तविक शाश्वत सम्पत्ति का स्वरूप निर्धारित करता है, जहाँ से किसी भी प्रकार से व्यक्ति नहीं फिसल सकता। ईश्वरीय शक्ति सर्वोपरि है, सभी के पालन पोषण

वाली शक्ति है, सभी का सहारा है और इसी में समर्पण की भावना रख कर सारा भौतिक जीवन चलाना सारे समाज के लिए तथा व्यक्तियों के लिए मंगलकारी है।

साम्ययोग बिना किसी ईर्ष्या द्वेष के सभी के हृदय में इस बात का प्रवेश करा देता है कि अपने पसीने की कमाई रोटी प्रत्येक को खानी चाहिए। बिना श्रम के भोग करने वाले को चोर माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा तभी होती है जब वह उत्पादक बनता है। समाज में शोषण के मूल में उपभोक्ता एवं अनुत्पादक वर्ग का भेद है। साम्ययोग श्रीमान् को श्रमवान, श्रेनिष्ठ को श्रमनिष्ठ बनाता है। पूँजीपतियों को भी बुद्धिजीवियों को भी शारीरिक श्रम करना अनिवार्य है। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम से उत्पादक वर्ग में सम्मिलित होगा और वर्ग परिवर्तित हो कर एक रस समाज में विलीन हो जायगा। यह कार्य प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं की प्रेरणा से होगा, इसमें किसी भी प्रकार के बाह्य दबाव की जरूरत नहीं होगी और सम समाज का निर्माण होगा।

परन्तु साम्यवाद वर्ग संघर्ष के द्वारा वर्ग परिवर्तन की बात करता है। श्रमिकों की सत्ता स्थापित करने के लिए पूँजीपतियों, भूमि पतियों से सत्ता छीनना आवश्यक है। बलपूर्वक, खूनी क्रान्ति के द्वारा, आवश्यक हो तो, वध द्वारा विशेष वर्ग, पूँजीपति की हत्या द्वारा श्रमिकों की सत्ता कायम की जायगी। जिस प्रक्रिया से यह सत्ता प्राप्त की जायगी, उसी प्रक्रिया से उसका रक्षण भी होगा। यह है साम्यवाद की वर्ग विहीन समाज बनाने की कल्पना। यह भ्रम ही है, क्योंकि स्थायी समाज भय से नहीं बनता, बल्कि प्रेम, करुणा, सहानुभूति की मानवीय सहज शक्तियों से बनता है, यही समाज को बाँधने की शक्ति है। संघर्ष और सत्ता, से समाज बँधता नहीं बल्कि छिन्न-भिन्न होता है।

साम्ययोग शासन के शनैः शनैः स्वतः विघटन की प्रक्रिया में विश्वास रखता है। ज्यों-ज्यों उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होगा, सम्पत्ति और स्वामित्व का विसर्जन होगा त्यों त्यों राज्य की आवश्यकताएँ समाज को नहीं रह जायँगी। मनुष्य स्वयं स्वशासित होगा, उचित अनुचित का ज्ञान होगा, उसकी क्रियाएँ घोर स्वार्थ से परे होंगी। संपत्ति और उत्पादन के स्वामित्व की रक्षा का प्रश्न ही नहीं रहेगा, इसलिए शासन की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। छोटे छोटे घटक, ग्रामीण इकाईयाँ एक परिवार की तरह व्यवस्था करेंगी। जितना शासन का स्वरूप परिवार में होता है उतना ही

इन घटकों में होगा। इसका आधार ग्राम की इकाई होगा। ऊपर केवल राज्य रेलवे के खतरे की जंजीर के अनुरूप होगा। शासन एवं राज्य की आवश्यकता तभी बढ़ती है जब मनुष्य में स्वार्थ, विकार, हिंसा, नोच, खसोट बढ़ते हैं। राज्य उन्हीं विकारों का प्रतिनिधित्व करता है। जब ये विकार ही नहीं होगें तो राज्य की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जैसे नयी कोपलों के आने के पहले पेड़ से पत्ते झड़ते हैं उसी तरह से व्यक्ति और समाज के जीवन से राज्य के पत्ते झड़ जायेंगे और शासन की समाप्ति हो जायगी।

परन्तु साम्यवाद शासन की अनिवार्यता को कायम रखना चाहता है। यद्यपि राज्य विहीन स्थिति को निर्मित करना उसका उद्देश्य है परन्तु सम्पत्ति और उत्पादन के केन्द्रीकरण का दर्शन इस बात की अनिवार्यता प्रकट करता है कि एक सबल श्रमिक वर्ग का राज्य और उसकी सत्ता होगी। इस केन्द्रीकरण की प्रक्रिया से शासन की अनिवार्यता और सुदृढ़ता बराबर बढ़ती जायगी। यह विचार तो ठीक है कि परिस्थितियों के परिवर्तन हो जाने से लोगों में सामाजिक भावना आयेगी, परन्तु आर्थिक क्रिया के केन्द्रीकरण से शासन और राज्य सत्ता की अनिवार्यता बनी रहेगी।

साम्ययोग विश्व बन्धुत्व, सर्वे भवन्ति सुखिनः की आकांक्षा रखता है। उसका कारण यह है कि सभी व्यक्तियों के हितों का ध्यान उन सब मानवीय आधारों द्वारा होता है जो सर्व व्यापी हैं। मानवता, प्रेम, करूणा, सहानुभूति, अहिंसा, सत्य आदि जितने भी मानवीय गुण हैं वे विश्व व्यापी होते हैं। सभी लोग उसे धारण करते हैं और चाहते भी हैं। यही साम्ययोग का आधार भी होता है। ऐसी स्थिति में साम्ययोग सभी जीवों के हित का चिन्तक है। किसी राज्य की सीमा में वह बँधा नहीं है। इसीलिए इसे मानवीय दर्शन कहते हैं।

परन्तु साम्यवाद की मनोवृत्ति राष्ट्रवादी होती है। साम्यवाद गरीबों, श्रमिकों, दरिद्रों के लिए घोषणा करता है और कहता है, "दुनिया के मजदूरों एक हो, तुम्हारे पास कुछ खोने को नहीं है, केवल बन्धन टूटेगें और मुक्ति मिलेगी।" परन्तु प्रत्येक देश के श्रमिक अपने देश की राजसत्ता पर कब्जा करना चाहते हैं और उसी के द्वारा अपने हित के पोषण की बात करते हैं। जब इसे हम प्रयोग में देखते हैं तो दूसरे देशों की सत्ता का अपहरण करना भी वे अपना धर्म समझते हैं और उग्र राष्ट्रीयता की भावना से ये बंधते जाते हैं। इनमें अंतर्राष्ट्रीयता की भावना का ह्रास हो गया है।

इसका कारण यह भी हो सकता कि ये वस्तु एवं परिस्थितिनिष्ठ हैं और भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। इसीलिए साम्ययोग में निहित मानवीय एकता इनमें आ भी नहीं सकती। भिन्न-भिन्न आर्थिक राजनीतिक पद्धतियाँ इनमें उग्र राष्ट्रीयता का सृजन करती हैं।

साम्ययोग सारी भौतिक या आर्थिक, राजनैतिक सत्ता को विकेन्द्रित करता है। वास्तव में साम्ययोग श्रमिकों के हृदय को जोड़ने का प्रयास करता है। यही नहीं श्रम को एक दिनचर्या का प्रतिष्ठित रूप देकर पवित्रतम बना देता है। प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व के लिए, जीवन के लिए, संस्कृति सभ्यता के लिए धर्म के लिए श्रम आवश्यक हो जाता है। इसलिए श्रम सबके मन और हृदय को स्वीकार हो जाता है। श्रम जो आज विषमता, द्वेष, घृणा का कारण बना है वह स्थिति समाप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया से सब श्रमनिष्ठ हो जाते हैं और उनका हृदय एक हो जाता है। इसलिए क्रान्ति या यों कहें परिवर्तन की दिशा विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ती है। जब कोई वर्ग होता ही नहीं, सभी श्रमनिष्ठ होते हैं तो उत्पादन और वितरण सभी में स्वतः विकेन्द्रीकरण हो जाता है। बहुत कम मात्रा में केन्द्रीकरण की आवश्यकता रह जाती है। वह भी केवल फूलों की माला में धागे की स्थिति के तुल्य होता है। बाह्य संगठन होता है, लेकिन वह मनुष्य के हृदय को जोड़ने का एक धागा मात्रा होता है।

परन्तु साम्यवाद केन्द्रीकरण को श्रमिकों के संगठन के लिए, सर्वहारा वर्ग की प्रगति के लिए संक्रान्तिकाल में आवश्यक और अनिवार्य मानता है। इसीलिए साम्यवादी केन्द्रित उत्पादन और केन्द्रित वितरण और विकास में निष्ठा रखते हैं। पूँजीवादी केन्द्रित उत्पादन को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। विकास के लिए; समृद्धि के लिए पूँजीवाद की मान्यता को स्वीकार करके वितरण को भी केन्द्रित कर देते हैं। इससे पूँजीवादी अधिकतम उत्पादन भी प्राप्त होता है और साम्यवादी सम-वितरण भी प्राप्त होता है। साम्यवाद सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति की प्रतिष्ठा प्रदान कर देना अपना लक्ष्य मानता है। जो स्थान पूँजीपति को प्राप्त है वही श्रमिकों को दे देना साम्यवाद अपना उद्देश्य समझता है। इसलिए केन्द्रीकरण की मान्यता एवं प्रक्रिया को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। यही कारण है कि साम्यवाद उस अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सका क्योंकि उसने जिन साधनों को अपनाया है वह साध्य के प्रतिकूल हैं।

साम्ययोग, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अपने धार्मिक संयोजन

से प्रत्येक मानव का सर्वांगीण उत्कर्ष एवं विकास चाहता है। इसीलिए प्रत्येक मानव की कार्यक्षमता, कुशलता, उत्पादन शक्ति, को पूर्ण सबल बनाता है। एक स्वस्थ, शिक्षित, पूर्ण विकसित, सभ्य, सुसंस्कृत, करुणामय, अहिंसामय, सत्यमय, मानव ही साम्ययोग में सबसे बड़ी सम्पत्ति है। इससे स्पष्ट हो जाता कि सभी वस्तुयें, सभी बाह्य उपकरण मनुष्य के गुणात्मक विकास के लिए होते हैं। इसलिए साम्ययोग अपनी सारी उत्पादन प्रक्रिया में मानवीय निष्ठा और मानवीय मूल्य की प्राण-प्रतिष्ठा करता है।

परन्तु साम्यवाद वस्तु निष्ठ, उत्पादन में और वस्तु के मूल्य में अपना लक्ष्य और दर्शन सन्निहित करता है। आर्थिक संयोजन का लक्ष्य अधिकतम वस्तुओं की, भौतिक पदार्थों की उपलब्धि कराना होता है। इसलिए साम्यवाद उदरदर्शन मात्र ही रह जाता है और जड़वत बन जाता है। यहाँ तक कि वह मानव के श्रम को वस्तुओं के मूल्य का मापदण्ड और साधन मान लेता है। मानव श्रम का कोई मूल्य बाजार में नहीं हो सकता, लेकिन साम्यवाद वस्तु निष्ठ होने के कारण मनुष्य का बाजार में मूल्य लगाता है। अधिकतम उत्पादन करना उपभोग्य वस्तुओं को सर्वसुलभ करा देना एक मात्र लक्ष्य मानता है। इसलिए इसमें भी वही विकार और दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो पूँजीवाद में व्याप्त हैं। यही कमजोरी साम्यवाद की है। साम्ययोग इस दुर्बलता से परे है। क्योंकि उसमें मनवीय निष्ठा और मूल्य है।

साम्ययोग सारे उत्पादन का लक्ष्य मानव को मानता है। उत्पादन की क्रिया ऐसी होनी चाहिए जिससे उत्पादक का सांस्कृतिक विकास भी हो। जीवन सभ्य और सुसंस्कृत तभी होता है जब मानव की शक्ति उत्पादन के ऐसे क्षेत्र में लगती है जिससे उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन हो। आज स्थिति यह है कि उत्पादन साध्य और मानव साधन बन गया है। वास्तव में साम्ययोग उत्पादक को स्वास्थ्य, सुख, आनन्द, और प्रतिष्ठा प्रदान करना चाहता है न कि उसको उत्पादन में पीस डालना चाहता है। मनुष्य की और पशु की सारी शक्तियों का उसके पुरुषार्थ एवं कार्य का समुचित प्रयोग उसके सम्पूर्ण, समग्र, कलात्मक विकास के लिए आवश्यक है। भगवान् ने मनुष्य को हाथ, पैर दिये हैं। उनकी शक्ति का विकास मानवता के आधार पर होना चाहिए।

साम्यवाद मानव को उत्पादन का एक साधन मानता है। अधिकतम उत्पादन द्वारा उपभोग की वस्तुओं को अधिकतम मात्रा में उत्पादित करना और उनका समाज में सम-वितरण कर देना साम्यवाद का लक्ष्य है। इससे उपभोग प्रधान समाज हमारे सामने आता है। अधिकतम उपभोग के लिए अधिकतम उत्पादन आवश्यक है। इसलिए मशीन के साथ मानव और पशु शक्ति का प्रयोग करना इसका स्वाभाविक लक्ष्य है। भोग प्रधान समाज, पूंजीवादी समाज भी है। भोग प्रधान समाज की सारी मान्यताओं को साम्यवाद स्वीकार कर लेता है। ऐसी स्थिति में वह उन सब पूंजीवादी विकारों से ग्रस्त हो जाता है और वह भी विकार युक्त हो जाता है। साम्यवाद जिन विकारों के निराकरण का दावा करता उन्हीं से स्वयं ग्रसित हो जाता है। यह भी एक साम्यवाद की विडम्बना है। वास्तव में मानव को साध्य न मान कर साम्यवाद ने अपनी पूर्णता कम कर दी है।

साम्ययोग उत्पादक को प्रतिष्ठा प्रदान करता है। उत्पादक ही व्यवस्थापक होता है। आज जो मैनेजरवाद या व्यवस्थावाद का जन्म हो रहा है या नौकरशाही का जन्म हो रहा है उसकी आवश्यकता साम्ययोग नहीं मानता है। श्रमिक ही उत्पादक है, श्रमिक ही व्यवस्थापक है, उत्पादन की इस प्रक्रिया में श्रम प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। छोटे छोटे उत्पादन में उत्पादक अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा स्वाभिमान के साथ कायम रखता है। प्रत्येक उत्पादक का व्यक्तित्व भी निखरता है और यही प्रत्येक उत्पादक के लिए प्रेरक शक्ति हो जाती है।

परन्तु साम्यवाद व्यवस्थावाद को अनिवार्य और आवश्यक मानता है और एक नये वर्ग की सत्ता समाज के ऊपर लादता है। यह व्यवस्था समाज पर भार बन कर उत्पादक श्रमिक के ऊपर भय का, सत्ता का बोझ डालता है। यह स्वाभाविक भी है कि जब उत्पादन केन्द्रित होगा और उत्पादन की मात्रा भी विशाल होगी तो व्यवस्थापक वर्ग अनिवार्य होगा।

साम्ययोग प्रत्येक व्यक्ति की आत्मतुष्टि के लिए स्वास्थ्यवर्धक आवश्यकताओं पर बल देता है। न्यूनतम आवश्यकताएँ जिन्हें स्वस्थ जीवन कहा जाता है इसमें किसी प्रकार की वासना के लिए स्थान नहीं होता। स्वास्थ्यमय उपभोग वासना मय उपभोग नहीं है। इससे आत्मसंतोष

आत्मविकास और आत्मनिर्भरता का विकास होता है। साम्ययोग अपरिग्रह के सिद्धान्त का पालन करता है।

परन्तु साम्यवाद प्रचुर भोग सामग्री वैभव विलास सामुदायिक परिग्रह की ओर ले जाता है। इसलिए वासनाओं और आवश्यकताओं को प्रोत्साहन देता है। विलासमय समाज का लक्ष्य रखता है। इससे साम्यवाद उत्पादन की गति बढ़ा कर समय को बचाने के लिए विह्वल हो रहा है। ताकि उसके नागरिक उसी प्रकार के आलस्य, भोग विलास का जीवन व्यतीत कर सकें जैसा की पूंजीवादी देश करते हैं। साम्यवाद का यह सुनहला स्वप्न इसलिए पूरा न हो सकेगा कि मनुष्य में सामाजिक भावना का अभाव रहेगा ही क्योंकि वासना की कोई सीमा नहीं होती। वासनामय जीवन में उदारता नहीं होती। संग्रह शोषण आदि के दुर्गुण पनपने लगते हैं।

साम्ययोग अपने समस्त सिद्धान्तों को धर्म और नीति से परखता है। इसका यह अर्थ हुआ कि नैतिकता सारे मानव जीवन की रीढ़ है और यह शाश्वत मूल्य प्रदान करती है।

परन्तु साम्यवाद नैतिकता ऐसी कोई वस्तु नहीं मानता। उसे युग के अनुसार बदलता हुआ पैमाना मानता है। परिस्थिति के अनुसार नैतिकता बदले यह भी साम्यवाद का भ्रम ही है। श्रमिकों की उन्नति करना ही इसका धर्म और लक्ष्य है।

साम्ययोग केवल आर्थिक कारणों को इतिहास का निर्माता नहीं मानता। मानव इतिहास अनेक शक्तियों से संचालित और निर्मित हुआ है। मानव इतिहास में जितनी शक्तियों का परिवर्तन या सम्वर्धन हुआ है उनके पीछे एक विशाल सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक सहयोग एवं संघर्ष रहा है। साम्ययोग वर्ग संघर्ष जैसी प्रक्रिया में विश्वास नहीं रखता। मनुष्य मनुष्य है, मनुष्य कोई जानवरों का समूह नहीं है, मनुष्य की कुछ मूल प्रेरणाएँ हैं, उसके निजी मूल्य हैं। संघर्ष नहीं बल्कि सहयोग ही मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्राण रहा है और आज भी है।

परन्तु साम्यवाद वर्ग संघर्ष को ही मूल मानता है। उसीको सारे इतिहास, संस्कृति, सभ्यता का निर्माता और कारण मानता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साम्यवाद मनुष्य की मानवता में कोई विश्वास नहीं रखता।

साम्ययोग कोई प्रति क्रिया वादी विचार नहीं है जो पूँजीवादी पद्धति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ हो बल्कि साम्ययोग भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिक देन है और गान्धी जी के जीवन से यह मूल विचार प्रस्फुटित हुआ है।

साम्यवादी विचार धारा यूरोप की परम्परा वादी विचार धारा से अनुप्राणित है और उसकी प्रतिक्रिया से संचालित है। यूरोप की सारी भौतिक मान्यताएँ इसमें निहित हैं।

साम्ययोग एक विचार है जो अभ्यास के रूप में प्रत्येक व्यक्ति आज से ही प्रारम्भ कर सकता है और उसकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु साम्यवाद एक ऐसा "वाद" है जिसमें संकीर्णता है, दुराग्रह और साम्प्रदायिकता है जिसकी प्राप्ति के लिए एक विशेष परिस्थिति को बनानी पड़ेगी और जब तक यह परिस्थिति नहीं आ जाती इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। यह एक प्रकार से प्रतीक्षा की वस्तु है और कुछ विशेष शर्तों की पूर्ति के बाद ही सम्भव है।

साम्ययोग विचार की मान्यता व्यक्ति से लेकर विश्वस्तर तक की समस्त-व्यवस्थाओं को प्रदान करता है। इसका प्रयोग कई स्थलोंपर हुआ है। परन्तु अभी अपूर्ण मानव इसके पूर्ण प्रयोग से हिचक रहा है। इसका कारण है कि मनुष्य अपने घोर स्वार्थ की सीमा से ऊँचा नहीं उठ सका है। निःसंदेह उसके प्रयोग में साध्य और साधन में एक रूपता होने के कारण, मानव लक्ष्य होने के कारण किसी भी विकार एवं कठिनाई की सम्भावना नहीं है। यह व्यावहारिक है।

परन्तु साम्यवाद में साधन और साध्य में भेद होने के कारण, मूल्यों की कमी होने के कारण आज तक जिन देशों की प्रयोगशाला में यह पहुँचा वहाँ पूर्ण स्थिति नहीं प्राप्त कर सका और न तो प्राप्ति की आशा ही दिखायी देती है। इसके प्रयोग हो रहे हैं। लेकिन इसकी निर्बलताओं के कारण प्रयोग अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच पा रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि साम्यवाद भले ही करुणा से प्रेरित होकर चला हो, भले ही एक साम्यवादी सुनहले स्वप्न का लक्ष्य रखता हो परन्तु साधन और मूल्यों की निर्बलताओं के कारण यह पूँजीवाद के उन विकारों से मुक्त नहीं हो सका है।

मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या एवं सर्वोदय का दृष्टिकोण

(Economic Interpretation of History) An Analysis

मार्क्स स्वयं हेगेल के दर्शन से प्रभावित थे। सत्य की अनुभूति विरोधी तत्वों के संघर्ष से ही होती है। मनुष्य के इतिहास में जैसे ही एक प्रवृत्ति उन्नतिशील होती है, वैसे ही एक दूसरी विरोधात्मक प्रवृत्ति का जन्म होता है जो पहिले की प्रवृत्ति की अपूर्णता दूर करके उसका स्थान लेना चाहती है और इसलिए दोनों में संघर्ष होता है और इस संघर्ष से तीसरी प्रवृत्ति का जन्म होता है। वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti-thesis) तथा युक्तवाद (Synthesis) शब्दावली का प्रयोग इन्हीं के लिए मार्क्स ने किया है। इन्हीं चक्रों में घूमता हुआ मानव इतिहास धीरे-धीरे विकसित होता है। मार्क्स ने इस विचार का तथा प्रक्रिया का प्रयोग प्रतिदिन के अनुभव के संसार के लिए किया है, क्योंकि वस्तु को, इस अनुभव के संसार को ही मार्क्स सत्य मानते हैं। मार्क्स, मस्तिष्क में उत्पन्न विचार को इस भौतिक जगत का प्रभाव तथा प्रतिबिम्ब मानते हैं। वस्तु ही मानवीय इतिहास की अन्तिम संचालन शक्ति है न कि विचार। वस्तु से तात्पर्य है उत्पादन शक्तियाँ (Powers of production)। उत्पादन की शक्तियों की उन्नति की प्रत्येक सीढ़ी मानवीय प्रगति की सीढ़ी है। उत्पादन शक्तियों के विकास की प्रत्येक सीढ़ी, मनुष्यों में उन शक्तियों के प्रयोग के लिए, एक नवीन आर्थिक सम्बन्धों की अवस्था उत्पन्न कर देती है। ये ही आर्थिक सम्बन्ध, सभी सामाजिक एवं राजनैतिक सम्बन्धों के नियामक होते हैं। सारी एतिहासिक घटनायें, सारा मानव जीवन का इतिहास, इन्हीं आर्थिक कारणों से संचालित तथा निर्धारित होता है।

अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य के पेशे उनके जीवन के ढंगों पर प्रभाव डालते हैं। सांटसीमों ने फ्रांस की क्रान्ति को एक आर्थिक क्रान्ति माना है। फेरियर, आदि ने इसको सत्यमाना है। परन्तु मार्क्स ने इसे सारी प्रगति के इतिहास में देखा है, इसीलिए वे मौलिक हैं।

(१) मार्क्स के अनुसार, सामाजिक विकास की प्रगति और दिशा उत्पत्ति और विनिमय की रीतियों पर निर्भर रहती है। भौतिक जीवन में उत्पत्ति का ढंग, जीवन के सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक

प्रणालियों के सामान्य रूप को निश्चित करता है। मनुष्य की सामाजिक स्थिति मनुष्य का निर्धारण करती है। समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनैतिक क्रान्तियों के अन्तिम कारण, उत्पत्ति तथा विनिमय के ढंग ही होते हैं।

(२) समाज का वह ढाँचा, जिसमें व्यक्ति रहता है—धर्म, कला, कानून, साहित्य इत्यादि सभी—युग विशेष की आर्थिक दशाओं, जो स्वयं उत्पादन प्रणाली द्वारा निर्धारित होती हैं, का परिणाम होता है।

(३) आर्थिक प्रणाली ही विशेष प्रकार के समाज का जन्म देती है। मनुष्य की संस्कृति, सभ्यता, मनोवृत्ति, चिन्तन प्रणाली, आदर्श सभी का निर्धारण इसी पद्धति तथा प्रणाली द्वारा होता है।

(४) हैण्डमिल ने सामन्तवादी समाज, स्टीममिल ने पूँजीवादी समाज का जन्म दिया है। इसका यह अर्थ है कि उत्पादन की तकनीकी परिवर्तन (Techniques of Production) होने के साथ सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन होते हैं। इस वाष्प की मिल ने नये वर्ग, नयी स्थिति, नये विचार, नये मूल्य उत्पन्न कर दिए हैं। इस प्रकार आर्थिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन को जन्म देते हैं।

(५) मानव समाज का सम्पूर्ण प्राचीन तथा वर्तमान इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है। स्वतंत्र व्यक्ति तथा दास, शिष्ट पुरुष तथा साधारण मनुष्य, नवाब तथा गुलाम, शोषकों व शोषितों, स्वामियों व दासों, धनी व दरिद्र, पूँजीपतियों व श्रमिकों, ये सभी वर्गों का निर्माण उत्पादन तथा विनिमय के ढंगों द्वारा हुआ है। मालिक व गुलाम, सहितों व रहितों के वर्ग इन्हीं से बनते बिगड़ते हैं।

(६) प्रत्येक सामाजिक प्रथा स्वयं अपने नाश की शक्तियों को जन्म देती है, इतिहास इस बात का साक्षी है। सामन्तवाद ने पूँजीवाद को जन्म दिया। पूँजीवाद समाजवाद को जन्म देगी। ज्यों ज्यों आर्थिक पद्धतियाँ परिवर्तित होती गईं त्यों त्यों मनुष्य तथा समाज के सम्बन्ध भी परिवर्तित होते गए तथा नये समाज, नये मूल्य बनते गए।

(७) इतिहास तथा समाज में मूल प्रेरक शक्ति आर्थिक है।

(८) मजदूर की हालत को आज की औद्योगिक स्थिति बराबर बिगाड़ती जायगी और इसका परिणाम वर्ग संघर्ष होगा।

(९) मजदूर की संगठित शक्ति का मुकाबला पूँजीपति धन से करेगा और अन्त में विजय मजदूर वर्ग की होगी।

(१०) सारे पूंजीपतियों का स्वार्थ एक है, सारे मजदूरों का स्वार्थ एक है। इस संघर्ष के बाद एक नया समाज बनेगा, जिसमें मजदूरों का अधिनायकत्व होगा।

(११) पूंजीवाद, धन को केन्द्रित करने के कारण, शोषण के कारण, मन्दी के कारण, बेकारी के कारण, नयी नयी मशीनों के कारण स्वयं नष्ट हो जायगा।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना

(१) प्राचीन युग में सामाजिक परिवर्तन रीति रिवाज, परम्परा, निश्चित विश्वास, अन्ध श्रद्धा, कुछ आर्थिक शक्ति के कारण ही होते थे।

(२) मध्यकाल में सबसे अधिक प्रेरक शक्ति धार्मिक अथवा सैनिक थी या दोनों की मिश्रित शक्ति थी। आर्थिक शक्ति गौण थी और सदा धार्मिक, राजनैतिक तथा सैनिक विचारों से आच्छादित थीं। पुरोहित वर्ग के पास न आर्थिक शक्ति थी और न राजनैतिक परन्तु समाज का सञ्चालन वे ही करते थे। प्राचीन यूनान, रोम तथा योरोप में आर्थिक शक्ति उतनी प्रबल थी ही नहीं। हाँ, कुछ समय के लिए औद्योगिक क्रान्ति के कारण यह शक्ति प्रबल हो उठी और मार्क्स ने इसी को इतिहास का नियामक मान लिया, यह भ्रम ही है। हिटलर तथा मुसोलिनी ने तो राजनैतिक शक्ति से ही प्रथम इतिहास बदलने का प्रयास किया।

(३) आर्थिक शक्तियाँ ही धर्म और नैतिकता की जड़ में होती है, यह मानना अमनोवैज्ञानिक तथा अनैतिहासिक है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद का आगमन क्या आर्थिक शक्तियों के कारण हुआ? इन्होंने स्वयं इतिहास बनाया तथा बदला है।

(४) यह विश्वास करना कि आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन हो जाने के परिणाम स्वरूप लोगों की नैतिकता, धार्मिक विश्वास छूट जायँगे, यह मूर्खता ही है। नैतिकता तथा धर्म का अपना स्वयं का महत्वपूर्ण स्थान है।

(५) गुलामी की मुक्ति का आधार नैतिक, धार्मिक, मानवीय इसलिए अधिक रहा है कि हर एक मनुष्य में भगवान् की चिनगारी वर्तमान

है और हर एक में अन्तर्भूत ईश्वर तत्व का आदर किया जाना चाहिए। सारी समता का बीज तो यही अंकुरित होता है। सभी खुदा के बन्दे हैं।

(६) फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति में समानता का विचार बुद्धि, विवेक द्वारा किया गया था। समाजवादी, ईसाई समाजवादी सभी समानता के विचारों में ईसाई धर्म से प्रभावित थे न कि किसी प्रकार के भौतिक वाद से।

(७) प्राचीन तथा मध्यकालीन युग में समाज वंशानुगत जाति प्रथा पर आधारित था। खेती के अलावा दूसरी मल्कियत थी ही नहीं। औद्योगिक उत्पादन औजारों तथा हाथ से चलने वाली छोटी मशीनों से होता था। मजदूर इन औजारों का स्वयं मालिक था। हम सब एक भगवान् की संतान हैं यह विचार चलता था। जो परेशानी थी वह सामाजिक कानूनों की थी। विशेष अधिकार युक्त लोगों में राजपरिवार, सैनिक, प्रशासक, भूमियुक्त कुलीन और पुरोहित वर्ग थे। सन्तों दार्शनिकों तथा अन्य लोगों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन चलाये हैं परन्तु उनमें आर्थिक कारण बिल्कुल ही नहीं था। जन्म तथा पद के कारण जो दोष थे उनके निराकरण के लिए क्रान्तियाँ हुई हैं।

(८) आर्थिक कारण औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त प्रबल हुए और ये इतिहास के निर्माण में पूरे जिम्मेदार हैं। परन्तु उसके पहले सारा इतिहास आर्थिक कारणों पर नहीं बना है।

(९) रूसी क्रान्ति का आधार आर्थिक ही नहीं बल्कि अत्याचार, अनैतिकता, नौकरशाही, कुलीनता थी।

(१०) इतिहास की एक सौन्दर्य मूलक, राजनीतिक, धार्मिक, तथा वैज्ञानिक व्याख्या भी है, यश तथा शक्ति के लिए पिपासा, धार्मिक महत्वाकांक्षायें, जातीय पक्षपात, पुरुष स्त्री का एक दूसरे के प्रति आकर्षण वैज्ञानिक उत्सुकतायें भी इतिहास के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं। इतिहास तथा सारी आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थायें मनुष्य स्वयं अपने मस्तिष्क से बनाता है और बिगाड़ता है। अतएव इनके द्वारा यह नहीं निर्मित हो सकता।

मार्क्स तथा एंजिल का समर्थन

(१) निःसन्देह मार्क्स ने औद्योगिक क्रान्ति का नंगा भयावह शोषण स्वरूप देखा था, इसलिए स्वाभाविक था कि आर्थिक शक्ति का तेज सभी को प्रभावित करता। बाद में मार्क्स ने माना है कि सभी नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक शक्तियाँ होती हैं परन्तु आर्थिक भौतिक शक्ति का प्रबल हाथ होता है।

(२) आज हम भौतिकता के प्राबल्य में नैतिक, धार्मिक शक्तियों को क्षीण पाते हैं। सामान्य मनुष्य तो इन्हीं से त्रस्त होता है।

(३) आज भी हमारे चिन्तन, विचार, व्यवहार, बाजार से प्रभावित तथा संचालित होते हैं। क्या यह भौतिकता का प्रकोप नहीं है? सारा मूल्यांकन भौतिकता के मापदण्ड से हम आज कर रहे हैं। यद्यपि अन्य मूल्य भी हैं परन्तु भौतिकता का प्रभाव बहुत बड़ा है।

(४) मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार इतिहास आज पूंजीवाद से निकलकर समाजवाद में जा रहा है। उसकी भविष्यवाणी सही हो रही है। आर्थिक शक्तियाँ प्रबल होती जा रही हैं। राजनैतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की चेरी बनती जा रही है। मनुष्य भौतिकता के मूल्यों से, वासना से घिरता जा रहा है। मजदूरों का वर्ग संगठित हो रहा है। उद्योगों के स्वरूप बदल रहे हैं और हमारे सारे सामाजिक सम्बन्ध तेजी से बदल रहे हैं।

(५) मनुष्य सभी पद्धतियों को बनाता है परन्तु पुनः उसी का दास बन जाता है और आज सारी औद्योगिक बुराईयों में वह फँस गया है।

द्वितीय खण्ड

अष्टम-परिच्छेद

ग्रामीण अर्थशास्त्र में संतुलन का सिद्धांत

चूँकि गांधी जी के जीवन दर्शन में विज्ञान और दर्शन दोनों का एक अद्भुत मेल है इसलिए उनके विचारों में समग्रता और सम्पूर्णता का होना स्वाभाविक है, क्योंकि विज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध से ही जीवन का समग्र दृष्टिकोण प्राप्त हो सकता है। इसीलिए गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के द्वारा इस भौतिक जीवन में विज्ञान और दर्शन का समन्वित स्वरूप रखा है। आज हम भले ही अपने संकुचित और धूमिल विचारों से उन्हें न समझ पायें परन्तु वास्तविकता यही है। विश्व की चिन्तन धारा में हमें एकमात्र महात्मा गांधी दिखाई देते हैं जिन्होंने विज्ञान और दर्शन दोनों दृष्टियों को सम्पूर्ण और समग्र रूप से सुरक्षित रखा है। इसे कतिपय शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है। इसे विज्ञान और अहिंसा कह सकते, इसे विज्ञान और धर्म कह सकते, इसे विज्ञान और मानवता कह सकते हैं। जिन लोगों ने इन शब्दों का प्रयोग किया इनमें और गांधी जी में यही अन्तर है कि गांधी जी ने इन दोनों के बीच से कभी भी सत्य और अहिंसा को ओझल नहीं होने दिया और साथ ही साथ उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारकर उसका पूर्ण प्रयोग करके सामाजिक जीवन में उतार कर एक सामाजिक धर्म बना दिया। जिससे इसका प्रयोग समाज का सामान्य व्यक्ति भी अपने जीवन में कर सका। दुनिया के जो गुण, जो शक्ति विशिष्ट महानुभावों में गुण बनकर एक श्रद्धा और सराहना का पात्र बनी थी वे सब उनके समाप्त होते ही केवल कोरे आदर्श रह गये। परन्तु गांधी जी ने उन्हीं गुणों और शक्तियों को सामान्य व्यक्तियों के सहज जीवन में इस प्रकार उतार दिया कि एक ओर तो इन गुणों व शक्तियों से व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन निखरा और दूसरी ओर वे सामान्य मूल्य बनकर समाज को बाँधने में पूर्ण समर्थ हो गये। इसके पीछे गांधी जी का यही जादू था जो दुनिया के अन्य विचारकों में नहीं पाया जाता है। आर्थिक दर्शन में सत्य और अहिंसा के वे

शब्द विज्ञान और दर्शन में इस प्रकार लिपटे हुए हैं कि उन्हें हम ठीक से समझ नहीं पाते। गांधी जी ने अपने समग्र सन्तुलन सिद्धान्त में विज्ञान और दर्शन का विलय जिस तत्परता व निष्ठा के साथ परमात्मा की मीमांसा में किया है उसी निष्ठा व तत्परता के साथ उन्होंने पाखाने की मीमांसा में भी किया है। यही उनकी चमत्कारिता है। कहीं भी कोई भी सिद्धान्त और व्यवहार का विचार उन्होंने बिना सन्तुलन के नहीं रखा है, यही उनकी कार्य शैली है।

उनका स्वराज्य, ग्राम स्वराज्य में छिपा है। भारतवर्ष की अपनी विशेषता है, प्रारम्भ से ही विविध नदियों से सिंचित, विविध वनस्पतियों से पूरित यह देश प्रकृति का प्यारा देश है। इसी देश के जंगलों और गांवों में भारतवर्ष की उत्कृष्टतम् सभ्यता और संस्कृति ऋषियों मुनियों द्वारा सँजोयी गयी है। यही नहीं दुनिया की संस्कृति व सभ्यता के इतिहास में यही पाया जाता कि संस्कृति व सभ्यता जंगलों व गाँवों से आयी है। गांधी जी ने अरबों व्यक्तियों के जीवन को देखा और प्रकृति की अपार सहज उपलब्ध शक्ति को भी देखा। उसमें उन्होंने शतम् जीवं, स्वस्थ जीवन, स्वस्थ विचार और एक शक्तिशाली मानवीय सभ्यता व संस्कृति भी देखी। इस धरातल पर मनुष्य को यही चाहिए ही। इसीलिए मनुष्य विज्ञान का सहारा लेकर बहुत दिनों से प्रयास कर रहा है। उसकी सारी यान्त्रिक शक्ति, सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा-दीक्षा इसी प्रयत्न में लगी है। गांधी जी ने उन्हें सहज ही उपलब्ध करा दिया। ये सब मानव जीवन के साध्य तदनुकूल सहज साधनों में ही प्रकृति में उपलब्ध हैं। प्रकृति एक स्नेह और ममता भरी माता की भांति मानव को सब कुछ देने के लिए उद्यत् है। परन्तु यह मानव एक घबड़ायी हुई मनः स्थिति, असन्तोष, अन्धकारमय भविष्य, अपनी अपार विकृत वासनाओं, अपनी अदूर दर्शिता के कारण इस मां प्रकृति के सहज स्नेह और ममता का लाभ न उठा करके बुद्धिहीनता और मूर्खता के कारण दुरुपयोग में लगा हुआ है। गांधी जी ने अपनी वैज्ञानिक एवं दार्शनिक पैनी दृष्टि से इसे देखा और उमड़ते हुए सागर की भांति प्रकृति की अपार शक्ति से मानव की प्यास बुझाने के लिए एक नया ज्ञान दिया। यही है उनकी सागर की अर्थव्यवस्था। इस सागर की अर्थव्यवस्था को इन्होंने प्राकृतिक शक्तियों से पूरित गांव में देखा और उसी ओर उन्होंने सभी मनुष्यों को खींचने का प्रयास किया।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के चार स्तम्भ उन्हें दिखलायी पड़े। इन्हीं स्तम्भों पर पूरा मानव जीवन आधारित है। मनुष्य अपने शरीर को सौ वर्ष तक पूर्ण स्वस्थ देखना चाहता है। इस शरीर में पांच तत्व पौष्टिक आहार पर ही निर्भर हैं। इन पांच तत्वों की पूर्ण शक्ति व तेज प्रकृति से प्राप्त आहार, अन्न, दूध, हवा, पानी से मिलते हैं। ये सब पौष्टिक तत्व गांवों में उपलब्ध होते हैं। इनके सेवन से शरीर स्वस्थ, मस्तिष्क स्वस्थ और हृदय स्वस्थ होता है। यहाँ तक तो इन सब पौष्टिक तत्वों के उपलब्ध होने का कार्य है। यह शरीर केवल इन पौष्टिक तत्वों के उपयोग से ही स्वस्थ नहीं रह सकता बल्कि यह शरीर अनिवार्य व प्राकृतिक रूप से श्रम चाहता है। बिना श्रम के यह पुष्ट रह ही नहीं सकता। गांव और प्रकृति इस श्रम के लिए अपार अवसर प्रदान करते हैं। शुद्ध वायु, शुद्ध किरण, शुद्ध पानी, शुद्ध मिट्टी श्रम के द्वारा हमें प्राप्त होते हैं और प्रकृति के हम इतने सन्निकट हो जाते हैं कि प्रकृति अपनी तरह हमें भी शक्तिशाली बनाने का प्रयास करती है। खेती और बाग इन दोनों प्राकृतिक शक्तियों के साथ हमारा मेल चलता है। अच्छे पौदे, अच्छे फल, अच्छे फूल, हमारे जीवन के साथ उगते और खिलते हैं। उनसे हमारा तदात्म होता है। भू-माता उन्हें हमें स्नेह से देती है। इससे एक मानवीय जीवन का सम्बन्ध कायम होता है। हमारा मस्तिष्क और हृदय प्रफुल्लित होता है, भू-माता के प्रति, उन पेड़ पौदों के प्रति हम कृतज्ञता की भावना रखते हैं। ये हमारे पूज्य और सेव्य बन जाते हैं। भारतीय संस्कृति में भू-माता उनसे प्राप्त फसलों, वृक्षों, फूलों के प्रति अपार भाव एवं सम्मान भरे पड़े हैं। दुनिया के अन्य प्रकोष्ठों में भी इसी प्रकार के सम्मान इनके प्रति आज भी पाये जाते हैं। मानव का सुख एवं आनन्द बहुत अधिक बढ़ जाता है। प्रकृति सब कुछ आनन्द और सुख की वृष्टि के लिए ही करती है। इसीलिए सारे काव्यों, दर्शनों और विज्ञानों का आविष्कार स्थल यही प्रकृति है। भू-माता और उनकी कोख से उत्पन्न ये फल-फूल लदे पेड़ पौदे मानव को सब कुछ देते हैं और मानव अपनी कृतज्ञता को प्रकाशित करने में नहीं चूकता। दूसरे शब्दों में जब वह अपनी सब शक्ति, उनके त्याग के लिए समर्पित करता है और जो मनुष्य के लिए त्याज्य है जैसे मल-मूत्र, उन्हें खादरूप मानकर भू-माता को और इन वृक्षों को समर्पित करता है अर्थात् श्रम बल और सफाई बल अपने नित्य कर्म में सम्मिलित

कर लेता है, तब यह मनुष्य दीर्घायु एवं स्वस्थ होता है। जब यह सन्तुलन बिगड़ जाता है और मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तब भू-माता तथा ये फल-फूल तिरस्कृत होते हैं और मनुष्य भूखा, बीमार, दरिद्र और दुःखी हो जाता है। इसीलिए गांधी जी ने दुःख भरे शब्दों में यह व्यक्त किया था कि मनुष्य के पास अपार शक्तिवाले हाथ-पैर हैं परन्तु इस शरीर श्रम का प्रयोग करना उसने जब से छोड़ दिया तभी से वह दुःखी है। यही मनुष्य के साथ सबसे बड़ी विडम्बना है। खेती प्रथम स्तम्भ, बारी द्वितीय स्तम्भ, पशु तृतीय स्तम्भ और उद्योग चतुर्थ स्तम्भ है। खेती, बारी इन दोनों का मनुष्य के पौष्टिक आहार और जीवन से घना सम्बन्ध है। इनसे न केवल आर्थिक जीवन अपितु सांस्कृतिक जीवन भी सम्पन्न होता है। मानव जीवन के लिए पशु बहुत ही आवश्यक है। मनुष्य के लिए ये सब कुछ देते हैं और प्रकृति से ये जीवित रहते हैं। इनके त्याज्य मल-मूत्र से प्रकृति को अपार शक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य का मल-मूत्र, पशु का मल-मूत्र जब पृथ्वी को प्राप्त होता है तब उससे बहुत मीठे, सभी विटामिनों से युक्त, वजनदार अन्न और फल प्राप्त होते हैं क्योंकि ये मानव शरीर व पशु शरीर से निकले पदार्थों से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से एक सन्तुलन और मिलन तथा एकरूपता मनुष्य की, पशु की और खेती बारी की हो जाती है। यह है सन्तुलित जीवन का अर्थशास्त्र। पशुओं की शक्ति से जो मनुष्य को प्राप्त होता है उससे मनुष्य सुखी और तृप्त होता है। हमारे आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में पशुओं का बहुत बड़ा स्थान है। प्रत्येक मनुष्य और परिवार पशु के जीवन से जितना ही सन्निकट रहता है उतना ही सभी प्रकार से सुखी रहता है। पशुओं के प्रति कृतज्ञता का भाव बराबर रहना चाहिए। इन्हीं के साथ मानवीय व्यवहार का भाव रखने के लिए आज दुनिया शाकाहारी बनने का प्रयत्न कर रही है। गांधी जी ने पशु, पक्षियों के प्रति जो दृष्टिकोण रखा है वह सन्तुलित जीवन के लिए बहुत आवश्यक है। खेती-बारी का सन्तुलित विकास बिना पशुओं के हो नहीं सकता और बिना खेती-बारी के पशुओं का विकास नहीं हो सकता, दोनों का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य का बिना खेती-बारी व पशु के, विकास नहीं हो सकता है। मनुष्य, पशु तथा वृक्ष इनका जीवन बिना एक दूसरे के चल नहीं सकता है। वृक्ष पशुओं एवं मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध वायु आक्सीजन देते

और मनुष्य व पशुओं से निकली हुई दूषित वायु कार्बन डाइआक्साइड को अपनी खुराक बनाते हैं, यह है सन्तुलित जीवन और स्वावलम्ब जीवन का उदाहरण।

चौथा स्तम्भ उद्योगों का है। मनुष्य इन जीवनदायिनी आवश्यकताओं के साथ-साथ कुछ अन्य प्रकार की आवश्यकतायें भी रखता है। आवश्यकतायें एक ओर तो जीवनदायिनी आवश्यकताओं के लिए सहायक होतीं और दूसरी ओर मनुष्य के जीवन को कुछ आराम तथा क्षमता देने के लिए आवश्यक होती हैं। इन मानवकृत आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मनुष्य की रचनात्मक बुद्धि प्रकृति से कुछ सरञ्जाम व शक्ति प्राप्त करती है। इनमें सबसे प्रमुख उद्योग भोजन के उपरान्त वस्त्र का होता है। ये सभी उद्योग जीवन में बड़े सहायक होते हैं लेकिन इन्हें मनुष्य की प्राप्त शरीर शक्ति एवं कला शक्ति के भीतर ही होना चाहिए। मनुष्य के हाथों में कला होती है। मनुष्य अपने हाथों की शक्ति व कला को विकसित करे, यह उसके व्यक्तित्व के निर्माण व विकासके लिए बहुत आवश्यक है। जितनी ही मनुष्य की रचनात्मक शक्ति विकसित होती है, उतनी ही उसकी शरीर, बुद्धि और हृदय शक्ति संतुलित रूप से विकासोन्मुख होती है। मनुष्य में कर्तृत्व का गौरव आता है। इससे उसमें अपनी रचना से अपने पर विश्वास और अपने में स्वाभिमान की शक्ति आती है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उद्योगों से अधिक सुदृढ़ होती है। उसकी शारीरिक और आध्यात्मिक तथा बौद्धिक शक्ति का संवर्धन होता है। इससे वह सुख का अनुभव करता है। यही आनन्द और सुख मनुष्य के समस्त व्यवहारों और उपक्रमों का उद्देश्य होता है। अपनी निर्मित वस्तुओं के उपभोग से वह अपार सुख का अनुभव करता है। इन उद्योगों से उसकी श्रम शक्ति, कला शक्ति, स्वाभिमान शक्ति, गौरव शक्ति, का विकास तो होता ही है साथ-ही-साथ वह अपने को इस सृष्टि की विभूति समझता है। इस प्रकार से उद्योग ग्रामीण अर्थव्यवस्था में मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास में बहुत उपयोगी होता है। किसी प्रकार का दुरुपयोग या बरबादी, चाहे मानव श्रम की हो, चाहे कच्चे माल व भौतिक शक्ति की हो, वह इन उद्योगों से समाप्त हो जाती है। ये उद्योग ग्रामीण अर्थव्यवस्था के इन तीन स्तम्भों के लिए तो आवश्यक हैं ही, साथ-ही साथ बिना इसके मनुष्य का भी संतुलित व समग्र विकास सम्भव नहीं है।

ग्राम स्वराज्य के आधारभूत सिद्धान्त

स्वराज्य को अर्थ स्वयं महात्माजी के शब्दों में इस प्रकार है :—

स्वराज्य का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने लिए लगातार प्रयत्न करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का। यदि स्वराज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दें, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी काम की नहीं होगी।

मेरा स्वराज्य तो हमारी सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखता है। मैं बहुत सी नई चीजें लिखना चाहता हूँ। पर वे तमाम हिन्दुस्तान की स्लेट पर लिखी जानी चाहिए। हाँ मैं पश्चिम से भी खुशी से उधार लूँगा, पर तभी जबकि मैं उसे अच्छे सूद के साथ वापस कर सकूँ।

मेरे सपनों के स्वराज्य में जाति (रेस) या धर्म के भेदों को कोई स्थान नहीं हो सकता। स्वराज्य शब्द का अर्थ स्वयं और उसके साधन अर्थात् सत्य और अहिंसा—जिनका पालन करने के लिए हम प्रतिज्ञा बद्ध हैं—ऐसी किसी सम्भावना को असम्भव सिद्ध करते हैं कि हमारा स्वराज्य किसी के लिए तो अधिक होगा और किसी के लिए कम।

मेरे सपनों का स्वराज्य गरीबों का स्वराज्य होगा। पूर्ण स्वराज्य का अर्थ है भारत के नर कंकालों का उद्धार। पूर्ण स्वराज्य ऐसी स्थिति का द्योतक है जिसमें गूंगे बोलने लगते हैं और लँगड़े चलने लगते हैं। स्वराज्य की मेरी कल्पना के विषय में किसी को गलत फहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियंत्रण से पूरी मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है। उसके दो दूसरे उद्देश्य भी हैं। एक छोर पर है नैतिक और सामाजिक उद्देश्य और दूसरे छोर पर इसी कक्षा का दूसरा उद्देश्य है धर्म। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ अभीष्ट है। उसमें हिन्दू, इस्लाम, इसाई आदि सबका समावेश होता है, लेकिन वह इन सबसे ऊँचा है।

अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

आदर्श समाज का चित्र

हम एक ऐसे देश के निवासी हैं, जहाँ न तो शोक है और न दुःख है; जहाँ न मोह है, न संताप है, न भ्रम है, न डाह है। जहाँ प्रेम की गंगा बहती है और सारी सृष्टि आनन्दित रहती है। जहाँ न कोई अभाव है, न किसी तरह की चिन्ता। जहाँ किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है। न ऊँच-नीच का भेद है और न मालिक गुलाम के भेद हैं। जहाँ सर्वत्र प्रकाश फैला रहता है, परन्तु वह किसी को जलाता नहीं। वह देश तेरे अन्दर में है—वही स्वराज्य है, वही स्वदेशी है। (भजन के उपरोक्त विचार गाँधीजी के सपनों के भारत का चित्र है।)

यह उस जाति विहीन समाज का चित्र है जिसमें न कोई ऊँचा है न कोई नीचा है; सारे काम एक से हैं और सारे कामों की मजदूरी भी एक सी है; जिन लोगों के पास अधिक है वे अपने लाभ का उपयोग खुद के लिए नहीं करते परन्तु उसे पवित्र धरोहर मानकर ऐसे लोगों की सेवा में उसका उपयोग करते हैं जिनके पास कम है। चूँकि ऐसे समाज में सब तरह के कामों का समान आदर होता है और उनके लिए एक सा वेतन मिलता है, इसलिए वंश परम्परागत कुशलतायें भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सुरक्षित रहती हैं और व्यक्तिगत लाभ के प्रलोभन के लिए उनकी कुरबानी नहीं की जाती। समाज सेवा का सिद्धान्त अनियन्त्रित, आत्मीयता-रहित प्रतिस्पर्धा का स्थान लेता है। ऐसे समाज में हर एक व्यक्ति कड़ा परिश्रम करता है, जिससे काफी फुरसत रहती है, उन्नति का अवसर मिलता है और शिक्षा तथा संस्कृति के विकास के लिए आवश्यक सुविधायें मिलती हैं। वह कुटीर-उद्योगों की तथा छोटे पैमाने पर चलने वाली सघन सहकारी खेती की आकर्षक दुनिया होती है—ऐसी दुनिया जिसमें साम्प्रदायिकता अथवा जाति वाद के लिए कोई स्थान नहीं होता।

एक आदर्श समाज में न कोई गरीब होगा, न भिखारी; न कोई ऊँचा होगा, न नीच, न कोई करोड़पति मालिक होगा, न आधा भूखा नौकर। न शराब होगी, न कोई दूसरी नशीली चीजें। सब अपने आप खुशी से और गर्व से अपनी रोटी कमाने के लिए मेहनत करेंगे।

यन्त्र और उद्योगवाद—मुझे भय है कि उद्योगवाद मानव जाति के लिए अभिशाप बन जाने वाला है। उद्योगवाद सर्वथा इस बात पर निर्भर है कि आप में शोषण करने की कितनी शक्ति है, विदेशी मंडियाँ आपके लिए कहाँ तक खुली हैं और प्रतिस्पर्धियों का कितना अभाव है। सच तो यह है कि भारत जब दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने लगेगा—और भारत में उद्योगी करण हो गया तो वह जरूर शोषण करेगा—तब वह अन्य राष्ट्रों के लिए और संसार के लिए एक खतरा बन जायगा।

कोई भी आदमी सोचेगा तो यह मानेगा कि भारत जैसे बड़े देश को, जिसकी आबादी बहुत बड़ी है और ग्राम्य जीवन की ऐसी पुरानी परम्परा में पोषित हुई है जो उसकी आवश्यकताओं को बराबर पूरा करती आयी है, उद्योगों में पश्चिमी नमूने की नकल करने की कोई जरूरत नहीं है और न उसे ऐसी नकल करनी चाहिए। विशेष परिस्थितियों वाले किसी एक देश के लिए जो बात अच्छी हो, यह जरूरी नहीं कि वह भिन्न परिस्थितियों वाले किसी दूसरे देश के लिए भी अच्छी हो। जो चीज किसी एक आदमी के लिए पोषक आहार का काम देती, वही दूसरे के लिए जहर जैसी सिद्ध होती है।

मैं नहीं मानता कि उद्योगीकरण हर हालत में किसी भी देश के लिए जरूरी है। भारत के लिए तो वह और भी कम जरूरी है। मेरा विश्वास है कि आजाद भारत दुःख से कराहती हुई दुनिया के प्रति अपना कर्त्तव्य अपने लाखों गाँवों का विकास करके और दुनिया के प्रति मित्रता का व्यवहार करके पूरा कर सकता है। भारत का भविष्य पश्चिम के उस रक्तरंजित मार्ग पर आधारित नहीं है, जिस पर चलते चलते आज वह थका हुआ सा मालूम होता है; किन्तु शान्ति के उस अहिंसक मार्ग पर आधारित है, जिसकी प्राप्ति केवल सादगी और धार्मिक जीवन से होती है।

यंत्र तो रहेंगे, क्योंकि शरीर की तरह वे भी अनिवार्य हैं। मशीनों का अपना स्थान है। परन्तु उन्हें जरूरी मानव श्रम का स्थान नहीं लेने देना चाहिए। सुधरा हुआ हल अच्छी चीज है। मैं गृह उद्योगों की मशीनों में हर प्रकार के सुधार का स्वागत करूँगा। यन्त्रों का वही उपयोग उचित है, जिससे सबका भला है। मैं तमाम नाशकारी यन्त्रों का कट्टर विरोधी हूँ। परन्तु सीधे सादे औजारों और ऐसे यन्त्रों का,

जिससे व्यक्ति का परिश्रम बचता हो और लाखों, करोड़ों श्रमिकों का भार हल्का होता है, मैं स्वागत करूँगा।

गाँवों का स्थान

हमारे गाँवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी। अन्य सब प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होंगे। अगर गाँव नष्ट हो जाय, तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जायगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायगा। दुनिया में उसका अपना 'मिशन' ही खतम हो जायगा।

ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी महत्त्व की जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं रहेगा; और फिर बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए—जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा—वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। गाँव का पहला काम होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा करले। उसके पास इतनी फाजिल जमीन होनी चाहिए जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बच्चे खेल सकें। शेष जमीन में ऐसी उपयोगी फसलें बोयी जायँ जिससे आर्थिक लाभ हो और दूसरी जरूरी चीजें प्राप्त हो सकें। हर गाँव की एक नाट्यशाला, पाठशाला सभाभवन होगा। पानी के लिए अपना इन्तजाम होगा—वाटर वर्क्स होंगे—जिससे गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी।

मेरी कल्पना के देहात में देहाती जड़ नहीं होगा—शुद्ध चैतन्य होगा। वह गन्दगी में, अन्धेरे कमरे में जानवर की जिन्दगी बसर नहीं करेगा।

ग्राम स्वराज्य के बुनियादी सिद्धान्त

हम जो भी काम करें उसमें मुख्य विचार मानव के कल्याण का ही होना चाहिए। मेरी राय में भारत की—न सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनिया की—अर्थ रचना ऐसी होनी चाहिए, जिसमें किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में हर एक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने पहनने की जरूरतें पूरी कर सके।

वह अर्थशास्त्र गलत है जो नैतिक सिद्धान्तों की उपेक्षा या अवज्ञा करता है। अहिंसा धर्म का अर्थ अपने व्यापक रूप में यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित बनाने में नैतिक सिद्धान्तों का पूरा महत्व दिया जाय। प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है और इसलिए अपने भोजन की तथा जहाँ आवश्यकता हो वहाँ कपड़ों और मकान की व्यवस्था का साधन जुटाने का अधिकार है। जीवन की मुख्य आवश्यकतायें प्राप्त करने में प्रत्येक मानव का समान अधिकार है।

शरीर श्रम—शरीर श्रम न करने वालों को खाने का क्या अधिकार हो सकता है? हर स्त्री-पुरुष जिन्दा रहने के लिए शरीर श्रम करे। इसका मतलब यह है कि हर स्वस्थ आदमी को अपनी रोटी के लिए शरीर श्रम करना ही चाहिए। मनुष्य को अपनी बुद्धि की शक्ति का उपयोग आजीविका या इससे भी ज्यादा प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि सेवा के लिए, परोपकार के लिए करना चाहिए। शरीर की आवश्यकताएँ शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही सन्तोष के लिए है। उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगना चाहिए। बौद्धिक श्रम, शरीर श्रम से निश्चित श्रेष्ठ हो सकता है, अक्सर होता है, लेकिन वह शरीर श्रम का स्थान कभी नहीं लेता और न कभी ले सकता है।

समानता

जिस तरह सच्चे नीति-धर्म में और अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीति धर्म के ऊँचे से ऊँचे आदर्श का विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को निर्बलों का शोषण करके धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमायत करता है। मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय।

मेरा आदर्श तो समान वितरण का ही है, लेकिन जहाँ तक मैं देखता हूँ वह पूरा होने वाला नहीं है। इसलिए मैं न्यायपूर्ण वितरण के लिए कार्य कर रहा हूँ। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूँजी और मजदूरी के बीच के झगड़े को हमेशा के लिए मिटा देना।

आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है जगत के सब मनुष्यों के पास एक समान सम्पत्ति होना, अर्थात् सबके पास इतनी सम्पत्ति का होना जिससे वे अपनी आवश्यकतायें पूरी कर सकें।

संरक्षकता—आर्थिक समानता में धनिक का ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज्यादे रखने का अधिकार नहीं है। वह होना चाहिए कि जितनी सामर्थ्य हो उतनी आवश्यकतायें पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाय।

आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानूनशास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उसपर सतत विचार करें और उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें तो मनुष्य जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखाई देता उससे कहीं अधिक प्रभावशाली दिखाई देगा। बेशक, पूर्ण ट्रस्टीशिप तो युक्लिड की बिन्दु की व्याख्या की तरह एक कल्पना है और उतनी ही अप्राप्य भी है। लेकिन यदि उसके लिए कोशिश की जाय तो दुनिया में समानता की दिशा में हम दूसरे किसी उपाय से जितनी दूर तक जा सकते हैं, उसके बजाय इस उपाय से अधिक दूर तक जा सकेंगे।

विकेन्द्रीकरण—मेरी सूचना है कि यदि भारत को अपना विकास अहिंसा की दिशा में करना है तो उसे बहुत सी चीजों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। आप कारखानों की सभ्यता पर अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते हैं। लेकिन वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी ग्रामों के आधार पर निर्माण की जा सकती है। मेरी कल्पना की अर्थ रचना शोषण का सर्वथा त्याग करती है और शोषण हिंसा का सार है।

स्वदेशी—स्वदेशी एक सार्वभौम धर्म है। मनुष्य का पहला कर्तव्य अपने पड़ोसियों के प्रति है। स्वदेशी में अपने पराये का भेद ही नहीं है। शुद्ध स्वदेशी धर्म विदेशी के विरुद्ध नहीं है। फिर भी वह स्वदेशी सर्वदेशी नहीं है। नहीं इसलिए कि ऐसा होना असम्भव है। 'सबका' करने जाय तो वह होता नहीं और 'अपना' भी चला जाता है। 'अपना' करने में 'सबका' होता ही रहता है। अपना करने का एक उदाहरण है। 'मेरे लिए सब बराबर' यह कहने का अधिकार उसी को है जिसने पड़ोसी के प्रति अपना धर्म पाला हो। स्वदेशी की भावना का अर्थ है अपनी

वह भावना, जो हमें दूर के क्षेत्र को छोड़कर अपने समीपवर्ती प्रदेश का ही उपयोग और सेवा करना है।

अगर हम स्वदेशी के सिद्धान्तों का पालन करें, तो हमारा और आपका यह कर्त्तव्य होगा कि हम उन बेरोजगार पड़ोसियों को ढूंढें जो हमारी आवश्यकता की वस्तुएँ हमें दे सकते हों; और यदि वे इन वस्तुओं को बनाना न जानते हों तो उन्हें हम उनकी प्रक्रिया सिखायें। ऐसा हो तो भारत का पर गाँव लगभग एक स्वाश्रयी स्वयंपूर्ण इकाई बन जाय। दूसरे गाँवों के साथ वह ऐसी कुछ वस्तुओं का आदान-प्रदान करेगा, जिन्हें वह खुद अपनी सीमा में पैदा नहीं कर सकता हो।

स्वदेशी धर्म को जाननेवाला और उसका पालन करनेवाला अपने कुएँ में नहीं डूबा रहेगा। जो वस्तु अपने देश में नहीं बन सकती या बड़ी कठिनाई से बन सकती है, उसे विदेशों से द्वेष रखने के कारण यदि वह बनाने लगे, तो वह स्वदेशी धर्म नहीं होगा। अर्थात् पूर्ण स्वदेशी धर्म में किसी के प्रति द्वेष की गुंजाइश ही नहीं है।

यदि विदेशी पूँजी भी कोई लगाता है, यहाँ तक कि विदेशी टेकनीक एवं मशीनरी भी लगे, पर उसपर करोड़ों भारतीय का नियन्त्रण हो और सम्पूर्ण जनता का हित साधन करता हो तो यह पूँजी भी स्वदेशी मानी जानगी।

स्वावलम्बन

समाज का घटक एक गाँव या लोगों का ऐसा छोटा समूह होना चाहिए जिसकी व्यवस्था हो सके और जो आदर्श दृष्टि से (जीवन की मुख्य आवश्यकताओं के बारे में) स्वयं पूर्ण और आत्मनिर्भर हो। हर गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का सारा अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। हर गाँव को अपने पांव पर खड़ा होगा होगा—अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार स्वयं चला सके।

खेती के बारे में यह बात का पूरा प्रयत्न करना होगा कि जमीन के और अधिक टुकड़े न होने पायें। गाँव के लोगों को हमें मिल जुलकर सहयोग से खेती करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। सहकारी आन्दोलन की सफलता का रहस्य यह है कि उसके सदस्य बहुत इमानदार

हों, वे सहकारी काम के लाभों को समझते हों और उनके सामने एक निश्चित ध्येय हो।

सहयोग—जहाँ तक सम्भव हो गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायँगे। सहकारिता की पद्धति किसानों के लिए ज्यादा जरूरी है। जमीन सरकार की है। इसलिए जब उसे सहकारिता के आधार पर जोता जायगा तो उससे किसान को ज्यादा से ज्यादा आमदनी होगी।

सत्याग्रह और असहयोग के शस्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन बल होगी।

ग्राम स्वराज्य में हर एक धर्म की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलाई नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। यानि धर्म की पूर्ण समानता होगी।

पंचायती राज—गाँव का शासन चलाने के लिए हर साल गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनी जायगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यतावाले गाँव के वयस्क स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। हर पंचायत से यह आशा रखी जायगी कि वह—

(क) अपने गाँव के लड़के-लड़कियों की शिक्षा की ओर ध्यान दे।

(ख) गाँव की सफाई का ध्यान रखे।

(ग) गाँव की दवा-दारू की जरूरत पूरी करे।

(घ) गाँव के कुओं या तालाबों की रक्षा और सफाई का काम देखे।

(ङ) तथाकथित अस्पृश्यों की उन्नति और दैनिक आवश्यकतायें पूरी करने का प्रयत्न करे।

इस तस्वीर में उन मशीनों के लिए कोई गुंजाइश न होगी मनुष्य की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगों के हाथों में सारी ताकत इकट्ठी कर देती हैं।

नयी तालीम—शिक्षा से मेरा अभिप्राय है कि बालक या प्रौढ़ की शरीर, मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओं का सर्वांगीण विकास किया जाय और उन्हें प्रकाश में लाया जाय। अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है और न उसका प्रारम्भ। अक्षर-ज्ञान अपने आप में शिक्षा नहीं है : इसलिए मैं बच्चे की शिक्षा का श्रीगणेश उसे कोई दस्तकारी सिखाकर

जिस क्षण से वह अपनी शिक्षा का आरम्भ करे उसी क्षण से उत्पादन के योग्य बनाकर करूँगा। इस प्रकार प्रत्येक स्कूल आत्मनिर्भर हो सकता है। शर्त सिर्फ यह है कि इन स्कूलों की बनी चीजें राज्य खरीद लिया करे।

नयी तालीम के मुख्य सिद्धान्त

(१) पूरी शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए।

(२) इसमें आखिरी दरजे तक हाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय। यानी विद्यार्थी अपने हाथों से कोई न कोई उद्योग-धन्धा आखिरी दरजे तक करें।

(३) सारी तालीम विद्यार्थियों की प्रान्तीय भाषा द्वारा दी जानी चाहिए।

(४) इसमें साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं होगा, लेकिन बुनियादी नैतिक तालीम के लिए काफी गुञ्जाइश होगी।

(५) इस तालीम की मंशा यह है कि गांव के बच्चों को सुधार सँवार कर उन्हें गांव का आदर्श निवासी बनाया जाय।

खेती और पशुपालन

प्रारम्भ से ही मेरी यह दृढ़ श्रद्धा रही है कि इस देश के निवासियों के लिए खेती एकमात्र अटूट और अचल सहारा है। इसलिए मैं यही सोचता हूँ कि खेती, गोपालन और अन्य सब ग्रामीण उद्योगों को किस तरह देहातों में फिर से बसाऊँ। आज सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि लोग हमेशा हर काम को, चाहे वह खेती हो या गाँव से सम्बन्ध रखनेवाले कोई अन्य उद्योग हो, व्यवस्थित रीति से और इस तरह करने लग जाय जिससे उन्हें अच्छी आय होने लगे।

किसान जमीन का नूर है। जमीन उसीकी है अथवा होनी चाहिए—न कि घर बैठ कर खेती करने वाले मालिक या जमींदार को। जमीन और दूसरी सारी सम्पत्ति उस आदमी की है, जो उसके लिए काम करता है।

सहकारिता पद्धति किसानों के लिए बहुत ज्यादा जरूरी है। जमीन सरकार की है। इसलिए उसे सहकारिता के आधार पर जोता जायगा,

तो उससे ज्यादा से ज्यादा आमदनी होगी। सहकारिता की मेरी कल्पना यह है कि सब मालिक मजदूर मिल जुल कर जमीन पर अधिकार रखें और जोतने बोने, फसल काटने वगैरा का काम भी मिल जुल कर ही करें। इससे मेहनत, पूँजी औजार वगैरा की बचत होगी।

याद रखना चाहिए कि सहकारिता पूरी तरह अहिंसा की बुनियाद पर हो। हिंसामय सहकारिता की सफलता जैसी कोई चीज है ही नहीं। खुराक की कमी—पहला पाठ हमें यह सीखना चाहिए कि हम अपने आप पर भरोसा रखना शुरू करें। खाने पीने की चीजों को एक जगह जमा करके वहाँ से सारे देश में उन्हें पहुँचाने का तरीका हानिकारक है। विकेन्द्रीकरण के जरिये हम आसानी से काले बाजार का खातमा कर सकते हैं और चीजों को यहाँ से वहाँ लाने ले जाने में लगनेवाले समय और पैसे की बचत कर सकते हैं।

मेरी राय में तो अगर अनाज के रेशनिंग का कोई उपयोग है भी तो वह बहुत कम है। अगर अनाज पैदा करनेवालों को उनकी मर्जी पर छोड़ दिया जाय तो वे अपना अनाज बाजार में लायेंगे।

खादी ग्रामोद्योग—पहला स्थान चरखे का है। उसकी साधना से ही ग्रामोद्योग नयी तालीम आदि अन्य दूसरी चीजें पैदा हुई हैं। अगर हम बुद्धि पूर्वक चरखे को अपनायें तो देहातों को फिर से जिन्दा कर सकते हैं।

अब मैं देखता हूँ कि अकेले खादी ग्रामों का उत्थान नहीं कर सकती। सारे ग्राम जीवन को, सारे ग्रामोद्योगों को जीवित करके ही ग्रामवासियों को हम उन्नतशील बना सकेंगे।

छोटे और अव्यवस्थित उन सारे ग्रामीण उद्योगों की ओर हमें पूरा ध्यान देना चाहिए, जिन्हें प्रजा के प्रोत्साहन की जरूरत है। यदि हम छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों की मदद करते हैं, तो हम राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि करते हैं। इन सब उद्योगों को प्रोत्साहन और संजीवन देने में ही सच्चा स्वदेशीपन है। यह सोच रखना हमारा स्पष्ट फर्ज है कि गाँव के चरखे को, गाँव के कोल्हू को और गाँव की ओखली को किस रीति से जिन्दा रखा जा सकता है।

संक्षेप में, मैं इतना ही कहूँगा कि हमें अपने नित्य के उपयोग के लिए सिर्फ वे ही चीजें खरीदनी चाहिये जो कि गाँव में बनती हों।

ग्रामोद्योगों का यदि लोप हो गया तो भारत के सात लाख गाँवों का सर्वनाश ही समझिये।

यन्त्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है जब कि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हो। परन्तु जहाँ हिन्दुस्तान की तरह कोई काम करने के लिए आवश्यकता से अधिक आदमी हो वहाँ यन्त्रों का उपयोग हानिकर होता है।

इस बात का हम सबको विश्वास होना चाहिए कि चरखा अहिंसक आर्थिक स्वावलम्बन का प्रतीक है। चरखे को मैंने गाँव के उत्थान का मध्यबिन्दु यानि सूर्य माना है। इसके अलावा अपने गाँव में कौन से देहाती उद्योग चल सकते हैं यह भी कार्यकर्ता को देखना होगा। इसमें प्रथम आयेगा तेलघानी। तीसरा उद्योग है हाथ कागज का। तेल और हाथ कागज के उपरान्त आटे की हाथ चक्की हर देहात में सजीवन करनी चाहिए। इसी प्रकार हाथ कुटा चावल भी जरूरी है।

मुद्रा विनिमय और कर

मेरी योजना में नकद (प्रचलित) सिक्का धातु नहीं, परन्तु श्रम है। जो व्यक्ति श्रम कर सकता है, उसे यह सिक्का मिलता है, उसे धन प्राप्त होता है। वह अपने श्रम का रूपान्तर कपड़े में करता है, अनाज में करता है। इसमें श्रम का स्वतन्त्र, न्याय संगत और समानस्तर पर विनिमय होता है—इसलिए वह लूट नहीं है। आप आपत्ति कर सकते हैं कि यह तो पुरानी पद्धति की ओर लौटना है। लेकिन क्या सारा अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार इसी पद्धति पर आधारित नहीं है।

मेरा अनुभव बताता है कि यदि खादी को शहरों और गाँवों दोनों में सार्वत्रिक बनाना हो तो वह सिर्फ सूत के बदले में ही सुलभ होनी चाहिए। जिस तरह टकसाल में सोना चाँदी आता है, लेकिन बाहर तो सोने चाँदी के सिक्के ही जाते हैं, उसी तरह सूत के भण्डार में से भी सिर्फ खादी रूपी सिक्के ही बाहर जा सकते हैं।

मेरे कहने का निचोड़ यह है कि मनुष्य जीवन के लिए जितनी जरूरत की चीज है, उस पर निजी काबू रहना चाहिए—अगर न रहे तो व्यक्ति बच ही नहीं सकता है। आखिर तो जगत व्यक्तियों का ही बना है। बिन्दु नहीं है तो समुद्र नहीं है।

मेरी राय में भारत की और इसलिए सारे विश्व की आर्थिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि उसमें किसी मनुष्य को भोजन और वस्त्र के अभाव का कष्ट न भोगना पड़े। दूसरे शब्दों में उसमें प्रत्येक मानव को पूरा काम मिलना चाहिए। यह ध्येय सर्वत्र तभी सिद्ध किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जन साधारण के हाथों में हो। ये साधन सब मनुष्यों के लिए उसी तरह बिना मूल्य सुलभ होना चाहिए जिस तरह ईश्वर की उत्पन्न की हुई हवा और पानी सबके लिए सुलभ हैं। दूसरों का शोषण करने के लिए इन साधनों को व्यापार की वस्तु नहीं बनाना चाहिए। इस सादे सिद्धान्त की उपेक्षा करने से ही यह गरीबी और कंगाली पैदा हुई है, जो आज हम न केवल अपने इस अभागे देश में परन्तु संसार के अन्य भागों में भी देख रहे हैं।



भारतीय ग्राम रचना

भारत में दो प्रकार के आर्थिक ढाँचे स्पष्ट हो रहे हैं। पहला—ग्रामीण आर्थिक ढाँचा, दूसरा—शहरी आर्थिक ढाँचा। भारत के गाँव कृषि प्रधान, असुविधा प्रधान, कलह प्रधान, अशिक्षा प्रधान, रोग प्रधान, दरिद्रता प्रधान तथा अन्याय प्रधान हो गए हैं। इसके विपरीत नगर उद्योग प्रधान, उपभोग प्रधान, सर्वसुविधा प्रधान बन रहे हैं। शहर गाँवों के शोषण, गाँवों के सर्वनाश पर जीवित हैं। सारी सम्पदा शहरों का पोषण कर रही है। शहर मोटे ताजे बन गये हैं। इस दर्दनाक स्थिति में इस देश का विकास कैसे सम्भव हो सकेगा जब कि लगभग ८२ प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है। गाँवों से निराश होकर तीव्रगति से जनता शहरों की ओर चली जा रही है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि भारत सरकार अपनी सामुदायिक विकास योजनाओं

द्वारा ग्रामों की ओर ध्यान दे। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी ने प्रारम्भ से ही ग्राम स्वराज्य पर बल दिया था। आज उनके उत्तराधिकारी सन्त विनोबा भावे ग्रामदान का सन्देश प्रत्येक झोपड़ी तक पहुँचा रहे हैं। आज यह निर्विवाद है कि देश का उत्थान ग्रामोत्थान के बिना सम्भव नहीं।

ग्राम का आर्थिक महत्व

(१) भारतीय ग्राम केवल आर्थिक इकाई नहीं हैं अपितु सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संस्था हैं। अतएव इनकी समस्याओं के निराकरण के लिए हमें समग्र दृष्टिकोण से समग्र ग्राम-निर्माण की ओर बढ़ना होगा। यदि केवल आर्थिक निर्माण को ही प्रधानता दें तो भी हमें इन सब पहलुओं का ध्यान ग्राम निर्माण की सफलता के लिए करना आवश्यक होगा। भारतीय ग्रामों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में बड़ा योग दिया है। ललितकला, संगीत, साहित्य और काव्य सबका स्रोत भारतीय गाँव रहा है। इसलिए इसकी उपेक्षा करके हम जीवित नहीं रह सकते। हम दुनियाँ के देशों के अनुभव और प्रयोग अवश्य काम में लायें परन्तु बुनियादी खुराक भारतीय गाँवों की जड़ से ही मिलेगी अतएव भारतीय गाँवों की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रख कर ही और उसकी महत्ता को अंगीकार करते हुए हम निर्माण में सफल हो सकेंगे।

(२) भारतीय गाँव सारे राष्ट्र को पोषण-शक्ति देते हैं। गाँव की मानव शक्ति फौजी सिपाही बन कर सीमाओं की रक्षा करती है। भारतीय गाँवों के प्राकृतिक स्वच्छन्द स्वस्थ वातावरण में पला हुआ नवयुवक सिपाही बन कर सुरक्षा का भारवहन करता है। साथ ही साथ सजग प्रहरी बन कर देश की आन्तरिक सुरक्षा पुलिस के रूप में करता है। इस प्रकार देश की बाह्य एवं आन्तरिक सुरक्षा का भार गाँव का हृष्ट-पुष्ट नवयुवक गाँव से बाहर आकर अपने ऊपर लेता है।

(३) जो ग्रामीण नवयुवक बच रहते हैं वे देश के औद्योगिक केन्द्रों में उद्योगों में तथा अन्य कार्यों में मजदूर बनकर अपने शरीर श्रम के द्वारा इतना बड़ा औद्योगिक उत्पादन करते हैं। भारतीय गाँवों में पैदा हुआ, पला, पोषण प्राप्त किया हुआ यह नवयुवक गाँव से बाहर निकल

कर नगरों की सेवा करता है। इस प्रकार से गाँवों की श्रम शक्ति क्षीण हो जाती है। गाँव में केवल बच्चे, स्त्रियाँ, वृद्ध तथा शरीर से निर्बल और निराश अभागे नवयुवक ही बच रहते हैं क्योंकि बलिष्ठ शहरों में उनके लिए कोई स्थान नहीं है। गाँव की यह श्रम शक्ति क्षीण होती जा रही है। उसका प्रत्यक्ष फल कृषि उत्पादन में गिरावट है। बिना श्रम के गाँव की खेती-बारी, पशु-पालन तथा उद्योग क्षीण हो रहे हैं।

(४) गाँव में उत्पन्न, गाँव की शक्ति से पोषण प्राप्त तथा गाँव के साधन से ऊँची-ऊँची शिक्षा प्राप्त डाक्टर, वकील, अध्यापक तथा अन्य ज्ञान और शिल्प का ज्ञानी व्यक्ति गाँवों में नहीं जाता, वह भी अपनी बौद्धिक शक्ति से शहरों की सेवा करता है। क्योंकि अंग्रेजों ने शहरों को प्रोत्साहन बना रखा है और यहीं पर बुद्धिजीवी लोग बैठकर गाँव का शोषण करते हैं। सारी ऐश-आराम की सुविधाएँ शहरों में एकत्रित हैं, उसका आनन्द यह बुद्धिजीवी छोड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार गाँवों से बौद्धिक शक्ति उठकर शहरों में चली आ रही है।

(५) गाँव में जीवन के लिए आवश्यक खाद्य-पदार्थ जैसे अन्न, फल, साग, भाजी तथा दूध गाँव से ही आते हैं। सारी पुष्टिदायक वस्तुएँ नगर के लोग उपभोग करते हैं। इनका उत्पादन-स्थल गाँव ही है। इसलिए राष्ट्र पिता ने गाँव के उत्पादक किसान को भगवान कहा था और उसी को राष्ट्रपति का पद देने की आकांक्षा व्यक्त की थी। ये वस्तुएँ गाँव में उत्पादित होती हैं, इससे गाँव की उर्वरा शक्ति क्षीण होती है। होना यह चाहिये कि इन वस्तुओं का उपभोग भी गाँवों में ही हो ताकि इनका उपभोग भी मलमूत्र के रूप में भूमि को उर्वरक शक्ति प्रदान करे परन्तु गाँवों की भूमि को पावन करने का जो मलमूत्र है उसे नदियों में बहा देते हैं। इस प्रकार से गाँव की भूमि की उर्वरक शक्ति बाहर निकल जाती है।

(६) नगरों में चलने वाले उद्योगों के लिए कच्चा माल गाँवों में ही उत्पादित होता है। पक्का माल बन जाने के बाद उसमें जो अवशिष्ट पदार्थ निकलते हैं और जो अच्छे उर्वरक होते हैं वे गाँवों को प्राप्त नहीं होते और नगरों की नालियों में सड़ते और बर्बाद होते हैं। इस प्रकार से गाँव में उत्पादित कच्चा माल उद्योग की नींव है परन्तु गाँव की भूमि दरिद्र होती रहती है। ये उद्योग कम दाम पर कच्चा माल खरीदते हैं,

गाँव वालों की आय में वृद्धि इन उद्योगों से नहीं होती और साथ ही साथ गाँव की उर्वरक शक्ति भी नगरों में खींच कर जाती है।

(७) गाँव के प्रधान आय के साधन खाद्यान्न और कच्चे माल का बहुत कम दाम प्राप्त होता है। इस प्रकार जो कुछ न्यून आय प्राप्त होती है उसे भी शहरों में स्थापित कचहरियाँ, राजकीय कार्यालय, भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रामीणों से छीन लेते हैं। ग्रामीणों को अपने प्रत्येक कार्य के लिए शहरों की ओर दौड़ना पड़ता है। ग्राम की लक्ष्मी शहरों में ही चली आती है।

(८) जब ग्रामीण अपनी वस्तु बेचता है तो शहर के लोग उसे कम दाम देते हैं। परन्तु जब ग्रामीण व्यक्ति शहर की बनी वस्तुओं को खरीदता है तो ये शहर के लोग उससे अधिक दाम लेते हैं। सारे शहर का व्यापार इन ग्रामीणों की :आय पर चलता है। शहरों में बैठे हुए व्यापारी लोग प्रत्येक ढंग से यह चाहते हैं कि गाँवों में उद्योग न पनपें, शहरों की तरफ ही किसान इन वस्तुओं के लिये दौड़ें ताकि वस्तुओं का अपने मनमाना दाम लिया जा सके। इस प्रकार शहर के वकील, डाक्टर, व्यापारी, राजकीय कर्मचारी, पंडित, पुरोहित सब के सब गाँव से ही सारी पोषण शक्ति प्राप्त करके अत्यधिक उपभोग करते हैं।

(९) गाँव की खेती द्वारा इस देश की राष्ट्रीय आय का आधा भाग प्राप्त होता है। साथ ही यहाँ का लोकवित्त गाँव की आय पर बहुत बड़े अंश में निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में देश की आर्थिक शक्ति गाँव पर ही केन्द्रित है अतएव राष्ट्रीय हित में इस स्रोत को अधिक पुष्ट और विकसित करना होगा ताकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, जीवनमान ऊँचा उठे, बेकारी दूर हो, अधिक से अधिक आय के साधनों का प्राचुर्य बढ़े।

(१०) विश्व की अर्थ व्यवस्था का जब हम विश्लेषण करते हैं तो भी यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक देशों या औद्योगिक नगरों की समृद्धि गाँव के बाजार पर आधारित है। औद्योगिक वस्तुएँ बहुत बड़ी मात्रा में दुनिया के बहुसंख्यक ग्रामीण ग्राहकों द्वारा क्रय की जाती हैं। व्यापार चक्र के अन्तर्गत तेजी और मन्दी का विश्लेषण करनेवाले अर्थशास्त्रियों में अब इस मत की मान्यता और पुष्टि होने लगी है कि गाँव का बाजार जितना ही क्रय शक्ति से सबल होगा उतनी ही दुनिया की रक्षा व्यापार चक्र से हो सकेगी।

(११) आज यह स्थिति भारतीय गाँवों में उत्पन्न हो गई है। सन्त विनोबा के शब्दों में "गाँव की लक्ष्मी पांच दरवाजों से निकल कर शहरों की तरफ जा रही है।" इन दरवाजों को बन्द करना अनिवार्य हो गया है। यदि ये दरवाजे बन्द हो जाते हैं तो गांव सम्पत्ति से और शक्ति से पूरित हो सकेंगे। नगरों का रूप बदलेगा। नगर की अर्थव्यवस्था ग्राम की पूरक बनकर आयेगी। शोषण समाप्त होगा और गांव का महत्व बढ़ेगा।

ग्रामीण अर्थ व्यवस्था

जैसा कि विनोबा जी ने कहा है कि "खादी ग्रामोद्योग, गो-सेवा और खेती की सम्मिलित योजना से ही राष्ट्रीय आय की समस्या हल हो सकती है। हमारे शरीर में कान, आँख और नाक ये तीन विलक्षण वस्तु हैं। इनको अलग-अलग करके विचार करें तो इनमें कुछ भी शक्ति दिखाई नहीं देगी। इसी तरह ग्रामीण समाज व्यवस्था में खादी, छोटे ग्रामोद्योग, खेती और गोपालन के बीच सम्बन्ध है। तीनों एक ही हैं, ऐसा मानकर सम्मिलित विचार करना पड़ेगा।" इस कथन में महान सत्य छिपा है। वास्तव में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के चार स्तम्भ हैं। (१) खेती, (२) बारी, (३) पशुपालन और (४) उद्योग। जब तक इन चारों स्तम्भों का पूर्ण निर्माण नहीं होगा, अर्थव्यवस्था का यह महल जर्जर ही रहेगा। इन चारों क्षेत्रों का समुचित विकास होना चाहिये। आधी खेती और आधी बारी, यह एक प्रचलित विचार है। उसका कारण यह है कि केवल अन्न और कच्चा माल यदि हम उत्पादित करते हैं तो खेती लाभप्रद नहीं हो सकती। खाद्यान्न और व्यावसायिक फसलें, दोनों का अनुपात निश्चित होना चाहिये। आज जो खेती में असन्तुलन पैदा हो रहा है, उसके पीछे विशेष रूप से खाद्यान्न और व्यावसायिक फसलों का असन्तुलन है। दक्षिण भारत के चावल के खेतों में तम्बाकू और मसालों की खेती, उत्तर भारत के धान और गेहूं के खेतों में जूट और गन्ने की खेती इस बात के प्रमाण हैं। इसके साथ-साथ साग-सब्जी और फल इनका उत्पादन आधे भाग में होना चाहिये। इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि प्रति एकड़ अन्न की अपेक्षा आलू, साग-सब्जी और फल मात्रा में अधिक उत्पादित होते हैं। दूसरा यह कि ये फसल

से अधिक पौष्टिकता प्रदान करते हैं। तीसरा यह कि प्रति एकड़ इनसे अधिक आय प्राप्त होती है और ये खेती को लाभप्रद प्रमाणित करते हैं। चौथा यह कि इन वस्तुओं के उत्पादन से भारतीय किसान अधिक प्रतिष्ठा का अनुभव करता है और उसकी व्यावसायिक प्रवृत्ति और उत्साह बढ़ता है। पांचवां यह कि फसलों के हेर-फेर तथा फसल नियोजन का जितना लाभ है वह सब खेत को प्राप्त होता है। छठवां यह कि खेती से ऊबकर बहुत बड़ी जनसंख्या नगरों की ओर भाग रही है वह खेती पर रुकेगी, इससे बेकारी-अर्धबेकारी की समस्या का समाधान होगा। खाद्य व्यवहार में लोग प्रधानतः अन्नाहारी न होकर शाकाहारी होंगे। इससे खाद्य समस्या का हल निकलेगा। भारतीय संस्कृति में जो वर्ष में त्यौहारों और व्रतों का विधान है जिनमें लोग फलों पर ही निर्भर रहते हैं उसमें वृद्धि होगी, इससे लोग रोग से मुक्त होंगे और अन्न की माँग कम होगी।

पशु-पालन

पशुपालन भारतीय कृषि के लिए अनिवार्य है। पशुओं से हमें शक्ति मिलेगी खेत जोतना, सिंचाई करना आदि कार्य पशु से हो सकेंगे। पशु से हमें दूध-घी प्राप्त होगा जिससे हमारी पौष्टिकता और मौद्रिक आय दोनों बढ़ेगी और इससे अन्न और फल के उपभोग की मात्रा में कमी होगी। अधिक सन्तानोत्पादन में न्यूनता आयेगी। पशुओं के मलमूत्र से पर्याप्त मात्रा में खेती के लिए खाद प्राप्त होगी। इसलिये जो आज भारतीय कृषि में खाद की समस्या है उसका निराकरण हो सकेगा। पशुओं के चमड़े, बाल और हड्डियों से कई प्रकार के अत्यधिक लाभदायक छोटे उद्योग चलेंगे। इस प्रकार पशु ग्रामीण अर्थव्यवस्था का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है।

छोटे उद्योग

खादी और ग्रामोद्योग ग्रामीणों की सारी आवश्यकताओं की तृप्ति करने में समर्थ होंगे। पशुओं से घी, दूध, चमड़ा, बाल और हड्डी मिलेगी। इससे दूध उद्योग, चमड़ा उद्योग, हड्डी और बाल उद्योग गाँव की ही जरूरत की तृप्ति नहीं करेंगे बल्कि नगरों के बाजारों पर भी कब्जा करेंगे।

गन्ना से गुड़, चीनी उद्योग, कपास से कपड़ा उद्योग, तिलहन से तेल पानी उद्योग। इस प्रकार सन, महुआ, आम, जामुन, नीम तथा अन्य वृक्षों और पौधों तथा फूलों से अनेकों उद्योग गांवों में चलेंगे। गांव की सभी आवश्यकताओं की तृप्ति होगी ही साथ ही नगरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। इससे गांव का शोषण रुकेगा और ग्राम पुनः समृद्धिशाली होंगे। गाँव का कच्चा माल गांव में ही पक्का होगा। गांव का आदमी गांव में ही काम, दाम और प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था अपने इस चार स्तम्भों के साथ पुष्ट और शक्तिशाली होगी।

साधनों की व्यवस्था

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास के लिए पर्याप्त साधन आवश्यक हैं। कुछ साधन ग्राम के अन्दर वर्तमान हैं परन्तु अज्ञान और आलस्य के कारण उनका प्रयोग नहीं किया जा रहा है। इस प्रकार से आन्तरिक और बाह्य दोनों साधनों का संचय करना होगा। आन्तरिक शक्ति के अन्तर्गत निम्नलिखित साधन हैं।

(१) ग्राम में अपार मानव-शक्ति है लेकिन बेकारी, अर्धबेकारी, छद्मबेकारी के कारण उसका प्रयोग नहीं हो पाता साथ-ही-साथ कुछ जाति गत एवं सामाजिक मान्यतायें भी हैं जिनके कारण ग्रामीण लोग अपने श्रम का प्रयोग गाँवों से बहुत दूर जाकर करना चाहते हैं। इसके लिए यह बहुत आवश्यक है कि गांवों में श्रम बैंक की स्थापना हो जाय। इससे श्रम का उत्पादक प्रयोग होगा, श्रम के मूल्यों में परिवर्तन होगा और लोगों को आय की प्राप्ति होगी।

(२) गांवों की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि अन्न-प्रधान संयोजन हो। अनाज का जितना लाभ किसान को होना चाहिए वह उसे नहीं मिलता। बीच के दलाल उसका सारा लाभ स्वयं ले लेते हैं। यह स्थिति सर्वविदित है। भारतीय किसान को अपने अन्न की उपज का रुपये में ७ या ८ आना प्राप्त होता है शेष बीच के व्यवसायी खा जाते हैं. किसान इस लाभ से तो वंचित होता ही रहता है साथ-ही-साथ अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि क्षतियों के कारण नुकसानी का दंड भी पाता है। कृषि को अलाभकारी पाता है। इसलिए उसके श्रम से उत्पादित अन्न का लाभ किसान को मिले, इसका संयोजन [illegible] व्यवस्था से हो

सकता है। किसान में बचत करने की और बचत से लाभ प्राप्ति की भावना इस बैंक से विकसित होगी। यह अनाज बैंक किसान को और पूरे गांव को प्रचुर आर्थिक साधन प्रस्तुत करेंगे।

(३) धर्म-गोला का निर्माण हो। प्रत्येक गाँव का व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुकूल सारे ग्राम निर्माण के लिए प्रतिदिन, प्रतिमाह, या फसल के अवसर पर इसमें कुछ साधन दे।

(३) गाँवों में शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, मनोरंजन के साधन, औषधालय की व्यवस्था मुफ्त हो। इस व्यवस्था के संचालन हेतु प्रत्येक किसान अपनी आय का एक चौथाई भाग ग्राम बैंक को दे।

(५) गाँव का कोई व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में तब तक महत्व और प्रतिष्ठा न प्राप्त करे जब तक कि वह सम्पत्तिदान, श्रमदान, पूँजीदान, साधनदान, बुद्धिदान द्वारा गाँव में कोई निर्माण कार्य न करे। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए गाँव के जीवन को समृद्धिशील तथा सुखमय बनाने का प्रयास करेगा।

(६) गाँवों में फलदायक वृक्ष लगाये जायँ। पनारे की भूमि से लेकर बंजर भूमि तक में एक-एक इंच भूमि का प्रयोग उस मिट्टी के अनुकूल समस्त फलदायक एवं व्यावसायिक वृक्षों से आच्छादित कर दिया जाय। यह स्वतः ग्रामीण आय का एक बहुत बड़ा साधन है। ऐसी स्थिति में जो वृक्षों से आय होती है उसका कुछ अंश ग्राम निर्माण के लिए निश्चित कर दिया जाय।

(७) गाँवों में पशुधन की वृद्धि पूर्णरूपेण की जाय। अधिक-से-अधिक और विविध प्रकार के पशुओं का पालन किया जाय। मुर्गी पालन से लेकर गाय भैंस तक की वृद्धि की जाय। गाँवों में जो भूमिहीन हैं या साधन विहीन लोग हैं उन्हें पशुपालन का कार्य सौंपा जाय। पूरे गाँव के लोग इसमें सहायक बनें। इससे जो आय होती है उसका कुछ भाग ग्राम निर्माण के कोष में रखा जाय।

(८) इस प्रकार से ग्राम में रहने वाले मनुष्यों, पशुओं के मल मूत्र का पूरा-पूरा प्रयोग ग्रामीण भूमि को उपजाऊ बनाने में किया जाय। प्रतिवर्ष हजारों रुपये का मल-मूत्र और वृक्षों द्वारा गिराई गई पत्तियों की बरबादी हो जाती है, इसे रोका जाय और उसे उर्वरक बनाने में प्रयोग किया जाय। यह स्वतः एक बहुत बड़ी शक्ति होगी जिसके द्वारा ग्रामीण वित्तीय व्यवस्था की वृद्धि की जा सकेगी।

(६) अर्थ व्यवस्था के इन चारों क्षेत्रों को विकसित करने के लिए जितने भी साधन गाँवों में उपलब्ध हैं उनका प्रशिक्षण द्वारा तथा वैज्ञानिक खोज द्वारा पूरा-पूरा उपयोग गाँवों के विकास के लिये किया जाय। गाँवों के बेकार के बबूल, नीम, महुआ, आम आदि के वृक्षों के फल बरबाद होते हैं। इनका प्रयोग गाँवों की समृद्धि के लिए बड़ी सरलता और सुलभता से किया जा सकता है। इस प्रकार से ये बरबाद होने वाले साधन गाँवों के विकास के लिए बहुत बड़ी शक्ति के रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं।

बाह्य साधन

(१) एक ग्राम निर्माण बैंक की स्थापना हो जिसमें बाह्य क्षेत्रों से साधन एकत्रित किये जायें क्योंकि बाह्य साधनों के बिना पूर्ण विकास सम्भव नहीं। यह बैंक ग्रामीण क्षेत्र के लिए जितने भी साधन आवश्यक हैं उन्हें सुलभ कराये। बहुत से बैंकों और साधनों की संस्थायें ग्रामीणों के लिए एक पहेली बन जाते हैं इसलिये एक ग्राम निर्माण बैंक हो ताकि उनके लिए आवश्यक समस्त बाह्य साधन एक ही स्थल से सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सकें।

(२) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय स्तर पर एक ग्राम निर्माण मंत्रालय हो। इसके द्वारा ग्रामों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो। गाँवों का समग्र विकास साथ साथ चले। यद्यपि उसमें प्राथमिकता आर्थिक निर्माण को ही हो, परन्तु सब समस्यायें ऐसी गुँथी हुई हैं कि उनका समाधान एक ही मंत्रालय अच्छी प्रकार से कर सकता है।

(३) इस मंत्रालय की अंतिम इकाई गाँव हो। गाँव से लेकर मंत्रालय तक कोई दोहरी व्यवस्था न हो। खेती, बारी, पशु पालन, उद्योग, सिंचाई, बीज, खाद, यातायात, बाढ़-नियंत्रण, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, आदि का सारा कार्य गाँव स्तर पर हो और उसके लिए सारी सहायता सीधे एक मंत्रालय से प्राप्त हो। उसमें साधनों का औचित्य, उनकी मात्रा, उनके प्रकार, सब संतुलित ढंग से पूर्ण रूपेण गाँवों को प्राप्त हो सकेंगे।

(४) देश में बहुत सी समाज सेवी संस्थायें हैं। करोड़ों रुपया इन पर खर्च होता है। ऐसी संस्थायें ग्राम सेवा ग्राम निर्माण अपना लक्ष्य बना

लें और अपने आर्थिक साधनों, बौद्धिक तथा श्रम की शक्ति का प्रयोग ग्रामनिर्माण में लगायें। इससे बढ़ कर दरिद्र नारायण की सेवा कोई हो ही नहीं सकती। ये संस्थायें उन दीन हीन ग्रामीणों का उत्तरदायित्व लें जिनके पास समुचित साधन भी नहीं हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनकी जमानत भी ये संस्थायें लें। इन परिवारों की भूख से लेकर शिक्षा, मनोरंजन तक की आवश्यकताओं की तृप्ति का भार ये संस्थायें वहन करें। ग्राम निर्माण के द्वारा इस देश की ८२% जनसंख्या जब समर्थ हो जाती है तो राष्ट्र को अन्न, वस्त्र आदि की चिन्ता कभी भी नहीं रहेगी। सारे देश में प्रचलित असंख्य संस्थाएँ चाहे वह भारत सेवक समाज हो तथा साधु समाज, चाहे रामकृष्ण मिशन या हरिजन सेवक संघ, गांधी स्मारक निधि आदि सबका ग्राम निर्माण ही सेवा का क्षेत्र होना चाहिये। इन संस्थाओं के पास जो सम्पत्ति, साधन, बुद्धि श्रम है, उससे राष्ट्र को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। साथ ही प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए यह आचरणसंहिता बन जाय कि वह कोई क्षेत्र ले कर अपने घोषणा-पत्र के अनुसार उद्योग करे और ग्राम निर्माण के इस उदाहरण द्वारा राष्ट्र में अपनी सार्थकता प्रमाणित करे। इससे राजनीतिज्ञों में भी रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास होगा और इन संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा गांवों को समुचित साधन प्राप्त हो सकेंगे।

(५) भारतवर्ष के केन्द्रीय बैंक का यह पहला कर्तव्य है कि वह समस्त बैंकों के लिए अनिवार्य कर दे कि बैंक अपनी पूँजी का कम से कम ३०% विनियोग ग्राम निर्माण के कार्यों में करें। यदि ये बैंक इस आदेश का पालन करें तभी उन्हें रिजर्व बैंक सब प्रकार की साख सम्बन्धी सुविधा प्रदान करे यही नहीं बल्कि ये बैंक न्यून ब्याज की दर पर ग्राम-निर्माण के कार्य को सम्पादित करें। यह भी राष्ट्र की एक सेवा है। रिजर्व बैंक बहुत कम या बिना किसी ब्याज के ग्राम-निर्माण के कार्यों के लिए सभी प्रकार का साधन दे। साथ ही साथ मौद्रिक बैंक तथा संस्थायें जो धर्मार्थ खाता चलाती हैं उनका ५० प्रतिशत उपयोग ग्राम-निर्माण के कार्यों में करें। इससे आवश्यक जो कुछ भी साधन गांवों के लिए चाहिये, सभी उपलब्ध हो सकेंगे। सभी प्रकार की सुविधायें किसानों, कारीगरों को उपलब्ध होनी चाहिये।

बहुत से व्यक्ति जो ग्रामीण निर्माण के काम करना चाहते हैं जैसे अवकाश प्राप्त लोग उन्हें सरकार की ओर से अनुदान प्राप्त होना चाहिए

और उनके लिये यह शर्त हो कि वे अपनी शक्ति का प्रयोग ग्रामीण इकाई से प्रारम्भ करें। चाहे वह मनुष्य हो, चाहे भूमि, चाहे उद्योग या पशु हो।

(६) जो कालेज और विश्वविद्यालय देश में चल रहे हैं या चलें, उनका राष्ट्र के ग्रामीण जीवन से तादात्म्य कराना चाहिए। विनोबा जी के शब्दों में ग्राम विश्वविद्यालय बने अर्थात् गाँवों की समस्यायें ही कालेज और विश्वविद्यालयों के अध्ययन और प्रयोग की वस्तु बनें। कोई भी शिक्षण संस्था तब तक अनुदान की अधिकारिणी नहीं है जब तक अपने साधन के अनुकूल एक ग्रामीण क्षेत्र चुनकर उसका निर्माण न करे। अनुदान की कसौटी ग्राम निर्माण हो। विद्यालयों के छात्र और अध्यापक मौसम के अनुसार अपने-अपने निर्धारित क्षेत्रों में जायें और खेतीबारी, पशु और उद्योगों का विकास और संवर्धन करें। पूरे आँकड़े एकत्रित करें। क्षेत्र की योजना बनावें, स्वयं काम करें और सफलता का मूल्यांकन करें। ग्राम निर्माण की सफलता का मापदण्ड ही विद्यार्थी के ज्ञान तथा अध्यापक की सेवा और विद्यालय के अनुदान का मापदण्ड हो। विद्यार्थियों को तभी उपाधि दी जाय जब वे कुछ ठोस निर्माण का कार्य करके दिखावें, जैसे गाँवों की सफाई करें, खाद के गड्ढे बनाकर, गन्दगी को दूर करें और खाद का संचय करें। बेकार और गन्दी जमीन पर वृक्षारोपण करके गाँवों की आय की वृद्धि करें, अच्छी नस्लों के पशुओं की सेवा सुश्रूषा करके पशुधन का विकास करें। यातायात के साधन आदि की व्यवस्था करें। इस प्रकार से उनकी शिक्षा और योग्यता की प्रयोगशाला गाँव बने तभी वे इस राष्ट्र के नागरिक कहे जा सकते हैं क्योंकि पढ़े लिखे व्यक्तियों का बड़ा भारी उत्तरदायित्व होता है। वे लोग देश विदेश से अपने उपभोग को कम करके जितना भी साधन हो सकता है लावें और गाँवों की अपार उत्पादन शक्ति को जाग्रत करें।

(७) देश के धर्मबुद्धिशील पूँजीपति तथा अन्य प्रकार के दानी व्यक्तियों को इस बात के लिये कहा जाय कि वे प्राचीन परम्परा के अनुसार गाँवों में तालाब, कुएँ, धर्मशाला, पाठशाला, वृक्षारोपण तथा अन्य प्रकार के उद्योगों और रोजगार वृद्धि के साधनों की वृद्धि अपने धन से करें। ऐसे ही लोगों को जो ग्रामनिर्माण में सबसे अधिक तन-मन-धन से सहयोग दें उन्हें ही भारतरत्न ऐसी उपाधियों से सुशोभित किया जाय।

गांधी-वचन

ग्राम-सेवा

ग्राम सेवा करने वाले नवयुवकों में अटूट धैर्य आत्म विश्वास शारीरिक शक्ति, ठंढ, धूप आदि सहने की शक्ति और तालीम पाने की तत्परता होनी चाहिए। किसी भी साधारण गाँव में प्रवेश करने का मार्ग कचरा, गोबर और गन्दगी से भरा रहता है। गलियों की सफाई और साफ पानी, की व्यवस्था से गाँवों की बीमारी बहुत कम हो सकती है। अगर गाँव में पशुओं के गोबर के साथ मनुष्य के मलमूत्र का उपयोग खाद के रूप में हो सके तो यह गाँव की सबसे बड़ी सेवा होगी। गाँव में जो बेकार आदमी हों उनके हाथ में चरखा और चक्की दे देनी चाहिए। ग्रामवासियों की जेब में पैसा भी अधिक पहुँचने की गरज से हम सब उपाय काम में लायें। गाँव में श्रद्धा से काम करते रहें। सच्चा अर्थशास्त्र वही है जो नीति से चले। ग्राम सेवा में वे ही लोग पड़ें जो शहरी आदतों के शिकार न हों।

खेती

जमीन का मालिक वही है जो उस पर मेहनत करता है। भारत के लोग अगर खेती की तरक्की न कर सके तो वे और कोई भी काम नहीं कर सकते। जिस धन्धे पर देश के ७८ प्रतिशत लोगों की आजीविका चलती है उसकी उपेक्षा आत्मघात के समान है। खेती को यदि सहकारी पद्धति पर ठीक रीति से चलाया जाए तो उसका सुपरिणाम किसानों के लिए ही नहीं, सारे देश के लिए होगा। खेती एक ऐसी कला है जिसका उत्पादन कार्य अपने हाथों सम्पन्न होता है। सहयोग यानी सामुदायिक पद्धति द्वारा खेती ही नहीं, पशुपालन का काम भी किया जाये। मेरी कल्पना की सहकारी खेती जमीन की शक्ल ही बदल देगी और लोगों की गरीबी तथा आलसीपन को भगा देगी। सहकारी खेती जोर जबरदस्ती से न हो क्योंकि जो अच्छाई जबरदस्ती से पैदा की जाती है वह व्यक्तित्व को नष्ट कर देती है। सहकारी पद्धति से खेती या दुग्धशाला चलाना सचमुच एक अच्छा ध्येय है। इससे देश

को लाभ होगा। किसानों के सहकारी पद्धति पर खेती करना बहुत जरूरी है। भारत का प्रमुख धन्धा होने के कारण खेती को सभी दृष्टियों से प्राथमिकता मिलनी चाहिए। गाय जैसी निरीह और उपयोगी पशु का वध करना राष्ट्र के लिए आत्मघात के समान है। गो-सेवा का कार्य धार्मिक भाव से करने वालों को भी यह लाभ तो है ही कि वे शुद्ध दूध घी प्राप्त कर उसके जरिए अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकते हैं। भारत के ८० प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं और उनका जीवन आधार खेती गो वंश की समृद्धि पर निर्भर है। गौ को माता इसीलिए कहा गया है कि वह हमें दूध पिलाती है और ऐसे बछड़े भी जनती है जो हमारा साथी बन कर कृषि और वाणिज्य में सहायक होता है।

———

नवम्-परिच्छेद

ग्रामीण धन के शोषण का मार्ग

सर्वोदय अर्थशास्त्र का आधार कृषि एवं ग्राम निर्माण है। इस अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों के पीछे एक प्राथमिकता है। उस प्रथमिकता में ग्रामीण अर्थशास्त्र को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके कई कारण हैं—

(१) मनुष्य परिस्थितियों का गुलाम नहीं होता बल्कि उनका निर्माण करता है। परन्तु प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उसका नियमन होता है। प्रकृति से अलग रह कर कोई व्यक्ति न तो अधिक समय तक स्वस्थ रह सकता है और न तो अपनी शक्तियों का विकास ही कर सकता है। ग्रामीण वातावरण में अधिक स्वस्थ होने के लिए प्रकृति का सानिध्य आवश्यक है।

(२) जीवों को जीवित रखने के लिए जितने प्रकार के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता है वे सबके सब गाँव से ही प्राप्त होते हैं। पौष्टिक खाद्य पदार्थ पर ही मानव जीवन पूर्णतया आधारित हैं।

(३) खाद्य पदार्थों के अलावा जो अन्य सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं जैसे वस्त्र, मकान एवं अन्य प्रसाधन उन्हें उद्योगों द्वारा निर्मित किया जाता है। इन उद्योगों को कच्चा माल गाँव से ही प्राप्त होता है।

(४) विश्व में जितनी सभ्यता एवं संस्कृतियाँ हैं वे अधिकांश ग्रामीण, प्राकृतिक क्षेत्रों से ही आयीं और अपने साहित्य, कला, सौंदर्य, नैतिकता आदि शक्तियों द्वारा मानव समाज को बाँधा।

(५) अधिकतर आबादी गाँवों में निवास करती है। विश्व में जो नागरिक हैं उनमें ग्रामीण नागरिकों की ही सबसे अधिक संख्या है। इसलिए विश्व को उन्नतिशील बनाने के लिए जरूरी है कि अत्यधिक आबादी वाले गाँव का विकास किया जाय।

(६) जो उत्पादन कार्य में या सुरक्षा के कार्य में मानव शक्ति है—श्रमिक के रूप में, फौज एवं पुलिस के रूप में—सबसे अधिक ग्रामीण क्षेत्रों से ही प्राप्त होती है।

(७) आज के आधुनिक औद्योगिक युग में यह भी देखा जाता कि विश्व के उत्पादन का सबसे बड़ा उपभोक्ता ग्रामीण क्षेत्र ही है। इसलिए किसी भी अर्थव्यवस्था का आधार यदि ग्रामीण क्षेत्र होता है तो यह निर्विवाद है कि पूरा विश्व ग्रामीण क्षेत्र के विकास से समृद्ध होगा। इसलिए इस अर्थ व्यवस्था में ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर बल दिया गया है। सारी अर्थ व्यवस्था का मूल ग्रामीण अर्थशास्त्र ही है।

यदि हम चाहते हैं कि सारा विश्व सुखी रहे तो हमें ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अर्थात् भौतिक जीवन के आधार को दृढ़ बनाना होगा। हम तभी सुखी हो सकते हैं जब ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुख एवं समृद्धि की ओर बढ़े। यह एक कटु सत्य है, क्योंकि आज का औद्योगिक मनुष्य सुख को उद्योगों में देखता है। सुख की कल्पना बिना उद्योग के वह कर ही नहीं सकता है। सुख को बाह्य, चकाचौंध करने वाली मशीनों के चमत्कार जो कि उद्योगों में प्रगट होते हैं उसी में देखता है। यह हमारा दुर्भाग्य है। वास्तविक सुख का सृजन ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में ही निहित है। इसलिए यह अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आज के होने वाले शोषण को समाप्त करना चाहती है। जो कुछ ग्रामीण अर्थव्यवस्था में समृद्धि होती है वह कई मार्गों से गाँव से निकल कर शहरों में पहुँच जाती है। उन मार्गों में प्रधान मार्ग निम्नलिखित हैं :—

(१) बाजार का मार्ग।

(२) शादी ब्याह एवं उत्सव का मार्ग।

(३) साहूकारी का मार्ग।

(४) सरकार का मार्ग।

(५) गाँवों में व्याप्त व्यसन का मार्ग।

(१) बाजार का मार्ग :—ग्रामीण अर्थव्यवस्था में जो उत्पादन होता है वह यों ही बहुत न्यून होता है। परन्तु उसके साथ जब इस अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध बाजार से जुड़ता है तब इसकी सारी शक्ति बाजार में चली जाती है। बाजार का नियंत्रण मुद्रा से होता है। बाजार की सारी क्रिया चालाकी से चलती है। ये दोनों शक्तियाँ (मुद्रा एवं चालाकी) ग्रामीणों

के हाथ में नहीं है। बाजार का संचालक मध्यस्थ 'मिडिल मैन' होता है। वह गाँव की अर्थव्यवस्था की असमर्थता का पूरा लाभ उठाता है। फसल बोने के पहले चाहे वह खाद्य पदार्थ हो या कच्चा माल हो ग्रामीणों को धन एवं साधन ये लोग देते हैं और उसी समय उनके द्वारा उत्पादित वस्तु को एक विशेष भाव पर लेने के लिए तय कर देते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि किसान अपने उत्पादन में से न तो पूर्ण उपभोग ही कर सकता और न उसमें से पूँजी निर्माण ही कर सकता है। इस प्रकार साल के भीतर ही वह अपने उत्पादन के लिए, पूँजी के लिए पुनः उसी मध्यस्थ "मिडिल मैन" की शरण में जाता है और यह कुचक्र शताब्दियों से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में चल रहा है। जब फसल तैयार होती उसी समय ग्रामीणों की वर्षभर की अतिरिक्त आवश्यकतायें जो प्रतीक्षा में रहती उनकी तृप्ति करनी होती है। अपनी उत्पादित वस्तु को शीघ्रातिशीघ्र जब कि बाजार में पूर्ति का आधिक्य हो ग्रामीण जाकर कम दाम पर बेचने के लिए बाध्य होता है।

बाट एवं नाप तौल की भिन्नता एवं विविधता तथा उसके अंतर्गत निहित चालाकी, जैसे कम तौल के बाट, वस्तुओं के क्रय के अलग बाट एवं बिक्री के अलग, तराजू के दोष, तौल की चातुरी, आदि ऐसे तत्व हैं जिनके द्वारा बाजार का यह एजेंट ग्रामीण अर्थव्यवस्था में निहित उत्पादित समृद्धि का बहुत बड़ा हिस्सा हड़प लेता है। जैसा कि अखिल भारतीय मार्केटिंग कमेटी की रिपोर्ट है कि भारतीय किसान द्वारा उत्पादित वस्तु का जो दाम उपभोक्ता देता है उसका केवल रुपये में सात या आठ आने ग्रामीण किसान को प्राप्त होता है। इसका सहज परिणाम है कि बाजार के एजेंट इस ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उत्पादकता का आधा से अधिक भाग स्वयं ले लेते हैं।

जब किसान अपनी जरूरी वस्तुओं को इस बाजार से प्राप्त करना चाहता है तो उसे कई गुना अधिक दाम देने पड़ते हैं। कई प्रकार से या यों कहें उसी प्रक्रिया से जिस प्रक्रिया से गाँव से उत्पादित वस्तु में से रुपये में नौ आना बाजार का एजेंट लेता है उसी प्रक्रिया से बाजार का एजेंट किसान को सामान देने में उसका शोषण करता है।

आज की ग्रामीण अर्थव्यवस्था सभी प्रकार से बाजार की मुहताज होती जा रही है। बाजार के द्वारा ग्रामीणों का शोषण उत्पादित कच्चे एवं पक्के माल तक ही नहीं सीमित है बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में जो श्रम

है वह भी बाजार में आकर लुट रहा है। यह सबसे भयानक मार्ग है जिसके द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का शोषण हुआ, इसको रोकना मानो मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा होगी। सर्वोदय अर्थव्यवस्था व्यक्तिगत स्वावलंबन, पारिवारिक स्वावलंबन, ग्रामीण स्वावलम्बन, क्षेत्रीय स्वावलंबन और फिर परस्परावलम्बन की नीति एवं प्रक्रिया द्वारा इसे रोकने के लिए, सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है।

इस औद्योगिक युग में बाजार की पेचीदगी एवं मुद्रा की पेचीदगी ऐसी विकट है कि किसान अपने परिश्रम का पूरा लाभ नहीं उठा सकता है। उसकी असमर्थता इतनी अधिक हो जाती है कि बाजार कि इन एजेंसियों के सामने उसका टिकना कठिन हो जाता है। किसान दो नाव पर चढ़ा है और दो शक्तियों का उसे सहारा लेना पड़ता है।

(१) ईश्वर या प्रकृति जिस पर उसका सारा जीवन निर्भर करता है। अच्छी एवं अनुकूल जलवायु पर ही सारी खेती निर्भर करती है।

(२) अपनी उत्पादित वस्तु का अच्छा दाम प्राप्त करने के लिए बाजार का सहारा लेना पड़ता है।

बाजार से ग्रामीण अर्थव्यवस्था को जोड़ देना अच्छा हो सकता है, परन्तु बाजार पर नियंत्रण ग्रामीण अर्थव्यवस्था का हो न कि बाजार का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का जो सत्व है वह बाजार के अंकुश में दब न जाय, इसके लिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पुष्ट एवं सबल बनाना होगा। ग्रामीण अपने उपभोग की वस्तुएं स्वयं तैयार करें। पहले उनका भरपूर उपयोग करें और औद्योगिक आवश्यकता के लिए बाजार पर निर्भर न रहें। अपने द्वारा उत्पादित कच्चे माल का गांव में ही पक्का माल बनायें जैसे तेल, साबुन आदि का निर्माण स्वयं करें। गांव का कच्चा माल एवं श्रम, गांव की टेक्नीक एवं पूंजी और गांव का ही उपभोक्ता, ऐसी स्थिति में उसका शोषण बन्द हो जायगा और भाव की तेजी मन्दी, मंहगा सस्ता का विचार ही नहीं उत्पन्न होगा। गांव के तेली का तेल, मोची का जूता, किसान का अन्न एवं दूध ये सब के सब एक दूसरे के लिए आवश्यक तत्व हैं और वे उपयोग में प्रयोग होंगे। बाजार में शोषण युक्त एजेंसियों के द्वारा जो बनावटी मंहगी-सस्ती से जो आपदा आती वह होगा ही नहीं। उत्पादन का सही [illegible] होगा। यथास्थान उत्पादन, उपभोग एवं वितरण होगा। [illegible] आरम्भ होगा। मुद्रा तथा बाजार की चालाकियों से जो मानव अर्थव्यवस्था

ग्रस्त होती है उसका निराकरण होगा। गाँव के उपभोग के उपरान्त जो बचेगा वह शहर के उपभोग के लिए गाँव वालों की मर्जी एवं गांववालों के नियन्त्रण से दी जा सकेगी। यहाँ बाजार का जो सही रूप है वह निखरेगा। उद्योगों एवं नगरों की अर्थव्यवस्था कृषि अर्थव्यवस्था की दासी बनकर रहे। आज का जो व्यवहार है उसमें परिवर्तन होगा और नागरिक अर्थव्यवस्था जो गाँव के शोषण पर आधारित है, नगरों की एजेंसियाँ इसी शोषण पर चलती हैं या तो वे नष्ट हो जयँगी या ग्रामाभिमुख होंगी या ग्राम का पूरक बनकर रहेंगी। यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था कितनी स्वावलम्बी एवं पुष्ट हो चली है। देश के बहुसंख्यक प्राणी जो गाँव में कार्यरत हैं उनकी हैसियत का महत्व सारी अर्थव्यवस्था समझेगी और जो कुछ शोषण के मार्ग से बाहर जाता है वह बन्द होगा। नगर जो शोषण के केन्द्र बन गये हैं उनकी दिशा बदलेगी और ग्रामीण शोषण की नाली बन्द होगी। बाजार गौण होगा और उसका नियामक गाँव बन जायगा।

(२) शादी व्याह एवं उत्सव का मार्ग

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का जो दूसरा शोषण का रास्ता है वह शादी व्याह का है। आज गाँव में जो कुछ भी उत्पादन होता है वह अपव्यय या अज्ञान द्वारा वहाँ नहीं रह जाता। यह जो व्यय है विशेषकर व्याह, उत्सव पर अन्धाधुन्ध रूप से होता है। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उत्पादकता में वृद्धि नहीं होती क्योंकि जो कुछ भी ग्रामीण उत्पादन करते हैं वह पुनः इस रूप में व्यय किया जाता है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए जो आवश्यक पूँजी है उसमें ह्रास होता है। आज ग्रामीण वित्त एवं ग्रामीण पूँजी की जो न्यूनता है उसके पीछे इस पर किया गया अपव्यय सबसे बड़ा कारण है। इन उत्सवों पर जो व्यय होता है वह बहुधा ऐसी फजूल की वस्तुओं पर होता है, जिसका उत्पादक एवं विक्रेता नगर का ही व्यक्ति होता है। यह व्यय झूठी प्रतिष्ठा के लिए ही होता है। इसलिए एक ओर तो यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इन सब साधनों का ह्रास करता है दूसरी तरफ इस के साथ-साथ ग्रामीण अर्थव्यवस्था को फजूल की बर्बादी की तरफ बढ़ावा देता है। इस प्रकार की बर्बादी इस रूप एवं परिमाण में बढ़ती है कि शनैः शनैः सारी शक्ति इन झूँठी प्रतिष्ठा-

दायक उपभोग की अनुत्पादक क्रिया पर व्यय होती है। ये सब अनुत्पादक उपभोग पर व्यय किए जाते हैं। वास्तव में इन पर नियन्त्रण करना बहुत जरूरी है। लेकिन आज मजबूरी यह हो गयी है कि इन अवसरों ने नगरों की दी हुई झूठी प्रतिष्ठा और नगरों द्वारा बढ़ाई गयी सामाजिक प्रतिष्ठा का रूप धर ले लिया है। इसलिए इस आवश्यकता को समाप्त करना आज एक सामाजिक कठिनाई बन गयी है। इन अवसरों में मनुष्य अपना सन्तुलन खो देता है। बहुत सी एजेंसियाँ जो इन अवसरों पर प्रफुल्लित होती हैं उनको बराबर इन पर बढ़ावा मिलता रहता है। यह रास्ता भी रोकना आवश्यक है।

इस अपव्यय से बचने के लिए जो विधान निश्चित किये गये हैं उनके प्रयोग आश्रमों में किये गये हैं। विवाह में जो लेन-देन की प्रथा है वह वहाँ समाप्त कर दी गई। विवाह या ऐसे अवसर पर व्यय का प्रबन्ध एवं उत्तरदायित्व जिस प्रकार आश्रमों में आश्रम पर रहता है, उसी प्रकार से गृहस्थ आश्रम गाँव में सबका व्यय वहन करेगा। सब के बिना सभी ग्रामीण लोग अपना लेंगे तो यह किसी की अप्रतिष्ठा का विषय नहीं रह जायगा। यह एक सामाजिक मूल्य बनेगा, विवाह के संस्कार का स्वरूप बदलेगा। वर-वधू जो साथ चार घूमते हैं उन्हें सात प्रतिज्ञायें रचनात्मक दिशा में लेनी होंगी। सर्वोदय आश्रमों में एक-एक दिन सबको पाखानों की सफाई, आश्रम सफाई, भोजन की व्यवस्था आदि कार्य करने पड़ते हैं और ये सब देश के भौतिक निर्माण के रचनात्मक कार्य हैं। जिस भौतिक जगत में जीवन निर्माण करना है उसमें वर-वधू पाखाने से परमात्मा तक पवित्र मान कर साथ आजीवन कर्तव्य करने का व्रत लेते हैं। ये व्रत इस भौतिक जीवन के अमोघ शस्त्र बन जाते हैं। यह एक नयी पद्धति है परन्तु इसमें सब वैवाहिक बन्धनों एवं व्रतों का पूर्ण पालन होता है। गाँव के समस्त बच्चों का विवाह इसी रूप में किया जायगा। किसी प्रकार की तड़क भड़क का प्रयोग नहीं किया जायगा। गाँव की मिट्टी, गोबर, कलश, गाँव के सारे साधनों प्रसाधनों का प्रयोग, साज सज्जा के लिए गाँव की ही फूल आदि सभी सामग्री का प्रयोग होगा। इससे गाँव का जो धन इन अवसरों पर नगरों को जाता है वह नहीं जा सकेगा।

(२) मादक वस्तुओं का मार्ग—यह कहा जाता है कि रेगिस्तान में जो स्थान नखलिस्तान का है वही स्थान ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में मधुशालाओं का है।

बहुत दिनों से प्रचलित अर्थ-व्यवस्था में इसका प्रमुख स्थान हो गया है। गाँव के लिए कुछ न कुछ उत्पादन, उपभोग के लिए धन चाहिए। जैसी कि कृषि की स्थिति रही है उसमें भूमि पर काम करने-वाले किसान, उद्योग के मजदूर एवं कारीगरों को साधन की जरूरत होती है उनके लिए चौबीस घण्टा साहूकार तैयार रहता है। उनके उत्पादन कार्य का बहुत बड़ा भाग इस साहूकार के पास अधिक ब्याज, सेवा, बेगारी के रूप में, अधिक लाभ के रूप में जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि साहूकार एक ऐसा रोग है जिसके बिना ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था चल ही नहीं सकती है। सारी ग्रामीण शक्ति चाहे मानव श्रम की हो, उद्योग की हो, कृषि की हो सबके सब का नियंत्रक एवं नियामक साहूकार होता है। इसलिए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का विकास अवरूद्ध हो जाता है।

कृषि के प्रमुख कार्यों में आर्थिक साधनों की नितान्त आवश्यकता होती है। (१) बीज को खरीदने के लिए। (२) हल बैल के लिए। (३) खाद के लिए। ये तीन खेती की प्रत्यक्ष आवश्यकतायें हैं जिनके लिए किसानों को धन की आवश्यकता होती है। लेकिन इन तीनों के लिए किसान के पास स्वयं इतना साधन नहीं होता कि वह खेती के इन कार्यों को अपने साधनों से कर सके, विशेष कर इस देश में प्रति गाँव पीछे शायद ही कोई ऐसा किसान हो। यदि ऐसे किसान हैं भी तो उनकी संख्या बहुत ही कम है। ऐसे लोगों की संख्या प्रति गाँव में एक दो होगी जिनके पास खेती के उन्नत साधन, सिंचाई के साधन, उन्नतिशील औजार आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों। इसलिए प्रत्येक किसान को बाह्य साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। खेती के अलावा उसका धन अन्य साज सज्जा पर भी व्यय होता है जैसे सामाजिक त्योहार, मकान बनवाना, पशुपालन जिसे हम खेती का पूरक और आवश्यक खर्च कह सकते हैं। इन कार्यों के लिए भी उसे बाहर के साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ऐसे औद्योगिक सामान जिनका कच्चा माल तो वह स्वयं पैदा करता है लेकिन उन्हें स्वयं पक्के माल में नहीं बदल सकता है। इन चीजों का पक्का माल औद्योगिक क्षेत्र या शहरों में बनता है जैसे वस्त्र का सामान, चमड़े का सामान, साबुन आदि। ये इतने आवश्यक हैं कि इनके बिना उनका कार्य चल ही नहीं सकता। परन्तु इन चीजों के लिए किसानों को

काफी दाम चुकाना पड़ता है। इसलिए वह इन वस्तुओं के उपभोग के लिए भी बाहरी साधनों पर निर्भर रहता है।

खाद्यान्न की वस्तुओं का वह काफी मात्रा में उपभोग नहीं कर पाता और वर्ष के कुछ महीने उसे बाहर के अन्न पर निर्भर रहना पड़ता है। पुराना अन्न का कर्ज चुकाने के लिए वह अन्न को सस्ते दर पर बेचता है और जब उसे उसकी स्वयं आवश्यकता पड़ती है तब उसी अन्न को ऊँची कीमत पर खरीदता है। इस ऊँचे दाम के लिए वह पुनः दूसरे पर निर्भर करता है। इस प्रकार इन परिस्थितियों में उसके समक्ष कोई और न सहायक होकर साहूकार ही होता है। यह साहूकार चौबीस घण्टे किसान की सहायता के लिए तैयार रहता है। क्योंकि साहूकार का जीवन एवं समृद्धि सब कुछ किसान पर निर्भर करती है। किसान की मजबूरी होती है और इन मजबूरियों का दुरुपयोग या सदुपयोग साहूकार करता है। किसान का वही सबसे बड़ा मित्र एवं हितचिंतक होता है। वह साहूकार बहुत कम दाम पर किसान की उत्पादित वस्तु को प्राप्त करता है और फिर उन्हीं वस्तुओं की आवश्यकता पड़ने पर बहुत अधिक दाम पर किसानों को बेचता है। बराबर वह किसानों को प्रोत्साहन देता रहता है कि किसान अप-व्ययी हों। किसी भी प्रकार की मितव्ययिता के लिए वह उन्हें नेक सलाह नहीं देता और उस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। अधिक ब्याज की दर पर वह किसानों को कर्ज देता है। किसानों की सम्पत्ति जैसे गाय, बैल वह कम ही दाम पर खरीदता है। दुनिया में जितनी ऊँची ब्याज की दर साहूकार लेता है शायद ही कोई लेता होगा। इसलिए यह कहा गया है कि किसान का सबसे बड़ा दुश्मन वही है। किसानों को अन्य प्रकार की सहायता देने वाली जो योजनाएँ हैं उनका विकास वह होने ही नहीं देता। इसलिए जितने सहकारी आन्दोलन हैं बहुत कुछ साहूकारों की बाधा के कारण पनप ही नहीं पाते। निःसंदेह ये एजेन्सियाँ स्वयं अपने दोषों से भरी पड़ी हैं लेकिन यह भी निर्विवाद है कि साहूकार आज किसानों को उनके संकट के क्षणों में काफी सहायता करता है।

साहूकार किसान की प्रतिदिन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार रहता है। उसके पास कोई कायदा कानून नहीं होता और सहायता के लिए सदैव तैयार रहता है। इसलिए किसान उसका

आभारी भी रहता है और उसे प्रतिष्ठा भी देता है। किसान को साहूकार से दूर करना यह भी एक बड़ी समस्या है। यदि किसान ऊपर बताये कार्यों के लिए अपने ऊपर निर्भर रहने लगे तो निःसन्देह वह साहूकार से मुक्त हो सकता है। आज की जो स्थिति है उसमें समस्या खड़ी होती है कि क्या साहूकार को समाप्त कर दिया जाय या उसके कार्य में सुधार लाया जाय। इस स्थिति पर जब हम विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि साहूकार को, बिना किसी बाहरी एजेन्सी को ग्रामीण क्षेत्र में दिये, समाप्त करना कठिन है। राजकीय या साहूकारी ढंग से इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है पर इसके लिए पर्याप्त धन एवं साधन होना आवश्यक है तभी साहूकारी व्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है। परन्तु इससे भी आवश्यक है कि किसान स्वावलम्बी बने, वह अपनी आवश्यकताओं के लिए स्वयं अपने पर निर्भर हो। इसके लिए कृषि, ग्रामोद्योग, पशुपालन के स्वरूप को बदलना पड़ेगा। किसानों में आज जो एक असमर्थता व्याप्त हो गयी है, उसका निराकरण भी कृषि, ग्रामोद्योग पशु पालन से ही करना पड़ेगा। जितना ही किसान अपने ही साधनों पर ही निर्भर रहेगा उतना ही वह साहूकार के चंगुल से निकल सकेगा।

(४) व्यसन का मार्ग

ग्रामीण क्षेत्रों में नशीली वस्तुओं का प्रवेश तीव्र गति से हो रहा है। उसका प्रमुख कारण है कि देश का जो औद्योगिक विकास हो रहा है उसमें उद्योगों की दिशा अधिकतम लाभ की होती है। उद्योग नशीली वस्तुओं के उत्पादन से लाभ उठाने का प्रयास करते हैं क्योंकि नशीली वस्तुओं की माँग बेलोच होती दूसरे शब्दों में चाहे भोजन मिले या न मिले पर ऊँचे से ऊँचे दाम पर नशीली वस्तु का उपभोग व्यक्ति करता है। यह ऐसी स्थिति है जिसका लाभ, अनैतिक होते हुए भी, उद्योगपति उठा रहा है। आज कल रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लोभ में यह भी देखा जा रहा है कि नशीली वस्तु का उपभोग कितना किया जाता है। इन वस्तुओं का अधिकतम प्रयोग उसका गुण माना जा रहा है। अर्थात् जिनकी आय अधिक होती है वे अधिक मात्रा में इन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं।

दरिद्र एवं निम्न कोटि के लोग जिनमें अविवेक एवं अज्ञान है वह उन नशीली वस्तुओं का आदी बन जाता है और आय का बड़ा भाग व्यय करता है। इस प्रकार से नशीली वस्तुएँ औद्योगिक दृष्टि से ज्यादा लाभ की होती हैं। चूँकि आज की युग की उत्पादन प्रक्रिया केवल लाभ के लिए चलती है इसलिए आज के उद्योग अधिक से अधिक कच्चे माल की माँग करते हैं। इन कच्चे मालों का उत्पादन ग्रामीण क्षेत्रों में होता है और जब किसान यह देखता कि इस कच्चे माल के उत्पादन में एक तो लाभ होता है दूसरे कोई लाभप्रद जरूरी वस्तुएँ हैं नहीं उनका उत्पादन समाज में बढ़ता है। ऐसी स्थिति में वह उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा उन नशीली वस्तुओं के उपभोग के लिए अभ्यस्त होने लगता है। मनुष्य का स्वभाव है कि जिस वस्तु का उत्पादन करता है उसके उपभोग में भी वह लिप्त होने लगता है। साथ ही साथ भारत की कुछ जातियों में इसे परम्परानुसार सामाजिक प्रतिष्ठा के रूप में माना जाता है। कार्य-व्यवहार एवं त्योहारों में इनका प्रयोग बड़ी मात्रा में किया जाता है। यह धीरे-धीरे समाज में आदत का रूप धारण कर लेती है। इसलिए ग्रामीण निवासी अपने चावल एवं गन्ना के खेत में तम्बाकू, अफीम, गाँजा आदि का उत्पादन करता है और इन वस्तुओं का काफी मात्रा में उपभोग भी करता है। शायद ही कोई गाँव बचा हो जहाँ नशीली वस्तुओं पर अधिक धन व्यय न होता हो। इनके उपभोग से अपराध में वृद्धि होती है, स्वास्थ्य खराब होता है और इन सब का परिणाम होता है कि बहुत बड़ी मात्रा में धन का अपव्यय होता है। यह मानव शरीर और मस्तिष्क की कार्यक्षमता एवं उत्पादकता भी घटाता ही है साथ में अर्जित धन का दुरुपयोग भी इसके द्वारा होता है।

इसीलिए नशा की इन वस्तुओं के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाया जाय इससे गाँव का धन जो नशे में अपव्यय होता है वह बच जायगा। दूसरे, किसान अपने खेत एवं साधन को फल फूल एवं खाद्यान्न के उत्पादन में लगायेगा। तीसरे, किसान स्वास्थ्यवर्धक वस्तुओं का उपभोग करेगा। चौथे मनुष्य ऐसे उद्योगों में लगेगा जिससे उसकी उत्पादन शक्ति व कार्यक्षमता बढ़े। पाँचवें, नशा से जो उसके शरीर एवं मन में विकार पैदा होते हैं, उससे जो स्वास्थ्य खराब भी करता है, अपराध करता है और इसे प्रतिष्ठा की वस्तु बनाकर जो धन का दुरुपयोग करता है वह समाप्त होगा। साथ ही साथ इस प्रतिबन्ध के लिए जो यह कर्ज लेता है

उससे छुटकारा प्राप्त होगा। इस प्रकार से नशा द्वारा जो ग्रामीण शक्ति का ह्रास होता है उसका अन्त होगा।

(५) राजकीय कर द्वारा अन्न का बाहर जाना

प्राचीन युग में प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी होता था और यह स्वावलम्बन न केवल आर्थिक क्षेत्र में था बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक क्षेत्र में भी था। धीरे-धीरे विदेशी राज्य के आगमन से प्रशासकीय क्षेत्र निर्बल हुआ और गाँव का सारा प्रबन्ध बड़े-बड़े नगरों से बाँध दिया गया। गांव की पंचायतें एवं गाँव के सारे प्रबन्धात्मक संगठन टूट गये। भूमि का बन्दोबस्त, झगड़ों का निपटारा चाहे वह सम्पत्ति का हो चाहे भूमि का हो सबका केन्द्र शहर बन गया। इस प्रकार से ग्रामीणों को इन छोटी-छोटी प्राशासनिक एवं न्यायिक आवश्यकताओं के लिए गाँव से दूर शहरों में जाना पड़ा। विदेशी सरकार ने ऐसे कानून बनाये जो पेचीदे थे और वे झगड़े के कारण बने। झगड़ों को कम करने के लिए नहीं बल्कि बढ़ाने के लिए कानून बने। इसका सहज परिणाम हुआ कि आपसी झगड़े बहुत बढ़ गये एवं उनका निराकरण शहरों में जाकर होने से अधिक खर्चीला बन गया। ग्रामीण अपने सभी आन्तरिक मामलों के लिए कचहरी पर निर्भर रहने लगे। छोटी-छोटी बातों में भी कचहरियों से तनाव उत्पन्न हो जाता है। इसमें धन का काफी अपव्यय होता है। यद्यपि नाम इसका कोर्ट फीस है पर वास्तव में यह टेक्स है।

दूसरे, आज की प्रबन्धात्मक मशीनरी बहुत खर्चीली है। सरकार इस प्रबन्धात्मक मशीनरी के लिए धन की तलाश करती है। यह धन कहाँ से आये इसकी एक व्यवस्था है। सरकार को इसकी व्यवस्था विविध प्रकार के करों से करनी पड़ती है। यह टेक्स ग्रामीण जनता से विविध रूपों से लिया जाता है। ग्रामीण धन का बहुत बड़ा भाग सरकार के खजाने में कर के रूप में चला जाता है। किसानों से कर की वसूली ऐसे मौके पर होती है जब कि किसान की फसल पैदार होती है, इसलिए किसान सरकारी टेक्स चुकाने के लिए अपनी फसल को सस्ते भाव पर बेंच देता है। इससे उसे अपनी उत्पादन शक्ति का पूरा पूरा लाभ नहीं मिलता है। इस शोषण के स्रोत को बन्द करने के लिए निम्नलिखित बातें जरूरी हैं:—

१—आपसी झगड़े कम-से-कम हों।

२—आपसी झगड़े के जो मूल कारण भूमि एवं सम्पत्ति है, उनका अधिक से अधिक स्वामित्व सारे गाँव का कर दिया जाय।

३—छोटे छोटे झगड़ों को किसान स्वयं आपस में सुलझा लें।

४—गाँव के प्रशासन के लिए ग्राम पंचायतों का निर्माण हो। उसका प्रमुख कार्य गाँव की व्यवस्था, भूमि व्यवस्था, रोजगारी की व्यवस्था, सहकारिता सांस्कृतिक विकास, स्वच्छता, दवा आदि हो। व्यवस्था ग्राम पंचायत के कार्य का प्रमुख अंग है; दूसरा न्याय का अंग है। न्याय व्यवस्था ऐसी हो जिससे किसानों पर बोझ न पड़े और थोड़े से व्यय में अपना सब काम कर लें। उनकी सम्पत्ति उनके विकास के लिए उनके पास ही रह जाय। इस प्रकार से गाँव स्वयं गणतन्त्र बनें। गाँव प्रशासकीय एवं न्याय व्यवस्था के लिए स्वावलम्बी बनें।

५—गाँव, सरकार को कर अन्न में दे और सरकारी कर्मचारियों को वेतन भी अन्न में मिले।

जब यह सम्भव होगा तो उसी में से चाहे वह गांधी का ग्राम-स्वराज्य हो, चाहे विनोबा का ग्रामदान हो, चाहे नेहरू का सामुदायिक विकास की पद्धति हो, इन सबका एक ही तात्पर्य है कि गाँव अपनी सारी आवश्यकताओं के लिए अपने ऊपर निर्भर हो और शोषण का मार्ग बन्द हो। यही गांधी जी के ग्राम स्वराज्य का मूलमन्त्र है।

गाँवों का पुनर्निर्माण

"अगर गाँव नष्ट हो जाय तो हिन्दुस्तान नष्ट हो जायगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायगा। दुनिया में उसका मिशन ही खतम हो जायगा।"[1]

गांधी जी की योजना में गांवों के पुनर्निर्माण का सर्वप्रथम स्थान है। बिना ग्राम निर्माण के भारत का विकास संभव नहीं है ऐसा गांधी जी का विश्वास था। इसी संदर्भ में गांधीजी ने गाँवों के पुनर्निर्माण के

१. हरिजन २९–८–'३६

सम्बन्ध में अपनी योजना प्रस्तुत की है। गाँधी जी प्रत्येक गाँव को आदर्श गाँव बनाना चाहते थे। प्रत्येक गाँव एक सम्पूर्ण इकाई हो, और वह हमेशा अधिकतम स्वावलम्बन की ओर बढ़ने का प्रयास करे। आर्थिक संगठन के साथ-साथ गाँधी जी राजनीतिक संगठन का भी विकेन्द्रीकरण चाहते थे। इसी सिलसिले में उन्होंने ग्राम पंचायत की योजना प्रस्तुत की जिसमें प्रत्येक गाँव अपना शासन स्वयं करेगा। गाँधी जी ने गाँव संगठन के बारे में कहा है, "मेरी कल्पना की ग्राम इकाई मजबूत होगी। मेरी कल्पना के गांव में १००० आदमी होंगे। ऐसे गाँव को अगर स्वावलम्बन के आधार पर अच्छी तरह संगठित किया जाय, तो वह बहुत कुछ कर सकता है।"[1]

ग्राम स्वराज्य की कल्पना प्रेम और पड़ोसी की सेवा की भावना पर आधारित है। सभी व्यक्ति सहयोग से काम करेंगे। अपने पड़ोसी को बिना नुकसान पहुँचाये अपनी व्यवस्था करना ही सच्चा धर्म है।

प्रत्येक गाँव का यह पहला कर्तव्य होगा कि वह अपनी, जरूरत को अनाज एवं कपड़े की पूरी व्यवस्था खुद कर ले। इसके बाद जो जमीन बचे उसे गाँव के जानवरों के चरने एवं खेल-कूद के मैदान के लिए छोड़ देना चाहिए। इसके उपरान्त यदि जमीन बचती है तो उसमें ऐसी चीजों का उत्पादन किया जाना चाहिए जिससे अर्थोपार्जन किया जा सके। उसे बेच कर अन्य आवश्यकता की चीजों को खरीदने की व्यवस्था करनी चाहिए। गाँधी जी गाँजा, तम्बाकू आदि बुरी चीजों का उत्पादन करने का पूरा विरोध करते थे।

सांस्कृतिक जीवन के बिना जीवन नीरस हो जाता है। अतः प्रत्येक गांव में नाट्यशाला एवं अन्य मनोरंजन की व्यवस्था होनी चाहिए। गांव के लोग आपस में बैठकर विचार विमर्श कर सकें इसके लिए एक सभा भवन की व्यवस्था एक आदर्श गांव के लिए आवश्यक है।

स्वास्थ्य रक्षा के लिए पानी की सुन्दर व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए सामर्थ के अनुसार वाटर वर्क्स की व्यवस्था होनी चाहिए। कुआँ, तालाब की सुन्दर व्यवस्था जहाँ तक संभव हो की जानी चाहिए।

---

१. हरिजन ४-८-'४६

गांधी जी प्रारम्भ से ही अस्पृश्यता के विरोधी थे। अतः गाँव की व्यवस्था में सबको समान रूप से अधिकार मिलना चाहिए। गाँव में कोई भी व्यक्ति ऊँचा या नीचा नहीं होगा। गांधी जी ने अपने जीवन का बड़ा हिस्सा अस्पृश्यता निवारण के काम में ही बिताया। जाति-पाँत की भावना ही विकास के काम में सबसे बड़ी बाधक है। अतः प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था में बिना भेद भाव के सबको समान सुविधा मिलनी चाहिए।

गांधी जी के जीवन में स्वच्छता का बहुत बड़ा स्थान था। वे स्वच्छ गांव की रचना करना चाहते थे। उनकी सफाई की व्यवस्था में आर्थिक तथ्य छिपा हुआ था। गाँव की सारी गन्दगी को खाद के रूप में परिणति करके उसके उपयोग करने की योजना गांधी जी ने प्रस्तुत की। टट्टी, पेशाब एवं अन्य प्रकार की गन्दगी को खाद बनाकर उसका उपयोग करना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध करके दिखा दिया। टट्टी, पेशाब एवं अन्य गन्दे सामानों के खाद बनाने से उसका उपयोग भी होगा और गाँव में स्वच्छता भी कायम रहेगी। भारत में गाँवों की सफाई की समस्या काफी जटिल है। भारत जैसे गरीब देश में सफाई के साथ-साथ उसका खाद के रूप में उपयोग की योजना गांधी जी की देन है। परन्तु सफाई शुद्ध करने की बात भी गांधी जी ने कही। भंगी मुक्ति आन्दोलन उन्होंने चलाया और कहा कि जब हम गन्दगी करते हैं तो स्वयं ही उसे साफ भी करना चाहिए। समाज में सब बराबर हैं इसीलिए सभी काम सबको करना चाहिए।

स्वास्थ्य की व्यवस्था प्रत्येक गाँव में अच्छी तरह होनी चाहिए। इसके लिए गांधी जी ने दवा की कम से कम सहायता लेकर प्राकृतिक चिकित्सा और अन्य भारतीय दवाओं की व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की। गांधी जी कुदरती इलाज पर पूरा विश्वास करते थे। वे पश्चिमी डाक्टरी दवाओं का अधिकतम बहिष्कार करने के पक्ष में थे। उन्होंने लिखा है, "देहातियों के लिए, मेरी कल्पना के नैसर्गिक उपचार का मतलब यह है कि उन्हें देहात में जितना देहाती साधन मिल सके उससे बिजली और बरफ की मदद के बिना जितना उपचार किया जा सके उतना ही किया जाय"[1]। इस प्रकार गांधी जी ने स्वास्थ्य व आरोग्य के मामले में भी गाँव को

१—हरिजन सेवक, ११-८-४६।

अधिकतम स्वावलम्बन की ओर बढ़ने की योजना दी। इसके लिए गांधी जी प्राकृतिक चिकित्सा का पूरा विकास करना चाहते थे।

भारत में शिक्षा किस ढंग की होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में गांधी जी ने कहा है, "हमारे देश की आबोहवा में विलायती ढंग की इमारतें आवश्यक नहीं हैं, न प्रधानतया ग्रामीण वातावरण में पले हुए हमारे बच्चों को उस शिक्षा की ही जरूरत है, जो खास कर शहरी वायुमंडल में पले हुए अंग्रेज बच्चों के लिए आवश्यक है।"[1] इस प्रकार गाँधी जी भारत में पाश्चात्य ढंग की शिक्षा के प्रसार के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने भारत के लिए नयी शिक्षा पद्धति की योजना प्रस्तुत की जिसे उन्होंने 'नयी तालीम' या बुनियादी शिक्षा के नाम से पुकारा। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलंबन की शिक्षा दी जायगी। काम के साथ-साथ शिक्षण की व्यवस्था होगी। इस शिक्षा में प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई उद्योग अवश्य सीखना होगा, जिससे कि वह अपनी जीविका स्वयं चला सके। इसमें उच्च शिक्षा की भी व्यवस्था होगी परन्तु प्राथमिक शिक्षा सबको गाँव में ही प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। शिक्षा के साथ स्वावलंबन इसका मूल उद्देश्य होगा।

ग्राम-यातायात के सम्बन्ध में भी गाँधी जी के विचार वर्तमान आधुनिक विचार से भिन्न थे। उनकी दृष्टि से सघन एवं रचनात्मक कार्य करने के लिए तेज चलने वाले यातायात से मंदगति के यातायात अधिक लाभप्रद हैं। कुछ हद तक यह विचार ठीक भी है क्योंकि पैदल, बैलगाड़ी आदि से ग्रामीणों से अधिक घनिष्ट संपर्क होगा। अतः गाँव के आपसी व्यवहार के काम में ग्रामीण यातायात लाभप्रद होगा। पर इसका अर्थ यह नहीं हैं कि गाँधीजी रेल, मोटर हवाई जहाज आदि के विरोधी थे। इन साधनों का उपयोग होगा, पर सीमित मात्रा में। वे गाँव का धन अधिक से अधिक गाँव में ही रखना चाहते थे। इसीलिए सारी व्यवस्था ऐसी हो जिसमें कम-से-कम धन गांव से बाहर जाय।

ग्राम पंचायत की कल्पना भारत के लिए नयी नहीं है। प्राचीन काल से ही भारतीय ग्राम व्यवस्था पंचायती व्यवस्था पर आधारित थी। परन्तु बीच में अंग्रेजों के आने पर यह व्यवस्था समाप्त हो गयी। गांधी जी ने इस पंचायती व्यवस्था को पुनः चालू करने की योजना प्रस्तुत की। इस

१—हिन्दी नवजीवन ११-७-'२६

पंचायती व्यवस्था में शासन व्यवस्था एक पिरामिड की भाँति होगी। जिसकी जड़ काफी मजबूत होगी। शासन का मूल गाँव में ही केन्द्रित होगा।

इस पंचायती व्यवस्था में ग्रामवासी स्वयं अपनी व्यवस्था के लिए समिति गठित करेंगे जिसमें गाँव के ही अधिकारी गण होंगे। यह पंचायत गाँव की सारी व्यवस्था की देख-रेख करेगी। पूरा इन्तजाम ग्राम पंचायत के माध्यम से ही होगा। आर्थिक व्यवस्था भी पंचायत के अधीन होगी। ग्रामोद्योग एवं अन्य प्रकार के उद्योगों की व्यवस्था पंचायत की विभिन्न समितियों द्वारा होगी।

ग्राम पंचायत पूर्ण स्वशासित स्वतंत्र संगठन होगी। न्याय की साधारण व्यवस्था पंचायत करेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि पंचायत के ऊपर कोई शासन नहीं होगा। पंचायत के ऊपर क्षेत्रिय संगठन होगा। उसके ऊपर जिला परिषद, तदुपरान्त राज्य एवं केन्द्र की शासन व्यवस्था होगी। परन्तु गाँव का अधिकांश काम ग्राम पंचायत द्वारा ही प्रतिपादित होगा। राज्य एवं केन्द्रीय शासन के पास कम से कम काम रखने का प्रयास किया जायगा। अतः सत्ता का अधिकतम विकेन्द्रीकरण किया जायगा। कुछ सीमित राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय कार्य ही केन्द्रीय स्तर का शासन होगा। पंचायती राज के बारे में गांधी जी ने कहा है, "हिन्दुस्तान के सच्चे लोक राज्य में शासन की इकाई गाँव में होगा। अगर एक गाँव भी पंचायत राज्य चाहता है जिसे अंग्रेजी में 'रिपब्लिक' कहते हैं तो कोई रोक नहीं सकता। सच्चा लोक राज्य केन्द्र में बैठे हुए बीस आदमियों से नहीं चल सकता है। उसे हर गाँव के लोगों को नीचे से चलाना होगा।"[1]

इस प्रकार गांधी जी का पूरा विश्वास था कि सच्चा लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जबकि सच्चे अर्थ में यह 'लोक' अर्थात् जनता के द्वारा चलाया जायगा भारत में ऐसे शासन का कुछ प्रयास किया जा रहा है।

समाज संगठन के लिए दण्डालय का होना आवश्यक है। बिना दण्डालय के समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चलाना सम्भव नहीं होता है। समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य रहते हैं जो कि समाज की व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा कर देते हैं। उनके लिए दण्ड एवं प्रतिबन्ध लगाने की

१—हरिजन सेवक १८-१-४८

उचित व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। आज तक इस काम के लिए हिंसा से काम लिया जाता है। गांधी जी ने इसके लिए अहिंसात्मक सेना बनाने की योजना प्रस्तुत की। प्रत्येक गाँव में कुछ शान्ति सैनिक होंगे जो गाँव की रक्षा अहिंसात्मक ढंग से करने का काम करेंगे। ये सैनिक शान्तिमय ढंग से सभी समस्याओं एवं अव्यवस्थाओं को सुलझाने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार ग्राम रक्षादल होगा। इसी प्रकार का शान्ति सैनिक संगठन बड़े पैमाने पर भी हो सकता है।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद गाँव की व्यवस्था एवं सरकार के बीच कैसा सम्बन्ध होगा इस सम्बन्ध में गांधी जी के विचार समन्वयात्मक हैं। वे गाँव के उद्योगों और सरकार के काम में समन्वय स्थापित करने की बात करते हैं। सरकार गाँव में चलनेवाले सभी उद्योगों खेती एवं अन्य व्यवस्था को सहायता एवं संरक्षण देगी। गाँव में जो उद्योगों चलेंगे उनका तैयार माल की जो कि गाँव के उपयोग से अधिक होगा उसके व्यापार की व्यवस्था सरकार करेगी। सरकार ग्रामोद्योग सम्बन्धी संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करेगी और उनकी सलाह पर सभी प्रकार की सहायता करने का प्रयास करेगी। अन्तिम रूप से सरकार गाँव की व्यवस्था की देख-रेख करेगी। गाँव में तेल, घानी, खली, खादी, हाथ कुटा चावल, साबुन उद्योग, ताड़-गुड़, हाथ कागज आदि चीजें बनायी जा सकती हैं। सरकार इनके विकास के लिए नवीन तकनीकी व्यवस्था करेगी।

मानव-शक्ति संयोजन

भारत में आज मानव-शक्ति के संयोजन की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि इसके अभाव में मानव शक्ति का समुचित उपयोग ही नहीं हो पाता। कहते हैं कि भारत में जनसंख्या बढ़ रही है इससे देश में गरीबी और दरिद्रता बढ़ रही है। जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए कहा जाता है तथा इसके लिए परिवार नियोजन का कार्यक्रम चलाया जा रहा है। किन्तु गरीबी और दरिद्रता का क्या कारण है, जनसंख्या बढ़ने का क्या कारण है, इस पर विचार नहीं किया जाता। कारण पर विचार करना चाहिए तथा इसको दूर करना चाहिए। गरीबी और दरिद्रता का कारण काम का अभाव है, बेकारी, बेरोजगारी है। जनसंख्या बढ़ने का कारण गरीबी और दरिद्रता ही है। गरीबी और दरिद्रता में घी, दूध

आदि पौष्टिक पदार्थ नहीं मिलते। हल्का और सूखा अन्न मिलता है; क्षुधा शान्त नहीं होती। अनेक बार भोजन की इच्छा होती है। प्रायः देखा जाता है कि धनिकों की सन्तान नहीं होती अथवा कम होती हैं और गरीबों की सन्तानें अधिक हैं। प्रोटीन युक्त भोजन और जन्म दर में एक सम्बन्ध ढूँढ़ने का प्रयास हुआ है। कहा जाता है कि प्रोटीन की अधिक मात्रा लेने वाले लोगों को बच्चे कम होते हैं। अतः गरीबों की खुराक यदि ठीक हो तो जनसंख्या की वृद्धि की समस्या स्वयं सुलझ जाय।

इस समस्या के समाधान हेतु हमें पाश्चात्य देशों में प्रचलित विधियों के सन्दर्भ में भी सोचना पड़ता है, किन्तु साथ ही यह भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि प्रत्येक कार्य पर वहाँ की जलवायु का व स्थिति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। कोई सिद्धान्त शीतल प्रदेश के लिए उपयोगी परन्तु शुष्क प्रदेशों के लिए व्यर्थ होगा। इसी प्रकार इस समस्या का निराकरण भिन्न-भिन्न जलवायु में पृथक-पृथक विधियों से होगा। हमें अपनी समस्या के निराकरण के लिए पाश्चात्य देशों का अनुकरण करने पर सफलता नहीं मिलेगी। अतः विदेशी दृष्टिकोण छोड़कर अपना देशी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा जनसंख्याविदों ने जनसंख्यात्मक सिद्धान्तों की रचना करते समय भौतिक साधनों को एक ओर; मनुष्य को दूसरी ओर रख कर विचार किया। आज भारत में यही स्थिति है। हमें उसके नियोजन में वैज्ञानिक बुद्धि का प्रयोग अपनी सांस्कृतिक परम्परा की उपेक्षा करके नहीं करना चाहिये। भारतीय जनसंख्या पर लोक संस्कारों का भी प्रभाव पड़ता है। हमारी संस्कृति में सन्तानोत्पत्ति एक संस्कार माना जाता है। परन्तु आज औद्योगिक विचारधारा ऐसा नहीं है। इसकी एक अपनी भिन्न-सी व्यवस्था तथा विचार धारा है।

कार्यशील आयु १८ से ६५ वर्ष तक मानी जाती है। इसकी व्याख्या यह है कि श्रमिक को आठ घण्टे काम मिलना चाहिए इस आठ घण्टे के काम में उसे इतना पारिश्रमिक मिलना चाहिये कि उसका पूरा निर्वाह हो सके। स्थिति यह है कि एक रोजगार कार्यशील आयु, काम के घण्टे तथा पारिश्रमिक बड़े-बड़े उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिकों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं हैं। उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं हैं। उद्योगों का काम अनेक विभागों में विभक्त होता है। अनेक प्रकार का काम होता है। रात-दिन उद्योगों में श्रमिक लगे रहते हैं।

यह आठ घण्टों का काम कभी-कभी श्रमिक की संस्कृति के भी विपरीत होता है। सांस्कृतिक विचार के अतिरिक्त शारीरिक आधार के दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होता है कि यंत्रों पर एक जैसी शारीरिक स्थिति बनाये रखकर आठ घण्टे काम करना होता है। झुक कर खड़े-खड़े या बैठे-बैठे अविरल इतने समय तक प्रतिदिन काम करते रहने से उसकी शारीरिक आवयविक रचना विकृत हो जाती है। कभ-कभी यन्त्रों के साथ काम करते समय दुर्घटनावश अंग-भंग भी हो जाता है। यन्त्रों की तीव्र ध्वनि और कोलाहल से मानसिक सन्तुलन अधिक समय तक बना नहीं रहता। अमेरिका में इन दिनों युवकों में मानसिक रुग्णता प्रचुर मात्र में देखी जा रही है। वहाँ के चिकित्सकों ने इसका कारण यन्त्रों की भीषण ध्वनि बतलाया है। बम्बई, कलकत्ते के बड़े-बड़े यन्त्रोद्योगों के श्रमिक अपनी जीवनी शक्ति क्षीण कर अपने घर आते हैं। रात्रि में यन्त्रों पर काम करते-करते जागरण होता है। दिन में दुर्गन्ध युक्त, वायु, प्रकाश रहित कोलाहल पूर्ण वातावरण के संकीर्ण कमरों में उसे विश्राम नहीं मिलता। वह प्रतिक्षण अपनी शारीरिक क्षमता को क्षीण करता रहता है।

एक दूसरा पहलू यन्त्रोद्योगों के प्रभाव का यह है कि यह मनुष्य की मनुष्यता का अपहरण करता है। वहाँ काम मुख्य है। जो जितना अधिक काम करता है उतनी ही अधिक उन्नति उसकी वहाँ होती है। इसलिए मनुष्यता नाम की वस्तु वहाँ रह नहीं जाती। यन्त्रोद्योगों का प्रभाव सर्वाङ्गीण रूप से भी पड़ता है क्योंकि उद्योगों का काम मनुष्य में हीनता की भावना उत्पन्न करता है। छोटे-बड़े अनेक प्रकार के अनेक काम छोटे-बड़े की भावना तथा हीनता की भावना उत्पन्न करते हैं। यन्त्रोद्योगों के काम में आनन्द नहीं मिलना। यन्त्र के द्वारा शरीर को किसी एक स्थिति में बनाये रखकर एक वस्तु का एक अंश अपरिमित मात्रा में निर्माण किया जाता है, उसमें आनन्द कहाँ? तब मन बहलाने के लिए श्रमिक को अन्यत्र जाना पड़ता है। आनन्द और सुख आवश्यक है इसलिए काम ऐसा होना चाहिए जिसमें सुख-आनन्द मिले। दाम और सम्मान मिले। तब उत्पादन बढ़ेगा, मनुष्यत्व विकसित होगा। ऐसे कामों के साधन, प्रकार और उपकरण कैसे हों? यही नियोजन आवश्यक है।

विज्ञान और टेकनालाजी हमें भौतिक वाद की ओर बहुत दूर ले जा है, हमारी भारतीय संस्कृति और हमारी परम्परा के संस्कार इससे बहुत भिन्न हैं। अमेरिका का विज्ञान और टेकनालाजी उसके लिए चिन्ता

का विषय बन रहा है, इससे शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण हो रही है, विवेक-शक्ति नष्ट हो रही है, पारस्परिक प्रमाद बढ़ रहे हैं। हमें अपने देश में मानव शक्ति का संयोजन करते समय इन सब बातों पर विवेक पूर्वक विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि—

कार्य ऐसा हो

(१) जो सांस्कृतिक कार्य के विपरीत न हो। वर्तमान समय में कारखाने में कार्य करनेवाले व्यक्ति के कार्य एवं सांस्कृतिक कार्य में कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(२) जिससे मनुष्यता की समाप्ति न हो।

(३) जिससे श्रमिक में अपने प्रति हीन भावना न आवे।

(४) कार्य उसको नष्ट करने वाला नहीं बल्कि उसके निर्माण के लिए हो।

(५) जिससे शारीरिक क्षीणता या टेढ़ापन न आने पावे तथा मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन न बिगड़ने पावे।

(६) जिसमें मनोरंजन, आनन्द एवं संस्कृति का पुनः समावेश हो।

(७) जिसमें कई घण्टे तक कार्य करनेवाला परेशान न हो।

(८) जिसमें काम के साथ प्रतिष्ठा और सम्मान मिले।

जब उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया जायगा तभी उत्पादन बढ़ेगा। मनुष्यत्व को विकसित करने के लिए प्रतिष्ठा आवश्यक है। अतः काम में मानव-प्रतिष्ठा का ध्यान रखना यही मानव-शक्ति-संयोजन का मूल है।

कार्य का प्रकार क्या हो ?

(१) आज मनुष्य एक ओर और मनुष्यता दूसरी ओर है। मनुष्यता का विकास समाप्त हो रहा है। विज्ञान और टेक्नालोजी बढ़ती जा रही है, परिणामस्वरूप भौतिक जीवन में गड़बड़ी आती जा रही है। मनुष्य और मनुष्यता के बीच वाले अन्तर को मिटाने वाला कार्य करना है। अमेरिका में विज्ञान और टेक्नालोजी की निरन्तर उन्नति हो रही है परन्तु वहाँ के लोग चिन्तित हैं क्योंकि डाक्टरों ने कह दिया है कि कुछ वर्षों में अमेरिका की आधी जनसंख्या पागल हो जायगी। इसका कारण

यह है कि विशाल मशीनों की गड़गड़ाहट से मानव-मस्तिष्क की कोमल तन्त्रिकायें प्रभावित होती हैं तथा निष्क्रिय हो जाती हैं, मनुष्य को उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार वह अपना शरीर खोने के पहले ही अपना मस्तिष्क खो बैठता है। दिन-प्रति-दिन ऐन्द्रीय अपराध बढ़ते जाते हैं। गर्भाधान एवं विवाह जैसे पवित्रतम मानव संस्कार वहाँ रोग हो गये हैं। तलाक की समस्या वहाँ बढ़ती जाती है। मानसिक सन्तुलन विकृत हो जाने के कारण मोटर-दुर्घटनाएँ अधिक होती जा रही हैं। समय-समय पर मनोवैज्ञानिक डाक्टरों से राय लेनी पड़ती है। अतः हमें अपने संयोजन में यह ध्यान रखना है कि कहीं समाज से ही मनुष्य न निकल जाय तथा कार्य का साधन एवं प्रकार उसकी शक्ति और मानसिक तन्त्रिकाओं के अनुकूल न हो।

२—वर्तमान काल में प्रचलित कार्य के साधन ठीक नहीं हैं। कार्य करने में मनुष्य को आनन्द नहीं मिलता क्योंकि श्रम विभाजन से जीवन भर वह एक ही प्रकार का कार्य करता रह जाता है जैसे जूते के कारखाने का कोई मजदूर अपने सम्पूर्ण जीवन भर जूते का तल्ला रगड़ता रहा, कोई फीते के लिए छेद ही करता रहा। इसी प्रकार कोई दूसरे कारखाने में आलपीन की टोपी ही बनाता रहा। तात्पर्य यह कि श्रम में सभी इन्द्रियों का प्रयोग नहीं होता। कुछेक इन्द्रियाँ ही कार्यशील रहती हैं शेष निष्क्रिय हो जाती हैं।

३—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन, उत्पादक उपभोक्ता तथा स्वामी में व्यक्तित्व का कोई विकास नहीं होता। यन्त्रोद्योग द्वारा निर्मित वस्तु का बनाने वाला कौन है यही निश्चित नहीं रहता है। एक यन्त्र पर उसका एक भाग और दूसरे तथा तीसरे पर शेष भाग इस प्रकार अनेक यन्त्रों द्वारा एक वस्तु बनती है। आरम्भ से अन्त तक उसके क्या-क्या रूप रूपान्तर हुए इससे एक दूसरे को कोई प्रयोजन नहीं। इस प्रकार उत्पादन और उत्पादक में कोई सम्बन्ध नहीं। उत्पादक की भावना का उत्पादन में कोई समावेश नहीं। उत्पादक और उपभोक्ता का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। अमुक वस्तु किस व्यक्ति के उपभोग के लिए बनाई गई है, तथा उसका बनाने वाला कौन व्यक्ति है, यह ज्ञान एक दूसरे को होता नहीं तथा उत्पादन के स्वामी तथा उत्पादन, उत्पादक तथा उपभोक्ता का परस्पर एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। यन्त्रोद्योग द्वारा कौन वस्तु बनाई गई, उसका कौन उत्पादक है तथा कौन उपभोक्ता है इन सबसे उसके स्वामी को कोई

प्रयोजन नहीं। इस प्रकार एक दूसरे के अस्तित्व का कोई कदर नहीं मिलता। वह लाभ के लिए होता है। इससे शोषण बढ़ता है।

४—इससे भिन्न अन्य साम्यवादी या समाजवादी अर्थ व्यवस्था में उपयोग सब कुछ ज्यों का त्यों रहता है। वर्तमान लाभ का उद्देश्य बदल जाता है। उपभोग के लिए उत्पादन होता है। इसलिए कि शेष बातें ज्यों की त्यों हैं यह व्यवस्था भी हमारी अच्छी नहीं कही जा सकती।

५—एक अन्य व्यवस्था जिसमें 'लोगों के लिए उत्पादन' हो उत्पादक और उपभोक्ता के परस्पर व्यक्तित्व का विकास होता है, प्रतिष्ठात्मक सम्बन्ध होता है। इसलिए उसके संयोजन की ओर हमें पूरा ध्यान रखना है। सबको काम मिले, दाम मिले, प्रतिष्ठा मिले और आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक समता मिले, इस प्रकार का संयोजन करना है। आज कृषक और श्रमिक की उत्पादन में कोई प्रतिष्ठा नहीं। उसके श्रम द्वारा उत्पादित कृषि उपज पर सबका जीवन आधारित है, किन्तु उसका और उसके श्रम का कोई सम्मान नहीं। यह तब सम्भव होगा जब संयोजन इनके अनुकूल होगा। श्रम से ही सामाजिक समता सम्भव है इसलिए शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा समाज में आवश्यक है।

६—उत्पादन और उत्पादक कार्यों का संयोजन इस प्रकार करना होगा कि काम मनुष्य की शारीरिक शक्ति के अनुकूल हो। वह जो काम करे उसमें उसकी शारीरिक आवश्यकता रचना का सहज हो। शारीरिक और मानसिक शक्ति स्थिर रह सके। जीवन-शक्ति बनी रहे। वह काम उसकी मानसिक क्षमता के अनुकूल हो। उसे सहज ज्ञान हो सके कि उत्पादन, साधन और उपकरण क्या-क्या हैं, उनकी गतिविधि किस प्रकार है? उत्पादन कैसा है? वह उसकी आर्थिक शक्ति के अन्तर्गत हो। उत्पादन के साधन-उपकरण वह अपनी सहज आर्थिक स्थिति से जुटा सके। यह लघु-उद्योग में सम्भव है। अपनी शारीरिक, पारिवारिक श्रम शक्ति, बौद्धिक शक्ति और आर्थिक शक्ति के आधार पर अपने उपभोग के लिए उत्पादन होगा। तब उसमें कार्यक्षमता बढ़ेगी, शारीरिक, मानसिक शक्ति बढ़ेगी और उत्पादन बढ़ेगा। वह उसकी इच्छा के अनुरूप होगा। इसमें लोग लगेंगे। छोटे, बड़े, वृद्ध तथा महिला सबको काम मिलेगा, सम्मान मिलेगा, उसको उत्पादन में प्रतिष्ठा मिलेगी। इससे घर में, सबके सहयोग

वातावरण में किया गया काम आनन्द और सुखपूर्वक होता है। उसमें संस्कार होता है। शरीर स्वस्थ रहता है। मानसिक सन्तुलन रहता है। कार्य-क्षमता बढ़ती है। प्रत्येक की क्रय-शक्ति के अन्दर होता है इससे स्वावलम्बन आता है तथा बेकारी और बेरोजगारी मिटती है, स्वाभिमान आता है। लोकतन्त्रात्मक संयोजन का तात्पर्य है, सबके लिए संयोजन।

मानव शक्ति के आदर्श संयोजन के लिए कार्य के प्रकार के साथ एक और भी विचारणीय बात है टेकनालाजी का प्रकार। हमारे संयोजन में लघु उद्योग होंगे जिन्हें हम लघु उद्योग न कहकर गृह उद्योग कहेंगे। इन उद्योगों की सारी सामग्री आर्थिक शक्ति के अनुरूप हो ताकि प्रत्येक उनका स्वामित्व प्राप्त कर सके। बड़ी मशीनें, मूल्यवान साधनों द्वारा यह नहीं सम्भव है। अतः हमें बड़ी मशीनों को अपने संयोजन में नहीं रखना है ताकि मशीन और मनुष्य में प्रतिद्वन्दिता न हो। हमारे संयोजन का साधन छोटी मशीनें हों जिनसे कार्यक्षमता वृद्धि के साथ-साथ स्वाध्य भी बढ़े। अतः बड़ी मशीनों के फार्मूलों के अनुसार छोटी मशीनें बनायी जायें जिससे कार्य के साथ-साथ मनोरंजन भी होता रहे। जापान में श्रमिकों का मनोरंजन कार्य बदल कर ही किया जाता है।

प्रश्न उठता है कि क्या छोटी मशीनें बड़ी वैज्ञानिक मशीनों के बराबर काम कर सकेंगी। प्रत्यक्ष रूप में यही मालूम होगा कि बड़ी मशीनों से हमें अधिक लाभ है परन्तु यदि ध्यान एवं सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मशीनों से हानियाँ ही अधिक हैं। उदाहरण के लिए मशीन से पिसे आटे को लें - यह आटा विटामिन रहित है, पैसा दिया, आटा कम मिला, डाक्टर का बिल बना। यदि यही आटा घर की छोटी चक्की में पीसा जाय तो अनेक लाभ हैं—आटे का विटामिन बचा रहे, शारीरिक श्रम करने से शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहे, प्रातःकाल शीघ्र उठने की आदत पड़े। आटा जो कम मिलता है और जो पैसा देना पड़ता है वह बच जाय। साथ ही साथ विटामिन पूर्ण आटे के प्रयोग एवं शारीरिक श्रम के कारण स्वास्थ्य ठीक रहे और डाक्टर का बिल समाप्त हो। इसी प्रकार सूक्ष्म निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि मशीन से कार्य करने पर शरीर शीघ्र ही अस्वस्थ तथा क्षीण हो जाता है। अमेरिका में लगभग ५० लाख

व्यक्ति ऐसे हैं जो श्रम करने योग्य नहीं हैं उनको पेन्शन मिलती है। परन्तु ये पेन्शन भोगी अपने स्वाभिमान एवं पुरुषार्थ से हीन हो पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं, इस प्रकार बड़ी मशीनें हमारे लिए ठीक नहीं होंगी। यह ठीक है कि यातायात के लिए हमें बड़ी मशीनों आदि का प्रयोग करना होगा क्योंकि यह हमारे लिए हितकारी होगी।

मजदूर को स्वामी में बदल कर उसमें स्वाभिमान लायेंगे। उनके संरक्षण हेतु कानून की आवश्यकता न होगी। इस प्रकार उपभोक्ता वर्ग को तब तक कष्ट सहना पड़ेगा जब तक वे स्वयं उत्पादक बन स्वावलम्बी न हो जायँ।

इससे सबको घर में काम मिलेगा। परिवार स्वावलम्बी होंगे ग्राम स्वावलम्बी होगा। क्षेत्र, राज्य एवं अन्त में देश स्वावलम्बी होगा।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली भी दोषपूर्ण है। यह हमें वास्तविक जीवन से अलग ले जा रही है। हमारी शिक्षा दिल, दिमाग तथा शरीर का समग्र विकास करनेवाली हो। शारीरिक श्रम को घृणा करने वाली नहीं, प्रत्युत उसे गले लगाने वाली हो ताकि हमारे मजदूर को प्रतिष्ठा मिले। आज पढ़े-लिखे व्यक्ति या तो स्वयं ही शारीरिक श्रम से घृणा करते हैं नहीं तो समाज उन्हें घृणा करने के लिए प्रेरित करता है। अतः जब शिक्षा का अर्थ शारीरिक श्रम से प्रेम होगा तभी हमारा संयोजन सफल होगा। परावलम्बन से उत्पादन करने में छीना-झपटी व लूट की प्रवृत्ति आती है परन्तु स्वावलम्बन या परस्परावलम्बन से, सबको समान साधन एवं अनुकूलता प्रदान करके समाज का समग्र विकास होगा।

मनुष्य के संस्कारों को विकसित करना होगा उसे आत्मसंयमी बनाने के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना होगा। आदमी को भूखा रख कर, उत्तेजित पदार्थों का सेवन करा कर उससे आत्म संयम की आशा दुराशा मात्र होगी। उसे पौष्टिक भोजन देना होगा ताकि वह आनन्द का अनुभव करे। वह वर्तमान समय में अपने दर्द को एवं अपनी स्थिति को भुलाने के लिए शराब पीता एवं व्यभिचार करता है इनको रोकने के लिए उसे पौष्टिक भोजन देना होगा।

आज संतति-निग्रह के लिए योजनायें चल रही हैं वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग हो रहे हैं। संतति-निग्रह करने से नहीं आत्मसंयम से कार्य

होगा। आज का सारा विचार वैज्ञानिक युग में अवैज्ञानिक है। आज की औद्योगिक शिक्षा का ग्रामों में प्रवेश नहीं है। हमें अपने संयोजन में यह ध्यान रखना होगा कि हमारा देश वैज्ञानिक होते हुए भी मानवतावादी है। हमारे यहाँ की वैज्ञानिक बुद्धि भी मानवता से ओत-प्रोत है। भौतिकता की चरम सीमा पर पहुँच कर भी हमें सुख नहीं है। आज विश्व फिर भारतीय प्राचीनता को अपना रहा है। हमें अपने संयोजन में इन्हीं संस्कारों के आधार पर कार्य करना है। हमारी अधकचरी विचारधारा के कारण ही हमारी योजनायें विफल होती हैं। अतः हमें पुष्ट विचारधारा अपनानी है।

टेकनिकल कालेज पूँजी पतियों के लाभार्थ नहीं वरन् सर्व सामान्य के लिए सर्व सुलभ हों। सर्व सामान्य के लिए सुलभ होने पर ही शोषण समाप्त होगा। अतः ऐसी टेकनॉलॉजी से हानि नहीं होगी। हमें सबको उत्पादक बनाना है। आज हमने सोचने का भार दूसरों पर डाल रखा है। परन्तु लोकतान्त्रिक युग में हम सब लोगों को अपने कार्यों अपने निष्कर्षों के आधार पर विचार करना होगा। एक स्थान पर बँध कर पानी भी गन्दा हो जाता है तो हमारे शरीर के लिए एक कार्य से बँधकर दूषित होना असम्भव नहीं। अब हमें शरीर के साथ दिमाग का प्रयोग करना होगा। किसी कार्य में मनुष्य केवल शरीर ही नहीं दिल-दिमाग का भी प्रयोग करे। वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर एक फैक्टरी के बाद दूसरी फैक्टरी आती है। हम स्वास्थ्य के लिए नहीं स्वाद के लिए उपभोग करते हैं। इस चित्त वृत्ति को हमें बदलना है तभी हमारा संयोजन सफल होगा। हमें स्वयं चिन्तन करना होगा।

सहकारिता

प्रत्येक कार्य में व्यवस्था का प्रमुख स्थान है। उस कार्य की सफलता या विफलता व्यवस्था पर आधारित होती है। समूचे संसार में व्यवस्था के भिन्न-भिन्न रूप अपनाये गये और अपनाये जा रहे हैं। व्यवस्था की पद्धति प्राचीन काल में राजतन्त्रीय थी। इसमें राजा स्वेच्छा से सम्पूर्ण कार्य का संचालन करता था। वह प्रजा के हित में कार्य करता था। कृषि आदि कार्यों में सहायता तथा प्रजा रक्षण वह अपना कर्त्तव्य समझता था। शनैः-शनैः प्राचीन राजाओं की सन्तति में भोग-विलास की लिप्सा

बढ़ने लगीं। इस स्थिति ने उन्हें प्रजा शोषण हेतु प्रेरित किया। शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप क्रान्ति हुई और राजतन्त्र समाप्त हुआ।

कालान्तर में औद्योगिक क्रान्ति का आविर्भाव हुआ। पूँजीवादी पद्धति प्रचलित की गई। यूरोप और अमेरिका में पूँजीवाद का प्रभुत्व रहा। पूँजीवादी पद्धति में पूँजी और श्रम के सम्बन्ध का स्वरूप मालिक और मजदूर के रूप में प्रकट हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था में बड़े-बड़े उद्योगों का निर्माण किया गया। इन विशाल उद्योगों पर सामान्य जनता का अधिकार नहीं हो पाया। अल्पसंख्यक पूँजीपति वर्ग का इन उद्योगों पर स्वामित्व रहा। साधन सम्पन्न अल्प-संख्यक पूँजीपति वर्ग मालिक हुआ और साधन-विहीन जन समूह मजदूर वर्ग कहलाया। प्राचीन प्रचलित राजतन्त्रीय राजा-प्रजा का सम्बन्ध पूँजीवादी व्यवस्था में मालिक-मजदूर के सम्बन्ध में परिवर्तित हुआ। वास्तविक उत्पादक मजदूर वर्ग के श्रम का लाभ मालिक के रूप में प्रतिष्ठित पूँजीपति वर्ग उठाने लगा। अपनी दुर्बलता के परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग उचित प्रतिफल प्राप्त करने में असमर्थ रहा। पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर के श्रम का शोषण हुआ। श्रम और पूँजी में समन्वय नहीं लाया जा सका। श्रमिक और धनिक के बीच कलह बढ़ता रहा।

तदुपरान्त मार्क्सवाद का उदय हुआ। मार्क्स ने जनता को साम्यवादी विचारधारा का दर्शन दिया। इससे क्रान्ति प्रस्फुटित हुई तथा श्रम को स्थान मिला। श्रम द्वारा साम्य स्थापित करने का प्रयास किया जाने लगा। इस पद्धति में राजतन्त्र को श्रमवाद अथवा साम्यवाद के आधार पर खड़ा किया गया तथा पूँजी को उसके अनुरूप बनाया गया। साम्यवादी व्यवस्था पद्धति व्यवहृत हुई। इसमें मालिक और मजदूर का भेद नहीं रखा गया। किन्तु मालिक का स्थान मैनेजर ने लिया। इस व्यवस्था के प्रति भी जनसमूह में असन्तोष की वृद्धि हुई। क्योंकि समता का दर्शन होने के उपरान्त भी साम्यवाद का व्यवस्थापक वर्ग को श्रेष्ठ-ज्येष्ठ मानने लगा। साम्यवाद द्वारा भी समन्वय नहीं हो पाया। इस व्यवस्था से भी जनता घबराने लगी।

पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों श्रम से शान्तिमय सम्बन्ध नहीं बना सके, क्योंकि इन दोनों की दिशा एक ही रही। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों ही भौतिकवादी रहे। यूरोप और अमेरिका का पूँजीवाद भी भौतिक समाधान, भौतिक उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहा तथा इसी दिशा में मार्क्स

का साम्यवाद भी उससे कहीं अधिक भौतिक उन्नयन के लिये कटिबद्ध रहा। पूंजीवाद और साम्यवाद का उद्देश्य इनकी निष्ठा भौतिकवाद में समाहित रही। अन्ततः दोनों ही श्रम के साथ समन्वय नहीं कर सके। एक अन्य व्यवस्था पद्धति अपनाई गई। यह है सहकारी व्यवस्था पद्धति। इसका उद्देश्य है कि मालिक और मजदूर तथा व्यवस्थापक या मैनेजर और मजदूर साथ-साथ चलें। दोनों में सहकार हो। इस पद्धति में पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों का सम्मिश्रण है। इसके द्वारा पूर्व प्रचलित पद्धतियों के गुण लाने की चेष्टा की गई। किन्तु इससे भी तादात्म्य नहीं लाया जा सका।

इन सबके उपरान्त हमारे समक्ष एक और विकल्प उपस्थित किया गया। यह है लोकतन्त्र। इसमें कोई किसी से छोटा-बड़ा नहीं, मालिक नौकर नहीं, शासक-शासित नहीं। प्रजा स्वयंराजा है, यह मान्यता राजनैतिक रूप से प्राप्त की गई। लोकतन्त्र के द्वारा आर्थिक जीवन की वर्ग-व्यवस्था समाप्त कर दी गई। लोकतन्त्र ने राजनैतिक रूप से राजा और प्रजा को मिला दिया, जो प्रजा है वही राजा है।

सहकारी व्यवस्था पद्धति के द्वारा यह प्रयास किया गया कि इससे राजा-प्रजा, मालिक-मजदूर, व्यवस्थापक-मजदूर इन सबको एक में मिलाया जा सके। पूँजीवादी व्यवस्था में मालिक अधिक लाभ की आकांक्षा से मजदूरों से अधिक उत्पादन की अपेक्षा रखता था। इससे मजदूर का शोषण होता था। साम्यवादी व्यवस्था में राजतन्त्र श्रमिक के आधीन रखा गया। व्यवस्थापक और मजदूर एक साथ काम करते थे। इसमें समानता का लक्ष्य था। सहकारिता ने इन दोनों पद्धतियों के गुण को अपनाया। किन्तु इससे भी तादात्म्य नहीं लाया जा सकता। एक साथ रखे हुए कपूर एवं हींग के समान साथ-साथ काम करने पर भी भिन्न ही रहे। यह तादात्म्य कैसे लाया जा सकेगा?

'अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यता के आधार पर जीवन का माप, इस जीवन-दर्शन को सामाजिक समता, कल्याण और न्याय का आधार बनाने के लिए पूंजीवाद ने प्रयास किया। किन्तु उसके स्थान पर 'दूसरे को नोंच कर अपना पेट पालन करो' यह दर्शन पूँजीवाद का प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट हुआ। इससे शोषण की वृद्धि हुई। परिणामतः आर्थिक साम्राज्यवाद का दर्शन समाप्त हुआ तथा 'जीओ और जीने दो' यह दर्शन, सह-अस्तित्व का दर्शन आया। साम्यवादी व्यवस्था में आर्थिक

रूप से सबको आत्म-विकास की स्वतन्त्रता है किन्तु विजयी वही होगा जो अधिकतम शक्ति-सम्पन्न होगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि औरों का शोषण कर सकने वाला ही विजयी होगा। यह दर्शन मानवता का दर्शन नहीं है तथापि दुनिया इसके पीछे उसी प्रकार चली जिस प्रकार हरे चारे के पीछे पशु चलता है। पूँजीवादी और साम्यवादी विचारों के मध्य से सहकारिता का जन्म हुआ। सहकारिता का जीवन-दर्शन पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच से निकला। पूँजीवाद और साम्यवाद में जो निष्ठा-भौतिकता की थी वह इसमें बनी रही तथा श्रम, पूँजी और व्यवस्थापक में तादात्म्य नहीं आया। सहकारिता के असफल होने का यही कारण है। मनुष्य मनुष्य में तादात्म्य कैसे हो यह कोई दर्शन बता नहीं सका। बीच बीच में समाजवाद भी आता-जाता रहा किन्तु उसका कोई दर्शन नहीं। उसका कोई वास्तविक रूप दिखाई नहीं देता। उसको भिन्न-भिन्न नामों से चलाया जा रहा है। सत्ता-सम्पत्ति और शस्त्र मनुष्य अपने लिए चाहता है। यह मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न करता है। मानव-जीवन दर्शन 'औरों के लिए जीवन' है। भौतिकवाद इसके विपरीत है। भौतिकवादी लोकतन्त्रवाद और भौतिकवादी साम्यवाद सफल नहीं है। पूँजीवाद, साम्यवाद और तथा कथित समाजवाद ये तीनों भौतिकता और मानवजीवन दर्शन में तादात्म्य नहीं ला सके। अध्यात्म और विज्ञान में समन्वय नहीं लाया जा सका। यद्यपि भौतिकवादी भी इसे अपना जीवन-दर्शन बतलाते हैं किन्तु उनके व्यवहार में कुछ और है। अतः अध्यात्म और विज्ञान में तादात्म्य लाना होगा। तब सफलता मिलेगी। यह कैसे होगा? सहकार कैसे आवे यह बतानेवाली कौन सी व्यवस्था है? समाज से वर्ग विभिन्नता समाप्त हो जाय। हींग और कपूर के समान पृथक् अस्तित्व रखनेवाले विगलित होकर एक में मिल जायँ। पृथकत्व एकत्व में समाहित हो जाय। या सब करने का कारण क्या हो? हमारी असफलताओं के मूल में यह है कि हम अपने 'स्व' को अपने में बैठाये हुए हैं। हम दूसरे के लिए जियें, दूसरे के लिये यदि जीना हमारे सामाजिक-व्यावहारिक जीवन में आ जाय तभी उपर्युक्त प्रश्न का हल समझना चाहिए।

मनुष्य का मस्तिष्क विचारों के आकार में बना हुआ है। आधुनिक युग मनोविज्ञान एवं रसायन शास्त्र का युग है। मनुष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न

और प्रतिकूल विचारधाराएँ एक दूसरे विचारों के अनुकूल और प्रतिकूल प्रवाहित होती रहती हैं। मनुष्य का स्वयं से संघर्ष चलता रहता है। मनुष्य प्रकृति का प्राणी है। प्राकृतिक अनुकूलता और प्रतिकूलता से ही उसे चलना होता है। इस प्रकार मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष चलता रहता है। मनुष्य एक समाज के अन्तर्गत है। एक दूसरे का एक दूसरे से सम्बन्ध है। इसलिए मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष चलता रहता है। इस प्रकार मनुष्य का स्वयं से संघर्ष, मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष और मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष कैसे मिटेगा है? यह सामाजिक परिवर्तन से अथवा परिस्थिति के बदलने से नहीं बदलेगा। यह मनुष्य को बदलने से मिटेगा। मनुष्य को बदलने की प्रक्रिया बदलना है। यह काम सहकार से होगा। सहकार की भावना लानी होगी। मानव-जीवन दर्शन अपनाना होगा।

वह कौन-सा स्थान है जहाँ प्राणी मुक्त होकर बैठता है? जहाँ मनुष्य को मनुष्यत्व मिलता है? वह स्थान है—परिवार। मनुष्य के मनुष्यत्व का दर्शन उसके परिवार में होता है। कुटुम्ब में वह विकसित होता है। औरों के लिये जीवन की भावना वहाँ होती है। न केवल मनुष्य किन्तु अन्य, हिंसक पशु-पक्षी में भी यह भावना जन्मजात होती है। एक हिंसक सिंह भी अपनी सिंहनी और बच्चों को प्यार करता है। वह अपने परिवार में 'औरों के लिए जीवन' का दर्शन देता है। पारिवारिक भावना में परिवार का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के लिये होता है। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र सब एक दूसरे के लिए जीते हैं। उनका समस्त जीवन परिवार में निहित होता है। व्यावसायिक बुद्धि वहाँ नहीं होती। अतः हमें संस्कार पुनर्स्थापित करना है। संस्कारों को नष्ट कर हम निर्माण नहीं कर पा रहे हैं। पारिवारिक जीवन में 'स्व' की अपेक्षा 'पर' की मनोवृत्ति अधिक होती है। परिवार के विच्छिन्न हो जाने से सहकारी जीवन टूट रहा है। हमें सहकारिता में पारिवारिक जीवन रखना है। सहकारिता की सफलता पारिवारिक जीवन दर्शन से होगी। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार बदलना होगा। सब क्षेत्रों में पारिवारीकरण करना होगा। पारिवारीकरण को मनुष्य को केन्द्र-बिन्दु मान कर परिवार का ग्राम्यीकरण करना होगा। आज गाँवों के सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हैं। इन्हें जोड़ना होगा।

किन्तु यह शासन और कानून से नहीं होगा। शासन और कानून मानवता और मानव सम्बन्ध की व्यवस्था नहीं कर सकता। मानव-दर्शन गाँव में लाना होगा। इसके लिए हमें सहकारिता अपनाना है। यह तय करना है कि किस प्रकार इसका प्रयोग किया जाय। सहकारिता का जन्म भौतिकता की कोख से हुआ। किन्तु हमें विचार करना है कि अब इसका पालन-पोषण कहाँ हो?

सहकारिता, इंग्लैण्ड में उस समय चलाई गई जब वहाँ उत्पादकों की मनमानी बढ़ी। मनमाने ढंग से उत्पादन और मूल्य बढ़ने लगे। इस मनमानी को समाप्त करने के लिए वहाँ 'उपभोक्ता सहकारी समितियाँ' चलाई गईं। उनके अनुसार उत्पादन होने लगा। वे जिस वस्तु का आदेश देती थीं वही बनाई जाती थीं। किन्तु रुचि अलग-अलग होने लगी। परिणाम यह हुआ कि वहाँ 'उपभोक्ता सहकारी समितियाँ' चल नहीं सकीं।

जर्मनी, इटली और फ्रांस में 'सहकारी साख समितियाँ' बनाई गईं किन्तु पूँजीवाद के कारण वे चलाई नहीं जा सकीं।

भारत में सहकारिता सफल नहीं हुई। इसे सरकारी तन्त्र महाजन एवं संचालकों ने नहीं पनपने दिया। शासकीय कर्मचारी तथा गाँव के प्रमुख व्यक्ति ने इसे चलने नहीं दिया। पुराने समय में गाँव के बड़े आदमी ने अपने परिवार के लोगों को सदस्य बना कर सहकारी समिति बना ली। इस प्रकार नकली सहकारी समितियाँ बनने लगीं तथा सहकारिता आन्दोलन कागज के फूल जैसा, सुगन्ध और स्पन्दन रहित रहा।

भारत में कोआपरेटिव फारमिंग सोसाइटी भी चलाने का प्रयत्न किया गया। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ होती हैं। काश्तकारी की सहकारी समिति में भूमि लेकर लोग उस पर कृषि करते हैं। इस भूमि पर समिति का स्वामित्व होता है व्यक्ति का नहीं होता। एक उद्देशीय सहकारी कृषि में किसी एक काम के लिए सहकारी समिति बना ली जाती है। बहुउद्देशीय सहकारी कृषि बनाई जाती है। इसमें व्यक्ति का स्वामित्व बना रहता है। सामूहिक सहकारी कृषि में पूरे गाँव की भूमि पर गाँव का स्वामित्व होता है। राजकीय सामूहिक सहकारी कृषि ग्रामसभा स्तर पर काम करती है। आज भी ये दोनों समितियाँ रूस में चलाई जा रही हैं। यदि सामुदायिक सहकारी कृषि

समितियाँ भारत में चलाई जा सकें तो उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। भूमि पर स्वामित्व बना रह सकता है। इसके द्वारा श्रमिक को काम मिलेगा। सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र तथा स्वयं उद्यम क्षेत्र को प्रोत्साहन मिलेगा तथा बेकारी मिटेगी।

खेती की सहकारिता का प्रयोग पहले रूस में हुआ। यहाँ सामूहिक सहकारी कृषि चलाई गई। तदन्तर यहूदियों के देश इजराइल में सहकारिता चलाइ गई। उन्होंने भूमि का पट्टा लिया। तथा सामूहिक जीवन क्रम के आधार पर काम किया। जैसे-जैसे परिवार बढ़ता गया उसके अनुसार नियमों में परिवर्तन किया। उनका प्रयोग सफलता से चल रहा है। इजराइल के यहूदी सम्पूर्ण योरोप में फैले थे। आत्म सम्मान की भावना से उन्हें प्रेरणा मिली सहकारी समिति बनी जिसमें सब एक साथ काम करते थे एक साथ खाते व पढ़ते थे। अलग-अलग परिवार नहीं थे। बाद में झगड़ा शुरू हुआ। रुचि के भेद से रूप बदला। गुणात्मक विकास के लिए उन्होंने परिवार की आवश्यकता समझी या मशीन जैसे व्यवहार बदल कर परिवारिक वातावरण में आया। अब विचारणीय बात यह है कि जब यह व्यवस्था इजराइल जैसे पथरीली भूमि में लाभ पहुँचा सकती है तो भारत जैसे उपजाऊ भूमि वाले देश में यह क्यों सफल न होगी। हमें इस कार्य में जल्दी नहीं करनी है, शनैः शनैः ग्राम वासियों को समझ कर उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाकर यह कार्य करना है। उसके शरीर में परिवार में प्रकट होने वाला कोमल हृदय रखना है। परिवारों के ढंग पर ग्रामीकरण करना होगा। सम्पूर्ण ग्राम एक परिवार हो। शनैः शनैः इस प्रक्रिया से हृदय परिवर्तन करना है तभी कोई व्यक्ति सहकारिता के सिद्धान्तों को स्वीकार करेगा। सहकारिता हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया है ढाँचा नहीं है। सहकारिता एक निर्जिव ढाँचा है जिसमें जान डालने एवं उस जान के प्रयोग करने की आवश्यकता है। हमें भावना बदलना है। उपभोक्ता सहकारि समिति न कह कर उत्पादक समितियाँ कहें।

भूदान आन्दोलन यज्ञ है जिसमें भौतिक वस्तुओं का समर्पण किया जाता है। भूमि वाला भूमिदान दे, सम्पत्ति वाला सम्पत्ति दान दें, साधन दान, बुद्धिदान, श्रमदान और कुछ भी न होने पर जीवनदान दें। इन दानों से सहकारिता का मञ्च तैयार हो जायगा। शहर का प्रयोग ग्रामीण लाभ के लिए हो। ग्राम नगरों की कालोनी न होकर

स्वतन्त्र हों। ग्रामों की उन्नति एवं विकास के लिए स्वतः प्रयास करें मानवता का सम्बन्ध हो। तभी भेद रूप विघ्न का सहकार की पावन गंगा के रूप में बहेगा। तन, मन तथा धन की ये तीनों धाराएँ शुद्ध रूप से बहेंगी। यही सहकारिता है।

वर्तमान सहकारी समितियाँ नकली हैं जो दुर्व्यवस्था एवं पूँजीवाद का शोषण कराने में सहायता देती हैं। हमें इनको तोड़ना होगा तथा नवीन वास्तविक ढाँचे को प्राण देना होगा, पलायनवादिता एवं निराशा को छोड़ कर ही यह किया जा सकता है।

सहकारिता हमारे देश में ग्रामीकरण और पारिवारीकरण से सफल बनाई जा सकती है। शिक्षण द्वारा यह जनता को समझना होगा। शिक्षा द्वारा क्रान्ति की यह प्रक्रिया है। सहकारिता को हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया बनाना होगा। सहकारिता आन्दोलन की भूमिका शुद्ध करना होगा। समर्पण की पारिवारिक भावना से सहकार करें। भूमि, साधन और सम्पत्ति द्वारा बुद्धि और श्रम के सामूहिक प्रयोग से सहकारी योजना बनायें। पारिवारिक भावना से मानव-दर्शन विकसित होगा। प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिता सफल होगी।

गाँधी-वचन

किसान

अगर भारत को शान्तिपूर्वक सच्ची तरक्की करनी है तो पैसे वाले यह समझें कि किसानों में भी आत्मा है। वर्तमान समय में धनिकों की शान और फजूलखर्ची और किसानों की गरीबी के बीच कोई शृंखला नहीं है। मैं जमींदारों और अन्य पूंजीपतियों के विचार अहिंसक रीति से बदलने की आशा रखता हूँ। इस समय तो सबसे पहली रियायत किसानों या भूमिहीन मजदूरों को मिलनी चाहिए। किसानों को शहर के कृत्रिम जीवन और लकदक के मोह में नहीं पड़ना चाहिए। उसकी सादगी सरलता ही उसका भूषण है।

× × ×

पंचायत

पंचायत राज के बारे में मेरा विचार है कि वह पूर्णतः गणतंत्र है। पंचायत की व्यवस्था में हर गाँव स्वावलम्बी और स्वतन्त्र होना चाहिए। पंचायत राज के अन्तर्गत सभी क्रियाशीलतायें सहकारी पद्धति पर आधारित होनी चाहिए। पंचायत के मातहत हमारे गाँव बड़े-बड़े काम कर सकते हैं। पंचायत के आधार पर होने पर किसान खुशहाल होंगे। उनमें स्वावलम्बन का मात्रा अधिक आयेगा। गाँववालों का उद्धार तो पंचायत राज के द्वारा ही हो सकता है।

× × ×

संस्थायें

सार्वजनिक संस्थाओं का काम उधार के रुपये से नहीं चलाना चाहिए। परन्तु लम्बी जमा-रकमों के सूद पर चलनेवाली संस्था भी स्वेच्छाचारिणी बन जाती है। अपने अनुभव के आधार पर मेरा यह विश्वास बन गया है कि सार्वजनिक संस्थाओं का संचालन स्थायी कोषों के आधार पर नहीं होना चाहिए। संस्थायें संगठन की माध्यम होती हैं। जिस किसी में सार्वजनिक सेवा की भावना हो उसे संस्था के निर्माण और नियमों से परिचित हो जाना चाहिए। व्यक्तिगत कार्य की अपेक्षा संस्थागत कार्य अधिक इसलिए पसन्द किया जाता है कि वह एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे पुरुषों के हाथ में गया तो निरन्तर प्रगति करता जाता है।

दशम-परिच्छेद

मनुष्य तथा व्यवसाय

मनुष्य अपने विकास और सुख के लिए कोई न कोई कार्य करता है। इन्हें आर्थिक एवं भौतिक कार्य कहते हैं। इनकी प्राप्ति में उसकी तीन भूमिकायें होती हैं। पहली भूमिका निर्माता की होती है। दूसरी भूमिका उपभोक्ता की होती है। तीसरी भूमिका दर्शक की होती है। निर्माण के विज्ञान और यन्त्रीकरण का विशेष योग आज के युग में है। ऐसा माना जाता है कि यन्त्रों के प्रयोग और विकास में अधिकतर बुद्धि की आवश्यकता होती है। यह बात तो सही है कि बुद्धि का सहारा लेकर मनुष्य ने यन्त्रों का निर्माण किया है। पहले के काल में यह विशेषता थी कि ये मनुष्य की श्रमशक्ति के लिए सहायक थे। इनमें और मनुष्य के श्रम में दुराव नहीं था। मानव श्रम इन यन्त्रों के सहारे वस्तुओं का निर्माण करता है। इस उत्पादक निर्माण के साथ-साथ उसकी श्रमशक्ति का विकास होता है और इस विकास में उसकी कला पनपती है। जितना ही उसके हाथ इन यन्त्रों के सहारे चलते हैं, उतनी ही उसकी कला और संस्कृति विकसित होती है, वह सभ्य सुसंस्कृत प्राणी बनता है। इस उत्पादन क्रिया में एक मिठास, एकरस का उसे सुख प्राप्त होता है। उत्पादित वस्तु का वह निर्माता बनता है। जितना ही वह निर्माण करता, जितनी वह रचना करता उतना ही वह संयम और शान्ति की ओर बढ़ता है। उसका सम्मान उत्पादक के रूप में बढ़ता है। उसे उस उत्पादक श्रम का वह फल मिलता है और इस उत्पादित वस्तु में इतनी अधिक आत्मीयता हो जाती है कि वह दान के सुख का अनुभव करता है। यही नहीं बल्कि अपने इस उत्पादन को अपने पड़ोसियों में बाँट कर प्रफुल्लित करने के लिए वह तत्पर हो उठता और उसका उत्पादन, देश के लिए, पड़ोसी के लिए होता है। यही कारण था कि गांधी जी ने छोटे-छोटे उद्योगों पर सांस्कृतिक और मानवीय दृष्टिकोण से अधिक बल दिया। अपने कुटुम्ब में, अपने पड़ोसियों के बीच, अपने ग्रामीण वस्तुओं के

मध्य व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार यन्त्रों को निर्मित करके उत्पादन करता है। सभी प्रकार की उत्पादन प्रक्रिया में उसकी आत्मीयता होती है।

यंत्रों का यह स्वरूप धीरे धीरे परिवर्तित हुआ और विशाल यंत्रों का युग आया। पहले के इन यन्त्रों में मनुष्य के श्रम की पर्याप्त आवश्यकता थी परन्तु आज उनकी विशालता में मनुष्य खो गया। मनुष्य उन सब गुणों और शक्तियों से क्षीण होने लगा जो पहले प्रकार के यन्त्रों से प्राप्त थे। इन भारी यन्त्रों से मनुष्य इतना दब गया कि मनुष्य की बुद्धि उसकी चेतनता और कर्मठता, उसकी कला और संस्कृति सब के सब बेकार हो गये। आज तो ऐसी स्थिति हो गयी है कि मनुष्य की बुद्धि इन यन्त्रों के सामने बेकार हो गयी, अकर्मण्य हो गयी। ऐसी स्थिति में मनुष्य की बुद्धि यन्त्रों के आविष्कार में तो आवश्यक होती है परन्तु यन्त्रों के प्रयोग में या कार्य प्रणाली में वह बेकार हो जाती है। यह यन्त्र युग का सबसे बड़ा स्वयं का विरोध है।

आज तो यह विरोध कुछ देशों में और भी उग्र हो गया है। यन्त्र अभिनवीकरण के आन्दोलन द्वारा ऐसा रूप ले रहा है जब कि शनैः-शनैः मनुष्य के श्रम की और मनुष्य की बुद्धि की कम से कम आवश्यकता है। अभिनवीकरण मनुष्य को निर्माता का गौरव नहीं देना चाहता है। यह अवश्य है कि यन्त्र उपभोग की सुलभता प्रदान कर रहा है, परन्तु दूसरी ओर मनुष्य के निर्माण की क्षमता कम करता जा रहा है।

अभी यहीं तक हम नहीं रुके हैं बल्कि (एटोमेशन) स्वचालित यन्त्रों की स्थिति भी हम ले आ रहे हैं। इस स्थिति में मनुष्य की बुद्धि और श्रम की, निर्माण और उत्पादन कार्य में, कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कोई स्थान उत्पादन में नहीं होगा। यह एक भयावह स्थिति होगी इससे निर्माण और उत्पादन की प्रक्रिया में जो मनुष्य के जीवन में उत्कटता और करुणा थी उसका लोप हो जायगा। एक ओर तो मनुष्य की बुद्धि स्वचालित यन्त्रों का निर्माण करके सागर और आकाश तक प्रसरित होगी। दूसरी ओर मनुष्य स्वयं यन्त्र और जड़ बन जायगा। उसकी बन्धुता, करुणा, संवेदना की समाप्ति हो जायगी। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से यन्त्रों द्वारा शरीर से निकट हो जायगा परन्तु मानवता, भावों और विचारों से बहुत

दूर हो जायगा। उसकी निपुणता इतनी अधिक बढ़ जायगी कि ठेस के लिए कोई अवसर नहीं होगा, मनुष्य की आत्मनिर्भरता समाप्त हो जायगी। जितने ही यन्त्र विशाल और उनके उपकरण सूक्ष्म एवं जटिल होते जायँगे उतनी ही विशिष्टता और विशिष्टाधिकारों की महिमा बढ़ेगी, इससे सामान्य मनुष्य की निकृष्टता बढ़ेगी। सामान्य मानव इन आविष्कार और शोध के कारण एक बेकार गुलाम बन कर रह जायगा। उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी।

पहले के यन्त्रों में और आज के यन्त्रों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पहले के यन्त्र सादे और सहज प्रयोजन वाले थे। आज के यन्त्र बहुत ही सूक्ष्म, कठिन तथा एक प्रयोजन वाले हैं। इस प्रकार के यन्त्र और यन्त्रविदों की सत्ता दुनिया में कायम हो रही है। सामान्य मनुष्य जहाँ अन्य प्रकार की सत्ताओं से मुक्ति पाने का प्रयास कर रहा है वहाँ पुनः वह नये प्रकार की सत्ता में बँध कर पूर्ण विलुप्त हो जायगा। जहाँ सामान्य मनुष्य सभी गुणों, शक्तियों, सत्ताओं, सुविधाओं, व्यवस्थाओं आदि को सर्वसुलभ बनाने का उपक्रम कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर यन्त्र की सत्ता थोड़े से यन्त्रविदों द्वारा पुनः कायम होती जा रही है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व की समाप्ति होती जा रही है।

जब कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि [illegible] होने से, [illegible] वह निष्क्रिय हो ही नहीं सकता, कर्मठता मनुष्य का स्वभाव है, ऐसी स्थिति में आज भी मनुष्य यन्त्रों की तलाश में पड़ने को विवश बना रहा है, यह एक विरोधाभास है। यन्त्रों का आविष्कार मानव का दुःख के निराकरण के लिए अनुभव होता है। परन्तु आज हम देखते हैं कि मनुष्य निपुणता का उपक्रम तो होता जा रहा है लेकिन अभाव और दुःख दुनिया से बढ़ते ही जा रहे हैं। ये सब अन्तर्विरोध मानव जीवन में दिखलायी पड़ते हैं। यन्त्र के जिसे भी आकर्षण बढ़ रहा है उसका कारण यह है कि इस में वैभव और सौन्दर्य की आकांक्षा बढ़ती जा रही है। यह सौन्दर्य की आकांक्षा इसलिए बढ़ रही है कि मनुष्य की उत्पादक शक्ति, उसके हाथों से, मुक्त नहीं है और दूसरी ओर व्यापारिक वस्तुओं का अभाव है। इसी से व्यापारिक संसार इस रूप में [illegible] हो गया है और कोई भी [illegible] [illegible] [illegible] स्तरों और उद्योगों की तलाश में है।

होना यह चाहिए कि मानव को [illegible] [illegible] [illegible]

गांधी जी के विचार में मनुष्य ही केन्द्र है। इसलिए उसी को केन्द्र में रखकर तकनिकी प्रगति का स्वरूप निर्धारित होना चाहिए। विशेषीकरण तथा प्रमाणीकरण सबकी यही मर्यादा है कि मनुष्य की विशेषता, उसकी कलात्मक शक्ति, उसकी कर्मठता न समाप्त होने पाये। मनुष्य के काम करने की पद्धति में ही उसकी मनोवृत्ति व सभ्यता झलकती है। इसीलिए इस प्रकार के व्यवसाय एवं यन्त्र होने चाहिए जो मनुष्य की सामान्यतता को बढ़ाये न कि उसे कुण्ठित करे। मनुष्य यन्त्रों से दूर नहीं हो सकता, यन्त्र उसके लिए आवश्यक तो हैं परन्तु उनकी मर्यादा भी है। यन्त्र काम को स्वयं न करने की प्रवृत्ति के कारण भी बढ़ते हैं। यन्त्र काम टालने की प्रवृत्ति के द्योतक होने के साथ-साथ प्रतिष्ठा के लिए भी खोजे जाते हैं। इसीलिए आलस्य और प्रतिष्ठा से जो यन्त्र मनुष्य लाता है वह उसके व्यक्तित्व को क्षीण करता है। वास्तव में होना यह चाहिए कि ये उपकरण हमें कर्मठ बनायें और हमें प्रतिष्ठा प्रदान करें तथा जिस प्रकार से हमारे शरीर की इन्द्रियाँ हैं उसी प्रकार से ये यन्त्र भी हमारे शरीर के सहज अंग बनें। जितने ही यन्त्र सहज होंगे उतने वे हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगे। उपकरण से मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रकाश की आभा प्रगट होती है। इसीलिए मनुष्य के उपकरण के साथ शरीर का समन्वय होना चाहिए। जब उपकरण एवं मनुष्य का इतना सन्निकट का सम्बन्ध है तो यह स्वाभाविक है कि छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों का विकास हो। इसलिए काम से छुटकारा पाने के लिए, वैभव तथा संग्रह की आकांक्षा के लिए, आराम की आकांक्षा के लिए बड़े यन्त्रों को जीवन में दाखिल करना मानवता के और मानवीय व्यक्तित्व के विकास के लिए घातक है। मनुष्य को परिश्रम, व्यायाम शरीर की स्फूर्ति के लिए आवश्यक होगा, नहीं तो मनुष्य की इन्द्रियाँ निर्बल हो जायँगी और यह शरीर भी लुप्त हो जायगा। मनुष्य स्वभाव से श्रमनिष्ठ है। कुसंस्कार के कारण ही वह श्रम से भागना चाहता है। शिक्षण और विचार प्रकाश से उसके अन्दर के कुसंस्कार सहज ही मिट जायेंगे और वह श्रमनिष्ठ, कर्मनिष्ठ की भावना से बराबर आगे बढ़ता रहेगा।

श्रमनिष्ठ होना मनुष्य का स्वभाव तथा प्रकृति है क्योंकि इससे शरीर स्वस्थ तथा आरोग्य रहता है। भारत के सभी ऋषियों ने अपने धार्मिक विचारों में यही तो प्रार्थना की है कि शतम् जीवेत्, स्वस्थ तथा आरोग्य शरीर हो, दीनता तथा दैन्यता न हो। इस प्रकार से धर्म के

सभी कर्म इस भौतिक शरीर को सुव्यवस्थित बनाने के लिए हैं। यही विचार इस विश्व के सभी धर्मों तथा प्राणियों में पाते हैं। मनुष्य जन्म, व्याधि और मृत्यु से सम्बन्धित होता है। इस शरीर को जो धर्म का साधन है स्वस्थ, आरोग्य तथा पुष्ट रखना मनुष्य का प्रथम धर्म है। धर्म तो यही कहता है। जब हम भौतिकवादियों की ओर दृष्टि डालते हैं तो वे भी शरीर को स्वस्थ, सुखी तथा पुष्ट रखना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में धर्म तथा भौतिकता का विरोध समाप्त हो जाता है। परन्तु जो अन्तर्विरोध है वह यह है कि धर्म के द्वारा हम अपने शरीर को संयम के तप से आरोग्य एवं पुष्ट बनाते हैं। भौतिकता केवल भोग से उसे पुष्ट करना चाहती है जो पूर्णतया सम्भव नहीं है। गांधी जी ने प्रथम संयम की महत्ता स्वीकार की है और मनुष्य निर्माता उत्पादक बन कर यह शरीर की आवश्यकतानुसार स्वस्थ उपभोग करे तभी वह आरोग्य एवं स्वस्थ रह सकता है। गांधी जी ने इस शरीर को पवित्र, मंगलमय तथा सत्य का पुंज माना है, इसलिए समस्त जीवमात्र के लिए उनके मन में आदरभाव है। जब हम अपने शरीर तथा सभी प्राणियों के शरीर को आदर प्रदान करते हैं तभी हम सभी प्राणियों के शरीर की पूजा करते हैं और उसे स्वस्थ, आरोग्य रखने के लिए यथा शक्ति प्रयत्न करते हैं। यहीं भौतिक वस्तुओं की छीना झपटी प्रायः समाप्त हो जाती है। अलबर्ट स्वीटजर एक बड़े मानव सेवक माने जाते हैं। उन्होंने जीव मात्र के लिए प्रतिष्ठा, आदर का विचार विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस शरीर को क्षीण नहीं किया जा सकता। इसका वध नहीं किया जा सकता। इसका शोषण नहीं किया जा सकता। इसका अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। यह विश्व की पवित्रतम् विभूति है। इसका रक्षण पोषण सभी का धर्म है। एक मनुष्य अपने शरीर की बलि तथा आहुति दे देता है तो उसकी इसीलिए प्रतिष्ठा होती है कि वह अन्य शरीर को बचाने के लिए यह बलि देता है। यह बलि क्यों? क्योंकि करुणा उसे यह त्याग करने के लिए प्रेरणा देती है। इसीलिए गांधी जी करुणा धर्म त्याग न मान कर 'करुणा' मानते हैं। यही करुणा एक मानव को दूसरे मानव से जोड़ती है। जब मैं मनुष्यमात्र के शरीर को पवित्र मानता हूं तब मानवता का मधुर उपासक बनता हूं। यह सब अहिंसा इस बात की द्योतक है कि मनुष्य स्वयं अपने कर्म का फल भोगता है। यदि वह दुश्चरित्र रहता है तो उसका फल पाता है यदि सच्चरित्र,

अज्ञान तथा विकार के वशीभूत हो जाता है तो बुरा कर्म करता है और उसका दुःख भोगता है। इसलिए मनुष्य को सजग रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह कर्म स्वातन्त्र्य प्राप्त करे। समाज-व्यवस्था, राज्य व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था ऐसी हो कि मनुष्य का उत्तरदायित्व वह स्वयं न लेकर मनुष्य पर ही छोड़े। इससे मनुष्य अनुशासित रहेगा, कर्तव्यनिष्ठ रहेगा, सजग रहेगा तथा अपने कर्म का उत्तरदायित्व वहन करेगा। इस आर्थिक जीवन के लिए वह स्वयं उत्तरदायी हो, स्वयं निर्माता तथा उत्पादक हो।

परन्तु आज मनुष्य ऐसा व्यवहार नहीं कर पाता। इसके मूल में कारण क्या है? यह तो निर्विवाद है कि मनुष्य कर्मनिष्ठ तथा श्रमनिष्ठ है वह आलस्यपूर्ण नहीं है। आलस्य मनुष्य का स्वभाव नहीं है। परन्तु वह जो स्वभाव के विपरीत व्यवहार करता है वह संस्कार जन्य है तथा समय के मूल्यों के दोष के कारण है। समाज में सभी प्रकार का उत्पादन कार्य, श्रम का कार्य अप्रतिष्ठादायक माना जाता है। कुछ कार्य अरुचिकर है, कुछ कार्य गन्दे तथा भारी हैं। कसाई का काम, भंगी का काम अरुचिकर तथा गन्दा है। कारीगर का काम, मजदूर का काम अप्रतिष्ठित है। इसीलिए मनुष्य इन्हें नहीं करना चाहता। कार्य में कष्ट का होना आवश्यक है परन्तु इसके साथ वह रुचिकर भी हो। काम में आनन्द तथा प्रतिष्ठा सभी चाहते हैं। काम, दाम, प्रतिष्ठा तथा आनन्द को एक जगह ला देना बहुत आवश्यक है। गांधी जी ने सारे व्यवसाय में इन्हीं को एक स्थल पर लाने का प्रयास किया है। आज के अर्थशास्त्री इन्हीं तत्वों को कतिपय ढग से लाना चाहते हैं परन्तु सफल नहीं हो पाए। प्रेरणा की समस्या, समता की समस्या अब भी बनी रह गयी। गांधी जी ने सभी व्यवसायों में इसे एक स्थल पर ऐसी खूबी से ला दिया है कि प्रत्येक 'कार्य को पूजा' मानने लगता है। इसीलिए गांधी जी की क्रान्ति पायखाने की स्वच्छता से प्रारम्भ होती है। चूल्हा, चक्की, चर्खा उस क्रान्ति के वाहक बनते हैं। इसीलिए व्यवसाय में तकनीक ऐसी हो जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ कर उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाये। आज भारत ऐसे देश में व्यवसाय को जाति से जोड़ा गया है परन्तु हमें व्यवसाय को संस्कार के साथ जोड़ना चाहिए। यह संस्कार तभी बनेगा जब मनुष्य स्वयं अपने हाथ से अपना सभी कार्य करेगा। जब हम अपना पायखाना साफ करते हैं तो स्वच्छता का संस्कार बनता है। जब हम अपना वस्त्र

[illegible]

व्यवसाय में सत्य की मर्यादा

[illegible]

[illegible]

प्रमाणीकरण या विशेषीकरण व्यवसाय में लाया जाय, उसका आधार मनुष्य का व्यक्तित्व हो। इस व्यक्तित्व के लिए शिक्षण और उपकरण को एक साथ जोड़ना आवश्यक है। इससे व्यवसाय संस्कार के साथ जुड़ेगा यही भौतिक क्रिया का सांस्कृतिक और जीवन स्पर्श का आधार बनेगा इसका सहज परिणाम यह होगा कि मनुष्य की कलात्मक प्रवृत्ति और उद्योग एक साथ पनपेंगे। जीवन और उत्पादन में कोई विच्छेद नहीं होगा।

उत्पादन क्रिया श्रम और यन्त्र तीनों की एक मर्यादा आवश्यक है। शरीर के अस्तित्व के लिए कुछ कष्टदायक, अरुचिकर परिश्रम की नितांत आवश्यकता है। इसलिए परिश्रम को पूर्णरूप से यन्त्र को सौंप देना और पुनः कृत्रिम व्यायाम की खोज करना असामाजिक कार्य है। इससे स्वयं की प्रेरणा क्षीण होती है। ऐसे भी कार्य जिन्हें हम अकुशल कार्य कहते हैं, जिन्हें पशु, गुलाम और सामाजिक रूप से दीन लोगों से कराया जाता है उन्हें भी मनुष्य के जीवन के साथ जोड़ देना चाहिए। ऐसे कार्य जो वैज्ञानिक रूप से यन्त्रों द्वारा सम्भव हो उन्हें यन्त्रों को सौंपा जाय। यन्त्र मनुष्यों को एक दूसरों से जोड़ने में सहायक हो, न कि एक दूसरे के शोषण करने में, अप्रतिष्ठा देने में सहायक हो।

सर्वोदय-अर्थशास्त्र में यन्त्र

वैज्ञानिक युग में यन्त्रों के विषय में सर्वोदय के सन्दर्भ में बहुत भ्रम है। चूँकि इस अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य सभी मनुष्यों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना है इसलिए यन्त्रों की भी मर्यादा है। यन्त्र के कई स्वरूप हैं :—

(१) मारक यन्त्र—इस अर्थशास्त्र में मारक यन्त्रों के लिए कोई स्थान नहीं है। क्योंकि यह दण्ड शक्ति में विश्वास नहीं करता है। अतः संहारक यन्त्रों का इसमें कोई स्थान नहीं है। यह एक प्रकार से इस व्यवस्था में यन्त्रों का विरोध है। आज का हर समझदार व्यक्ति मानता है कि इस प्रकार के यन्त्र समाज के लिए घातक हैं। यह अर्थशास्त्र मानव अर्थशास्त्र होने के कारण यह स्वीकार करता है कि देश की प्राकृतिक शक्ति का दुरुपयोग रुके। इसका प्रयोग मानव के पोषण व रक्षण के लिए होना चाहिए। आजतक यन्त्रों का प्रयोग राजशक्ति ने शोषण व

काम के लिए लिखा है, वह [illegible]

जा सकती।

(२) दूसरे प्रकार के [illegible] ऐतिहासिक [illegible] । [illegible] के लिए [illegible] पहुँचाते हैं। [illegible] कठिन [illegible] लिखने [illegible] [illegible] जाता कि [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] विशेष नहीं है। [illegible] होना चाहिए।

(३) [illegible] के लिए [illegible] है [illegible] है कि [illegible] है। [illegible] होना चाहिए कि [illegible] है। [illegible] के लिए [illegible] है [illegible] होती है। [illegible] है [illegible] है। [illegible] है [illegible] हैं [illegible] हो [illegible] है [illegible] [illegible] होना चाहिए [illegible] :—

(क) [illegible] हो।

(ख) इन यन्त्रों को प्रत्येक व्यक्ति अपनी छोटी क्रयशक्ति से क्रय कर सके। इनका प्रयोग मालिक व मजदूर दोनों कर सकें।

(ग) इन यन्त्रों में यह विशेषता होगी कि अपने घर एवं परिवार के अन्दर ही उन्हें रख कर एक स्वास्थ्यवर्धक वातावरण में कोई व्यक्ति प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार कम से कम खर्चीला, पारिवारिक वातावरण में यह यन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को जीविका का साधन देता है।

(घ) ये यन्त्र ऐसे हों जिनमें काम तथा आनन्द दोनों साथ-साथ हों। अन्य उद्योगों के साथ साथ व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रयोग में लाये जायँगे। ऐसी स्थिति में दोनों साथ साथ चलेंगे। एक कार्य से थकने के बाद व्यक्ति दूसरे कार्य को अवकाश, परिवर्तन या आनन्द के रूप में कर सकेगा। इस प्रकार से हर व्यक्ति का श्रम पूर्णतया प्रयोग में आ सकेगा तथा उत्पादन वृद्धि होगी।

(ङ) ये यन्त्र ऐसे हों जिनसे मनुष्य का शरीर टेढ़ा मेढ़ा न हो सके। मनुष्य के एक ही अवयव को अधिक श्रम के कारण आघात न पहुँचेगा। आज जो शारीरिक तथा मानसिक असंगतियाँ आ जाती हैं वे इन यन्त्रों द्वारा नहीं हो सकेंगी।

(च) मनुष्य काम के साथ-साथ मनोरंजन व सांस्कृतिक विकास भी चाहता है। यह सांस्कृतिक विकास और उसके व्यक्तित्व का विकास काम पर निर्भर करता है। इसलिए इन यन्त्रों द्वारा काम के साथ-साथ मनुष्य का सांस्कृतिक विकास भी होगा।

(छ) मनुष्य जब परावलम्बी होता है तब उसमें न तो स्वाभिमान होता है और न तो उसकी आर्थिक जरूरतों की तृप्ति होती है। अतः यह यन्त्र मनुष्य में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति पैदा करेगा। मनुष्य अपनी जरूरत के लिए अपने ऊपर निर्भर रहेगा और परिणामस्वरूप वह स्वावलम्बी होगा। उसका स्वाभिमान विकसित होगा और आज जो मजदूर व श्रम के जीवन में घृणा है उसका भी निराकरण हो जायगा और एक नये सामाजिक श्रमनिष्ठ समाज का निर्माण होगा। समाज में जो वर्ग व शोषण की भावना, श्रम के प्रति अप्रतिष्ठा है वह दूर होगी।

(ज) इन यन्त्रों से प्रत्येक व्यक्ति को काम व प्रतिष्ठा मिलती है। साथ ही साथ दाम भी मिलता है। अर्थ-व्यवस्था स्वावलम्बन की नींव

[illegible]

[illegible]

* * *

[illegible]

से मनुष्य के भोग विलास तथा एक दूसरे के संहार के लिए होता है। प्राकृतिक सम्पति का सर्वनाश हम करते जा रहे हैं। खादी के अर्थशास्त्र में मि० ग्रेग ने लिखा है, "किसी भी ऐसी संस्कृति को जो लम्बे समय तक टिकना चाहती है, अपनी पूँजी और शक्ति के जमा-खर्च के पलड़े समान रखना सीखना चाहिए, अर्थात् पानी, हवा और सूर्य के अटूट शक्ति-भण्डार में से प्रतिवर्ष जितनी शक्ति प्राप्त हो सके उतनी ही शक्ति व्यय करनी चाहिए।" यन्त्र ने अधिक प्रतिस्पर्धा के उत्पादन से ऐसा कर दिया है कि बाजार में कमजोर, हल्का, नकली, हानिकारक मिलावट की चीजों का बाहुल्य हो गया है। यन्त्रों ने मनुष्य की ज्ञानतंतुओं तथा कार्य-तन्तुओं को निर्बल तथा निर्जीव बना दिया है। मनुष्य में जड़ता आती जा रही है। इसीलिए वह कम्पन के लिए उत्तेजना पूर्ण मद्यपान, सिनेमा वेश्यावृत्ति को अपनाता है। मनुष्य मानसिक रोगों से त्रस्त होता जा रहा है। अधिक से अधिक व्यक्ति मानसिक तथा शारीरिक रूप से अपंग बनते जा रहे हैं।

इसलिए हमें यन्त्रों का प्रयोग अधिक बुद्धिमानी तथा विवेक के साथ मर्यादित ढंग पर करना चाहिए। महात्मा जी ने यन्त्रों की मर्यादा पर विशेष बल दिया है। वे यन्त्रों के विरोधी नहीं, बल्कि उसे मर्यादित करते हैं।

औद्योगीकरण पर गांधी जी के विचार

वर्तमान युग की सबसे बड़ी विशेषता और उसका सबसे स्थूल लक्षण है—यन्त्रों की भरमार और बड़े बड़े विशालकाय कल-कारखाने। वैसे तो अगर इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि हमेशा किसी न किसी रूप में यन्त्रों का उपयोग होता आया है। परन्तु आज जिन प्रकार के यन्त्रों की बात की जाती है वे सूक्ष्म और बड़े बड़े कल कारखानों पर आधारित होते हैं। प्रारम्भ में मोटे एवं सरल यन्त्रों से ही काम चलाया जाता था। पर आज जिस यन्त्र का प्रभाव सारे विश्व पर है वह अधिक से अधिक सौ-दो सौ वर्ष पुराना है। अठारहवीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए और उन आविष्कारों ने उद्योग एवं व्यापार की असामान्य उन्नति की, इसे हम 'औद्योगिक क्रान्ति' के नाम से पुकारते हैं। इस 'औद्योगिक क्रान्ति' ने मशीनों के आविष्कारों

और आर्थिक, सामाजिक और औद्योगिक क्षेत्र में इनके प्रयोग ने पिछले दो सौ वर्षों में सम्पूर्ण संसार का रूप ही बदल दिया है। सर्वत्र, पहले से सर्वथा भिन्न एक नया दृष्टिकोण, नयी योजना, नया ढंग फैल गया है। मानव जाति का इतिहास, उसके आचार-विचार, उसके सिद्धान्त, उसकी भावना धर्म और नीति की कल्पना—सब में परिवर्तन हो गया है। सम्पूर्ण संसार मानो फिर से रचा गया हो। औद्योगीकरण का यह असाधारण स्वरूप का दोनों प्रकार से उपयोग हो सकता है।

अच्छा एवं बुरा। भारत के लिए यह औद्योगीकरण लाभदायक है या हानिप्रद है इसका निर्णय सविवेक से किया जा सकता है। गांधी जी का इस सम्बन्ध में अपना अलग दृष्टिकोण था। उन्होंने मशीन के प्रयोग एवं औद्योगीकरण की एक सीमा मानी। उनके विचार से तो इस प्रकार का औद्योगीकरण भारत के लिए हानिप्रद है। उन्होंने सीमित औद्योगीकरण का विचार रखा।

गांधी जी ने भारत की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् इस बड़े पैमाने के औद्योगीकरण का विरोध किया। भारत जैसे अधिक जनसंख्या और गरीब देश के लिए बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग लाभप्रद नहीं होगा।

औद्योगीकरण में धन का संचय कुछ लोगों में हो जाता है। सारी अर्थव्यवस्था देश के कुछ लोगों द्वारा संचालित होती है। इससे स्वाभाविक है कि समाज में आर्थिक असमानता हो। जब धन का भाग थोड़े कुछ व्यक्ति करेंगे तो उनको प्रलोभन होगा और समाज में असमानता फैलेगी। अतः भारत जैसे गरीब देश के लिए औद्योगीकरण का यह रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता जो कि योरप के लिए स्वीकार किया गया है। गांधी जी के विचार से औद्योगीकरण का यह तरीका किसी भी देश के लिए लाभप्रद नहीं है। गांधी जी आर्थिक संगठन को इस ढंग का बनाना चाहते थे जिससे जनसाधारण को लाभ हो और समाज में अधिक-तम आर्थिक समानता आवे।

औद्योगीकरण में बड़े से बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। इस बड़े पैमाने के उत्पादन से समाज को विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समाज में आर्थिक असमानता उत्पन्न हो जाती है। औद्योगीकरण से उत्पादन केन्द्रित होता है। अतः

कच्चा माल गांव से शहर की ओर जाता है। फलस्वरूप शहरों की वृद्धि और गांवों का ह्रास होता है। इससे ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। गांधी जी ने कहा है, "मैं ऐसी मशीन का स्वागत करूँगा जो झोपड़ों में रहने वाले करोड़ों मनुष्यों के बोझ को हल्का करती है।"[1]

इस बड़े पैमाने के उत्पादन से बेकारी फैलती है। आजतक जो काम ग्रामोद्योग के माध्यम से करते आ रहे थे, वह आज एक निर्जीव कारखाने में तैयार होने लगा। फलस्वरूप सजीव उत्पादक बेकार हो गया। आज अधिक से अधिक काम निर्जीव मशीनों के माध्यम से किया जा रहा है। यही कारण है कि दिन पर दिन बेकारी की समस्या बढ़ रही है। बेकार मनुष्य क्या करे ? उसे खाना कहाँ से मिले यह सबसे बड़ी समस्या हमारे सामने है। जब मनुष्य बेकार रहता है तब उसके मन में खुराफात सूझती है और समाज में अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार फैलता है।

यन्त्रोद्योग के विकास से समाज में अनेक अनावश्यक एवं विलासिता की चीजों का उत्पादन होने लगा। फलस्वरूप मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ गयी हैं। मनुष्य अब मशीनों से बनी चीजों के आकर्षण में आ गया और उसी की पूर्ति करने में अधिक व्यय करने लगा। फलस्वरूप वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति अच्छी प्रकार से न करके पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति में अधिक धन व्यय कर देता है। अगर इस प्रकार से केन्द्रित उत्पादन और यन्त्रोद्योग का विकास नहीं हुआ होता तो यह बुराई नहीं उत्पन्न होती। उस समय विकेन्द्रित ढंग से उत्पादन होता और समाज में समानता कायम रहती।

यन्त्रोद्योग की एक बड़ी बुराई आर्थिक विषमता और वर्ग विद्वेष का विस्तार है। कारखानों में उत्पादन होने से मालिक और मजदूर की भावना का विकास हुआ। मजदूरों का अलग संगठन बना। अतः समाज में एक नये वर्ग का जन्म हुआ। मालिक एवं मजदूर का संघर्ष बढ़ा। इस औद्योगीकरण से ही हड़ताल, तालाबन्दी आदि की समस्या सामने आयी।

---

१. यंग इंडिया २३–३–'२१

औद्योगीकरण से सामंजस्य का ह्रास हुआ। फलस्वरूप लोगों में रचनात्मक प्रवृत्ति एवं स्वाभिमान का लोप हो रहा है। आज उत्पादन का काम नीरस हो गया है। मशीन के द्वारा मजदूर कोई खास एक ही चीज का एक ही हिस्से की वस्तु का उत्पादन करता रहता है। उदाहरण स्वरूप जूते को ले सकते हैं। बड़े बड़े कारखानों में एक व्यक्ति जूते का एक हिस्सा ही अच्छी तरह बनाना जानता है। वह मजदूर उसी हिस्से का उत्पादन करता है। अतः उसमें नीरसता आ जाती है। आज उत्पादन करने वाले और उपभोग करने वाले में कोई सम्पर्क नहीं रह गया है। कारखानों में उत्पादन होता पर उसका उपभोग कौन कहां और किस प्रकार करेगा पता नहीं। कोई वस्तु अमेरिका में बनती पर उसका उपभोग भारत में आसानी से किया जाता है, अतः आज उत्पादक एवं उपभोक्ता में सम्बन्ध नहीं है।

औद्योगीकरण के मूल में व्यापार का भाव छिपा रहता है। इस औद्योगीकरण से अधिक उत्पादन होगा। फलस्वरूप इसके लिए बाजार की खोज होगी और व्यापार की होड़ में युद्ध एवं साम्राज्यवाद का उदय होगा। आज सभी देश स्वतन्त्र हो रहे हैं सभी देश कम से कम आयात एवं अधिक से अधिक निर्यात करना चाहते हैं, ऐसी दशा में समस्या के समाधान का एक ही रास्ता है कि हम उतना ही उत्पादन करें जितनी हमारी आवश्यकता हो।

गांधी जी यन्त्रोपयोग की सर्वथा निन्दा नहीं करते थे। कुछ बड़ी बड़ी एवं विशेष वस्तुओं का उत्पादन ही केन्द्रित एवं औद्योगीकरण के माध्यम से होना चाहिए। जैसे बिजली, पानी की व्यवस्था, रेल, डाक, यातायात, जहाज एवं अन्य बड़ी बड़ी चीजों का उत्पादन केन्द्रित ढंग से किया जा सकता है।

गांधी जी के उद्योगवाद सम्बन्धी विचार का विकास क्रमशः हुआ है। सबसे पहले इस सम्बन्ध में गांधी जी के विचार १९०८ में शुरू हुए। १९२० तक गांधी जी मशीनों के प्रयोग के पूर्ण विरुद्ध थे, परन्तु १९२४ में उनके विचारों में परिवर्तन हुआ। बाद में सीमित क्षेत्र में मशीनों के उपयोग के पक्ष में हो गये। साधारणतः कहा जाता है कि गांधी जी बिजली के उपयोग के विरोधी थे, पर यह गलत विचार है। उन्होंने कहा है "कौन कहता है ! अगर हम बिजली को गांव-गांव और गांव के भी हर घर में पहुंचा सकें, तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं

है कि गांव के लोग अपने औजारों को बिजली से चलायें। लेकिन इस हालत में बिजलीघर की मालिकी राज्य की अथवा ग्रामवासियों की होनी चाहिए"।[१]

नये नये आविष्कारों के सम्बन्ध में गांधी जी का विचार था, "मैं ऐसे हर एक आविष्कार का स्वागत करूँगा जिससे सबका लाभ सिद्ध होता है। लेकिन आविष्कार आविष्कार में फर्क है। मैं हजारों आदमियों को एक साथ ही मारने का सामर्थ्य रखने वाले जहरीली गैस का स्वागत तो नहीं कर सकता"।[२]

गांधी जी बड़े उद्योगों पर राज्य या समाज का अधिकार मानते थे। इस सम्बन्ध में वे समाजवादी विचारधारा के समीप थे। उन्होंने बड़े उद्योगों के नाम नहीं गिनाये हैं पर साधारणतः कहा जा सकता है कि वे उद्योग जो छोटे पैमाने पर नहीं चलाये जा सकते उन्हें केन्द्रित एवं बड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है। उन्होंने कहा है, "भारी उद्योग स्वभावतः केन्द्रित होंगे और उन पर राष्ट्र की मालिकी होगी। लेकिन ये सब उद्योग गांवों में चलने वाले विशाल राष्ट्रीय प्रवृत्ति के एक अंशमात्र होंगे"।[3]

गांधी जी सम्पूर्ण औद्योगीकरण के साथ स्वामित्व विसर्जन की बात करते हैं। वे किसी को सम्पत्ति की मालिकी नहीं देना चाहते हैं। उद्योग चलाने वाले केवल उसका संरक्षक (ट्रस्टी) मात्र ही अपने को समझें। इस प्रकार गांधी जी ने उद्योग का विकास भारतीय परिस्थिति को सामने रख कर करने का प्रयास किया है।

स्वदेशी और ग्रामोद्योग

स्वदेशी और ग्रामोद्योग का विचार गांधी जी के आर्थिक ढांचे की आधारशिला है। स्वदेशी और ग्रामोद्योग दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। गांधी जी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्वदेशी पर अधिक बल दिया था। साधारणतः हम स्वदेशी को संकुचित अर्थ में समझते हैं। परन्तु गांधी जी

---

१. हरिजन, २२-६-'३५
२. हरिजन, २२-६-'३५
३. कन्स्ट्रक्टिव्ह प्रोग्राम (१९४१) पृ० ८

ने स्वदेशी का काफी विस्तृत अर्थ लिया है। उन्होंने स्वदेशी की परिभाषा निम्न लिखित शब्दों में की है, "जो वस्तु करोड़ों आदमियों के हितों का संवर्धन करती हो, भले उसमें लगी पूंजी और कौशल विदेशी हों, वह स्वदेशी है। अलबत्ता वह पूंजी और कौशल भारतीय नियन्त्रण के अधीन होना चाहिए।"[1]

स्वदेशी के विचार में सबसे पड़ोसी की सेवा की भावना निहित है। स्वदेशी धर्म के पालन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम विदेशी लोगों से घृणा करें। गांधी जी तो मानव मात्र की सेवा की बात करते थे। स्वदेशी का सच्चा उपासक कभी भी विदेशी से घृणा नहीं कर सकता है। कोई चीज विदेशी है इसलिए उसका बहिष्कार नहीं करना चाहिए। परन्तु उन सब विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार किया जाय जिनके आयात से तत्सम्बन्धित स्वदेशी हितों को नुकसान पहुंचने की सम्भावना हो। जो वस्तुएँ अपने देश में हों उन्हें बाहर से नहीं मंगाना चाहिए। पर जो वस्तुएँ अपने देश में नहीं हैं उनको मंगाना स्वदेशी के अन्तर्गत आता है। गांधी जी ने कहा है, "किसी भी चीज को स्वदेशी तभी कहा जा सकता है जब कि वह सिद्ध हो जाय कि वह जन समुदाय के लिए हितकारी है और उसमें काम करने वाले मालिक और मजदूर दोनों हिन्दुस्तानी हैं।"[2]

गांधी जी स्वदेशी को किसी भी देश के लिए अनिवार्य मानते थे। सभी देश को स्वदेशी धर्म का पालन करना चाहिए। हम देखते हैं कि सभी देश अधिकतम निर्यात और न्यूनतम आयात करना चाहते हैं। इस आयात निर्यात के सिद्धान्त में पूंजीवाद और शोषण की भावना छिपी है। परन्तु गांधी जी स्वदेशी के विचार को विश्वव्यापी भावना से देखते थे। उन्होंने कहा है, "स्वदेशी एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है। स्वदेशी की उपेक्षा के परिणाम स्वरूप मनुष्य जाति में सर्वविध दुःख होता है। स्वदेशी का अर्थ है अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में किया जाय और उन्हीं का वितरण और उपयोग

---

१. हरिजन सेवक, १०–१०–३६

२. हरिजन सेवक, १०–१०–३६

किया जाय।"[1] इस प्रकार गांधी जी की स्वदेशी भावना शुद्ध एवं मानव कल्याण पर आधारित है।

ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार गांधी अर्थ व्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप है। गांधी जी ने भारतीय परिस्थिति को सामने रख कर ग्रामोद्योग का विचार रखा है। सन् १६२० के लगभग भारत में जितने कपड़े का उपभोग किया जाता था, उसका आधा विदेश से आता था। परन्तु पूरी आवश्यकता भर कपड़ा भारत में नहीं आता था। भारत में पर्याप्त मात्रा में कपास का उत्पादन होता था परन्तु उसका पक्का माल विदेश में जाकर तैयार होता था। इससे भारत का शोषण बढ़ गया था। गांधी जी ने भारतीय अर्थ व्यवस्था का गम्भीर अध्ययन किया और उसके बाद खादी ग्रामोद्योग का विचार देश के सामने रखा। १६०८ में गांधी जी के मन में खादी अर्थात् चरखा का विचार आया। तब से जीवन पर्यन्त इसके प्रचार में लगे रहे। गांधी जी ने खादी ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में कहा है, "खादी का मूल उद्देश्य प्रत्येक गांव को अपने भोजन एवं कपड़े में स्वावलम्बी बनाना है।"[2] अर्थात् प्रत्येक गांव भोजन और वस्त्र के मामले में पूर्ण स्वावलम्बी हो। इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर ले।

भारत के करोड़ों लोगों को काम देने के लिए एक मात्र साधन खादी और ग्रामोद्योग है। यहाँ पर एक भ्रामक प्रश्न उठता है कि क्या गाँधी जी विज्ञान से दूर हटते थे ? क्या वे मशीन के प्रयोग का विरोध करते थे ? उत्तर में कहा जा सकता है कि गाँधी जी न तो विज्ञान का विरोध करते थे और न मशीन के प्रयोग का। वे तो पूर्ण वैज्ञानिक थे। उनका सारा जीवन ही सत्य की खोज में बीता है। गाँधी जी रोजगार के रूप में उन्हीं उद्योगों को अपनाने के लिए कहते हैं जिनसे व्यक्ति उतना उत्पादन कर ले जिससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति आसानी से हो सके। मिल और मशीन के उपभोग के बारे में गाँधी जी ने कहा है, "सूत मिल के साथ साथ चरखे न चल सकने के लिए कोई कारण नहीं

---

१. यंग इंडिया, १४-१०-'२०

२. यंग इंडिया-१७-७-'२४

है। जिस तरह घर का रसोईघर भी चलता है और होटल भी चलता है, इसी तरह ये दोनों साथ साथ चल सकते हैं।"[1]

परन्तु गांधी जी हमेशा और हर जगह मिल मालिकों की कटु आलोचना करते थे। मिल का उपयोग सेवा के लिए हो न कि शोषण और बेकारी के लिए। उन्होंने कहा है, "अगर मिलें आज की तरह जनता को लूटने के लिए नहीं बल्कि उनकी सेवा करने के लिए चलाई जाएँ तो वे घर-घर चरखों और करघों के काम में मदद करेंगी और उनकी जगह नहीं ले लेंगी जो आज वे ले लेती हैं।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी न तो मिल एवं मशीन का विरोध करते थे और न आधुनिक विज्ञान का ही। उत्पादन इस ढंग से किया जाय जिससे सबको काम मिल सके और असन्तुलन न हो सके। उत्पादन उपभोग के लिए किया जाय न कि व्यापार के लिए।

आधुनिक युग में मनुष्य की आवश्यकतायें असीम हो गयी हैं। प्राचीन काल में मनुष्य की आवश्यकतायें सीमित थी। अतः आज हमें ऐसे उद्योग चलाने पड़ेंगे जिससे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। चरखा और ग्रामोद्योग जिस रूप में पहले था उसी रूप में आज नहीं चल सकता है। गांधी जी इस सन्दर्भ में ग्रामोद्योग का आधुनिकीकरण करना चाहते थे। सभी उद्योगों में सुधार किया जाय। पर इसमें मशीन व शक्ति के प्रयोग की एक सीमा होगी। मशीन एवं शक्ति का उपयोग करते समय यह ध्यान में रखें कि इससे शोषण और बेकारी न आने पावे।

गांधी जी ग्रामोद्योग का समर्थन करते थे पर बड़े उद्योग का पूर्ण बहिष्कार भी नहीं करते थे। जो चीजें ग्रामोद्योग से नहीं बनायी जा सकती हैं उन्हें बड़े उद्योगों में बनाना पड़ेगा। रेल, मोटर, जहाज और अन्य बड़ी एवं जटिल चीजें ग्राम-उद्योग में नहीं बन सकती हैं। वे बड़े-बड़े कारखानों में ही बनेंगी। परन्तु जहां तक सम्भव हो हमें

१. यंग इंडिया, २१-७-'२०

२. हिन्दी नवजीवन १२-१-'२८

अधिकतम चीजों का उत्पादन ग्रामोद्योग से ही करना चाहिए। अतः गांधी जी चाहते थे कि अर्थ व्यवस्था अधिकतम विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़े।

गांधी जी ग्रामोद्योग में पूरक धन्धे का रूप भी देखते थे। भारतीय किसान साल में कई महीने बेकार रहते हैं। इस खाली समय में वे छोटे एवं कुटीर उद्योग को करें जिससे उन्हें कुछ आर्थिक सहायता मिलेगी। भारत में लाखों परिवार ऐसे हैं जिनकी आर्थिक दशा काफी दयनीय है। ग्रामोद्योग से उन्हें काफी सहायता मिल सकती है।

इन विचारों के अलावा भी आधुनिक युद्ध के संकट से बचने के लिए ग्रामोद्योग लाभप्रद है। अगर ग्रामोद्योग जीवित है तो युद्ध आदि से कम नुकसान होगा। अकाल और अन्य आर्थिक संकट के समय काम देने का ग्रामोद्योग आम साधन है। स्वशासन को कार्यान्वित करने के लिए ग्रामोद्योग काफी सहायक होगा। जब हम देश की जनता को अधिक से अधिक अधिकार देने की बात करते हैं तो हमें ऐसी अर्थव्यवस्था चलानी पड़ेगी जिसमें प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन गांव में ही करे। अतः ग्राम स्वावलम्बन के लिए ग्रामोद्योग आवश्यक है।

गांधी जी के ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार को कुछ अंश में कार्यान्वित करने का प्रयास भारत में किया जा रहा है। परन्तु आज भारत ऐसी स्थिति से गुजर रहा है कि ग्रामोद्योग का पूरा विकास एवं लाभ नहीं मिल पा रहा है। पर इतना तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा कि बिना ग्रामोद्योग के भारत का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। इसके बिना भारतीय समस्यायें नहीं सुलझ सकती हैं। भारत में अधिक आबादी होने के कारण सबको काम देने का काम, ग्रामोद्योग की उपेक्षा करके, नहीं किया जा सकता है। एक भाषण में स्वर्गीय पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि भारत का विकास ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग से ही सम्भव है। अब लोग धीरे धीरे समझने लगे हैं कि भारत जैसे घनी आबादी वाले देश के लिए ग्रामोद्योग ही समस्या का एक मात्र हल है।

विकेन्द्रीकरण

ज्यों-ज्यों समाज विकसित हो रहा है उसमें केन्द्रीकरण बढ़ रहा है। मानव इतिहास को देखें तो पता चलता है कि इतिहास का अधिकतर भाग विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में ही बीता है। परन्तु इस वैज्ञानिक युग में विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था को त्याग कर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। आज सारा आर्थिक ढांचा केन्द्रीकरण पर आधारित है। सारा उत्पादन एक स्थान पर कम से कम मानवीय शक्ति के उपयोग से करने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में गांधी जी ने विकेन्द्रीकरण का विचार सामने रखा। गांधी जी ने केन्द्रित अर्थ व्यवस्था की हानियों को समझा और उससे बचने के लिए एक वैज्ञानिक विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का विचार सामने रखा।

सारा पश्चिमी जगत इस केन्द्रित उत्पादन से प्रभावित हुआ है और धीरे धीरे विश्वभर में इसका विकास हो रहा है। केन्द्रित और बड़े पैमाने के उत्पादन से आवश्यकता से अधिक उत्पादन और इसके परिणाम स्वरूप विदेशी व्यापार की समस्या सामने आती है। इस व्यापार की होड़ ने बड़े बड़े युद्धों को जन्म दिया। साम्राज्यवाद की नींव भी इसी केन्द्रित उत्पादन का परिणाम है।

इस केन्द्रित अर्थव्यवस्था ने मानव की शारीरिक परिश्रम करने की प्रवृत्ति को कम किया और सारी उत्पादन शक्ति को मशीन के ऊपर आधारित किया। फल स्वरूप उत्पादन में कम से कम मानवीय शक्ति लगाने का प्रयास किया जाने लगा। इसकी वजह से बड़ी भारी बेकारी और बेरोजगार की समस्या उत्पन्न हुई। इस केन्द्रित उत्पादन ने व्यक्तिगत शक्ति भी घटाई। मशीनों के विकास के परिणाम स्वरूप मजदूरों की बुरी व्यवस्था और उनके स्वास्थ्य में ह्रास हुआ। इस केन्द्रित अर्थव्यवस्था ने ग्रामीण जीवन को छिन्न भिन्न कर दिया। साथ ही इस केन्द्रित अर्थव्यवस्था ने ग्रामोद्योग को समाप्त कर दिया। प्राचीन काल में जो कुटीर एवं ग्रामोद्योग की व्यवस्था भारत में थी वह अब धीरे धीरे समाप्त हो रही है। केन्द्रीकरण की व्यवस्था योरप और अमेरिका में सबसे अधिक विकसित रूप में है। पर वहाँ भी अब ऐसा विचार सामने आ रहा है कि लोग अब सोचने लगे हैं कि जहाँ तक सम्भव हो

उत्पादन विकेन्द्रित ढंग से हो। अमेरिका के प्रसिद्ध उद्योगपति हेनरी-फोर्ड ने कहा है, "ऐसे पदार्थों का निर्माण जिसका उपयोग सारे देश में सर्वत्र प्रायः सबके द्वारा होता है, सारे देश में विकेन्द्रित रूप से उत्पादित किया जाय ताकि जनता की क्रयशक्ति का वितरण समरूप से हो सके।"[1]

प्रो० हक्सले ने एक स्थान पर लिखा है, "मानव समाज की रक्षा के लिए तथा वैज्ञानिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी जन संकुल नगरों से मुख मोड़कर ग्रामीण अर्थनीति और सभ्यता को अपनाने के सिवा कदाचित दूसरी गति नहीं है।"[2]

हम देख रहे हैं कि साम्राज्यवाद आज समाप्त हो रहा है। सभी देश स्वतन्त्र हो रहे हैं। सभी चाहते हैं कि कम से कम आयात और अधिक से अधिक निर्यात किया जाय। जनसंख्या की वृद्धि के कारण बेकारी की समस्या उत्पन्न हो गयी है। भारत में सबको काम देने की समस्या सबसे जटिल है। हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि विज्ञान ने हमें अनेक सुविधायें दी हैं। परन्तु हमें विज्ञान का उपयोग इस ढंग से करना चाहिए जिससे सम्पूर्ण समाज को लाभ हो। हमें विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था को वैज्ञानिक ढंग से संगठित करना चाहिए। गांधी जी ने हमारे सामने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का विचार रखा, जिससे हम भारत की समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। यहाँ एक बात याद रखने की है कि गांधी जी विकेन्द्रित व्यवस्था वहीं तक मानते थे जहाँ तक सम्भव हो। वे यह कभी नहीं कहते कि प्रत्येक घर में हवाई जहाज का कारखाना हो। पर इतना अवश्य मानते हैं कि अधिकतम चीजों का उत्पादन विकेन्द्रित ढंग से किया जाय।

गांधी जी अहिंसक राज्य के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक मानते थे। केन्द्रीकरण में हिंसा और शोषण की प्रवृत्ति आना आवश्यक है। अगर हम हिंसा और शोषण विहीन समाज की रचना करना चाहते हैं तो विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था को कार्यान्वित करना पड़ेगा। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में कहा है,

---

१. 'बापू और मानवता' ले० पं० कमलापति त्रिपाठी, पृष्ठ ३१३

२. 'बापू और मानवता' ले० पं० कमलापति त्रिपाठी, पृष्ठ १६

३. हरिजन—३० ६ ४०

"मैं यह सलाह देता हूं कि यदि भारत अहिंसात्मक तरीके से उन्नति करना चाहता है तो उसे अनेक चीजों का विकेन्द्रीकरण करना होगा. केन्द्रीकरण बिना शक्ति एवं हिंसा के नहीं बनाया जा सकता है।"

विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में खादी और ग्रामोद्योग का प्रमुख स्थान है। आर्थिक संगठन इस ढंग का हो कि अधिक से अधिक वस्तुएं गाँव में उत्पादित हों। प्रत्येक गाँव अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं गाँव में ही कर ले। जो वस्तुएं गाँव में उत्पादित होती हैं उनका पक्का माल भी गाँव में ही बने। कपास गाँव में पैदा होती है अतः आवश्यकता इस बात की है कि कपड़ा भी गाँव में ही बने। गांधी जी तो मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पहनने का कपड़ा स्वयं तैयार करे। खाली समय में हम अपने उपयोग भर सूत कात लें। अगर इतना सम्भव न हो तो प्रत्येक गाँव कपड़े के मामले में स्वावलम्बी हो। ग्रामोद्योग की अन्य वस्तुएँ भी गाँव में तैयार होनी चाहिए। आज तो देखा यह जा रहा है कि जो कच्चा माल गाँव में तैयार होता है उसे शहर में भेजकर पक्का माल बनाया जाता है। जब प्रत्येक गाँव अपने में स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होगा तो शहरों का इतना विस्तृत रूप नहीं रह जायगा।

इस विकेन्द्रीकरण का एक बड़ा लाभ, युद्ध के समय, भी होगा। आज अगर युद्ध हुआ तो बड़े-बड़े कारखानों पर बम डाले जा सकते हैं। सारा आर्थिक ढांचा ही बिगड़ जायगा। कारखानों और नगरों को बम द्वारा आसानी से युद्ध में विध्वंस किया जा सकता है। आज हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें प्रत्येक काम के लिए हमें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह प्रवृत्ति शहरों में अधिक बढ़ रही है। अगर बिजली और पानी बन्द कर दिया जाय तो शहर का सारा जीवन अस्तव्यस्त हो जायगा। कारखाने बन्द हो जायेंगे। अर्थात् शहर का औद्योगिक जीवन दूसरों पर आश्रित है। सारा जीवन दूसरों पर निर्भर करता है। परन्तु जब हमारा ग्राम जीवन सुसंगठित रहेगा तो हमारी जड़ मजबूत रहेगी।

भारत गाँवों में बसा है। शहरों का विकास भी कितना ही क्यों न हो जाय भारत के गाँव की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। देश की अधिकांश आबादी गाँव में ही निवास करती है। अतः जब तक गाँव की अवस्था उन्नत नहीं होगी तब तक राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है। जब तक ग्रामीण अर्थव्यवस्था शहरों पर निर्भर रहेगी तब तक देश का आर्थिक

विकास सम्भव नहीं है। आज तो देश की आर्थिक व्यवस्था की यह हालत है कि गाँव वाले गन्ना उपजाते हैं पर उन्हें एक रुपये सेर गुड़ भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता है। सारा गन्ना चीनी बनाने और उससे विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए खरीद लिए जाने का प्रयास हो रहा है। सारा आर्थिक ढांचा शहरों और केन्द्रीकरण के जाल से जकड़ा हुआ है। इस समस्या के समाधान का एक मात्र उपाय है कि देश में विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था कायम की जाय और इसमें प्रत्येक गाँव को अधिकतम आर्थिक ढग से स्वावलम्बी बनाया जाय। अतः हमें ऐसी अर्थव्यवस्था चलानी है जिसमें हम केन्द्रीकरण से अधिकतम विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ने का प्रयास करें। परन्तु कुछ वस्तुओं का केन्द्रित उत्पादन भी करना पड़ेगा। पर ऐसी वस्तुओं की संख्या नगण्य होगी।

ग्रामोद्योग क्यों ?

भूमि मूलक ग्रामोद्योग प्रधान शोषण रहित समाज की रचना के लिए यह निर्विवाद है कि हमारा देश इसके लिये सबसे उपयुक्त है। ग्रामोद्योग हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है; क्योंकि आज की परिस्थिति की यह माँग है! प्रथम हमारा यह देश कृषि प्रधान देश है। जिसमें ८३ प्रतिशत से अधिक ग्रामीण हैं; और कृषि ही मुख्य पेशा है। इस कृषि में केवल छः महीने का कार्य है और शेष छः महीने बेकार हैं। ऐसी परिस्थिति में आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को छः महीने का काम देकर उसकी आय की वृद्धि करना है और उसके जीवन मान को ऊँचा उठाना है। कृषि करते हुए ग्रामीण वातावरण में प्रत्येक ग्रामीण को उसके घर पर ही उद्योग देना अत्यन्त आवश्यक है। जिससे कृषि और उद्योग दोनों की देख-रेख सरलता पूर्वक हो सके। ग्रामीणों को पूर्ण उद्यम मिल सके और उनकी आय में भी वृद्धि हो सके। कृषि पेशा ही ऐसा है कि वह विकेन्द्रित रूप से ही विकसित हो सकता है। इसीलिए उसी के अनुकूल ग्रामोद्योग का भी विकास आवश्यक है।

दूसरी परिस्थिति बेकारी की है। लगभग उन्नीस लाख व्यक्ति प्रति वर्ष काम करने योग्य होते हैं; और ५० लाख प्रति वर्ष देश की आबादी में वृद्धि होती है। केवल साढ़े चौदह करोड़ व्यक्ति परिश्रम करते हैं जो पूरे देश का भरण पोषण करते हैं। इसमें से साढ़े दस करोड़ व्यक्ति खेती

से परिश्रम करते हैं और वे भी केवल ६ महीने परिश्रम करते हैं। वर्ष की ग्रामोद्योग द्वारा शेष ६ महीनों का काम देना है। देश की बढ़ती हुई बेकारी को भी समाप्त करना है, परन्तु इसकी समाप्ति ग्रामोद्योग द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार से ग्रामोद्योग अर्ध बेकारी को दूर करके हटा देगा, और इस समय वर्तमान तथा प्रति वर्ष की बढ़ती हुई बेकारी को समाप्त करेगा। शक्ति-मशीनों द्वारा संचालित उद्योग इस बेकारी को दूर नहीं कर सकते। क्योंकि ये शक्ति-चालित यंत्र बहुधा मानवी श्रम को प्रतिस्थापित करते हैं और मानवी श्रम को कार्य से अलग करते हैं। परन्तु परिस्थिति की मांग मानव श्रम को कार्यरत कराने की है। कार्य व्यक्तित्व के विकास के लिए और स्वाभिमान की वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इससे सब देशों में और विशेष कर आर्थिक रूप से अविकसित देशों में मानव को शान्ति मिलती है। काम करने की प्रेरणा और उत्साह का सृजन होता है। इसके परिणाम स्वरूप उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ उपभोग की क्रय शक्ति का विकास और जीवन स्तर की वृद्धि होती है। स्वस्थ और सुखी नागरिकों का प्रादुर्भाव होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि शक्ति-चालित यंत्र के उद्योग अपने पृथक उद्योगों से अधिक रोजगार देने में समर्थ होते हैं परन्तु ग्रामोद्योग के समान उनकी अधिक रोजगार देने की क्षमता नगण्य है। साथ ही साथ ऐसे उद्योग जिन उद्योगों की हमारी आर्थिक व्यवस्था मांग करती है, बड़े उद्योग हमें नहीं दे सकते। हमारे देश में बड़े उद्योगों की भारी कमी है, परन्तु इनका दोष इन सब परिस्थितियों पर विचार करने पर कुछ सीमित-सा हो जाता है।

तीसरी परिस्थिति देश में विभिन्न पेशों की मांग करती है। बिना पेशों की भिन्नता के देश का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। हमारे देश में कृषि प्रधान पेशा है और उसी के अनुकूल हमें सहायक पेशों का सृजन करना है। इससे जनसंख्या के बड़े हिस्से की आय में वृद्धि होगी और पेशों की भिन्नता के कारण जीवन की विभिन्नता जैसे कला, मनोरंजन संस्कृति आदि का भी विकास होगा। यह ग्रामोद्योग द्वारा ही सम्भव है; क्योंकि यही सर्वांगीण रूप से इसमें सहायक हो सकता है।

चौथी परिस्थिति पूंजी की है। अविकसित देश होने के कारण हमारे देश में पूंजी की कमी है। इसलिए देश के अन्दर इस पूंजी का सृजन करना है, और देश के बाहर से भी पूंजी प्राप्त करना है। देश के बाहर से प्राप्त पूंजी का विशेष स्वरूप आर्थिक ऋण, अनुदान अथवा दूसरे ढंग

उत्पादक साधन हैं। परन्तु इन वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग हमें अपने देश और परिस्थिति के अनुकूल करना है जैसा कि जापान और स्विटजर लैंड आदि देशों ने किया है। यंत्र वैज्ञानिक और सुधरे हुए हों, परन्तु वे कम दाम के हों और छोटे हों, जिससे प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन कार्य में उनका प्रयोग कर सके और उत्पादन क्षमता भी सुरक्षित रह सके। यंत्र जब सब की पहुँच के भीतर होंगे तभी वे सुखदायी सिद्ध होंगे, और ग्रामोद्योग का पूर्ण मन्तव्य पूर्ण हो सकेगा। जहाँ तक देश के भीतर पूँजी का सृजन है उसकी ओर भी विशेष ध्यान देना है। पूँजी सृजन के सिद्धान्त के अन्तर्गत पूँजी का सृजन, श्रम की उत्पादकता और श्रम को दिये गये पुरस्कार पर निर्भर है। इन बातों पर पूर्ण विचार करने से ऐसा निश्चय होता है कि ग्रामोद्योग में बड़े उद्योगों से अधिक पूँजी का सृजन होगा। अन्य विचार भी पूँजी की सहूलियत और प्राप्ति के बारे में ग्रामोद्योग के अनुकूल ही ठहरते हैं। यदि देश में पूँजी कम है तो छोटी पूँजी से ही संचालित कार्य देश के लिए हितकर होंगे। जैसे एक करोड़ की पूँजी से एक कपड़े की मिल एक हजार व्यक्तियों को कार्य दे सकती है, परन्तु उसी पूँजी से ग्रामोद्योग ढ ई लाख आदमियों को काम दे सकता है और पूँजी की सारी प्रक्रियायें हमारी यांत्रिक जानकारी के अनुकूल सीधी और सरल भी होती हैं। हमारे देश में ७५ प्रतिशत से ऊपर ही व्यक्तिगत संचालित उद्यम क्षेत्र (Self employment sector) है। यदि उन्हें थोड़ी भी पूँजी की सहायता मिल सकती है तो वे अपनी उत्पादकता में बहुत बड़ी वृद्धि कर सकते हैं। यह ग्रामोद्योग द्वारा ही सम्भव है। अधिक से अधिक पूँजी यदि देश के भीतर से ही प्राप्त कर लेते हैं तो हम विदेशी जंजाल में फँसने से बच जाते हैं।

पाँचवी परिस्थिति देश के जीवन मान को ऊँचा उठाने की है। देहातों में बहुसंख्यक कुटुम्बों की वार्षिक आय ३००) से भी कम है। उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिल पाता। २० प्रतिशत कुटुम्बों की वार्षिक आय १२०) से ६००) तक ही है। ३६००) से अधिक आय वाले कुटुम्ब केवल ७·५ प्रतिशत हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ५० प्रतिशत ग्रामीण कुटुम्बों को जीवन की अत्यन्त आवश्यक वस्तुयें भी नहीं उपलब्ध हो पातीं। इनके जीवन मान को ऊँचा उठाना है। इससे उनके जीवन में एक उल्लास उत्पन्न होगा; और आशावादिता का संचार होगा ग्रामोद्योग ही उनके जीवन में यह प्रेरणा दे सकता है।

छठी परिस्थिति आज देश में केन्द्रित उद्योगों से उत्पन्न हो गई है। मालिक मजदूरों में संघर्ष, बड़े उद्योगों के नगरों में मजदूर श्रमिकों की दयनीय परिस्थिति, मजदूरों का शोषण, श्रमिकों का असंतोष और असंतुलित आर्थिक विषमता आदि राज्य के लिए एक समस्या बन गई है। इनका निराकरण भी राज्य अपने कानूनों से और अपने श्रम हित और समाज हित दृष्टि से करने में असमर्थ हो रहा है। इन सब समस्याओं का निराकरण ग्रामोद्योग [illegible] व्यवस्था से हो सकता है। देश में [illegible] विषम सम्पत्ति का वितरण स्वयं इन उद्योगों द्वारा समान हो जाता है। व्यक्तिगत उत्पादक आज की तरह मुनाफा न कर कर ग्रामोद्योग में उत्पादकता का पूरा फल पाता है। उत्पादन भी अधिक होता है और व्यक्तित्व विकास भी [illegible] होता है।

सातवीं परिस्थिति सांस्कृतिक मूल्य की है। आज के समाज में अर्थ मूल्यों के स्थान पर सांस्कृतिक मूल्य की स्थापना करनी है। इसकी स्थापना तभी सम्भव है जब कि मनुष्य के उत्पादन और उपभोग में उसके जीवन का तादात्म्य हो। आज यही उत्पादक-यन्त्र जो मनुष्य ने अपने हाथों की क्षमता बढ़ाने के लिए एक सहायक रूप में बनाया और वे ही यन्त्र जो मनुष्य के लिए थे और मनुष्य के सहायक थे, आज [illegible] बन मनुष्य के मालिक हो गए हैं। जब [illegible] और मनुष्य के हाथों में [illegible] उत्पन्न हो जाता है तब कला और मानवता दोनों [illegible] हो जाती हैं, और हमारे संस्कार प्राणहीन हो जाते हैं। ग्रामोद्योग में [illegible] प्रधान होने के कारण मनुष्य की सद्भावना से ओत-प्रोत होते हैं और उनमें कलात्मकता के गुण स्वतः आविर्भूत होते हैं। इससे धार्मिक और आध्यात्मिक शक्ति से विशेष सम्पर्क बना रहता है। सांस्कृतिक मूल्य भौतिक जीवन में अक्षुण्ण रहता है। उसे किसी प्रकार का धक्का नहीं लगता है। क्योंकि हमारे आध्यात्मिक और भौतिक जीवन में कोई दुराव नहीं होता। ग्रामोद्योग ही सांस्कृतिक मूल्य की रक्षा में पूर्ण सहायक सिद्ध हो सकता है

उद्योग—देश में दो प्रकार के उद्योग होंगे। एक विकेन्द्रित उद्योग दूसरे केन्द्रित उद्योग। यहाँ स्पष्ट प्रश्न होता है कि किन वस्तुओं का उत्पादन विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा किया जा सकता है और किन का उत्पादन केन्द्रित उद्योगों से न किया जायगा। उपभोग की [illegible] आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा उत्पन्न किये जायेंगे। [illegible] तथा अन्य प्रकार के मौलिक उद्योग केन्द्रित हो जायेंगे, [illegible],

वनस्पति तथा चीनी के कारखानों सरीखे उद्योग, जो पौष्टिक तत्व का नाश कर देते हैं, बन्द कर दिये जायँगे और उन्हें विकेन्द्रित रूप से चलाया जायगा। उन सब केन्द्रित उद्योगों को जो विकेन्द्रित उद्योगों के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करते हैं बन्द कर दिया जायगा। विकेन्द्रित उद्योगों के लिए प्रादेशिक स्वावलम्बन प्राप्त करना आवश्यक होगा। ये उद्योग उस प्रदेश के मनुष्यों तथा प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने में समर्थ होंगे। इन्हें कच्चा माल प्रदान करने, उत्पादन का मार्ग प्रदर्शन, तैयार माल का विक्रय करने तथा यांत्रिक सुधार इत्यादि का कार्य करने का उत्तरदायित्व औद्योगिक सहकारी समितियों का होगा जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होंगी और जिनका एक केन्द्रीय संघ होगा। इन उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए एक ग्रामीण आर्थिक समिति होगी। उत्पादक कच्चे माल की प्राप्ति तथा पक्के माल के विक्रय के झन्झट से मुक्त होगा। इन उद्योगों को बिजली देकर इनकी कार्यक्षमता तथा कार्य विधियों में सुधार किया जा सकेगा, परन्तु यह कार्य उसी सीमा तक होगा जहाँ तक बिजली पूर्ण रोजगारी को प्रोत्साहन दे। सरकार तथा सार्वजनिक संस्थायें विकेन्द्रित उद्योगों के बनाये सामानों का पूर्ण उपयोग करेंगी। इन उद्योगों के लिये आवश्यक कच्चे माल पर किसी प्रकार का कर नहीं होगा और आवश्यक कच्चे माल तथा शक्ति और साधन सर्व प्रथम इन्हीं को प्रदान किये जायँगे। इन उद्योगों को प्रोत्साहित करने तथा चलाने के लिए ऐसे व्यक्तियों को रखा जायगा जो यान्त्रिक तथा प्रबन्धात्मक पटुता प्राप्त कर चुके हों और जिनमें ग्रामीण वातावरण में उत्साह से कार्य करने की भावना हो। ग्रामीण सेवकों का एक दल होगा जो इन सब कार्यों को पटुतापूर्वक चलायेगा। क्योंकि ये उद्योग छोटी मात्रा में चलेंगे अतएव मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की संख्या बहुत ही कम होगी। ये मजदूर अपने पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में कार्यरत होंगे। अतएव इनके शोषण का प्रश्न ही नहीं खड़ा होगा। इस छोटे उद्योग में आपसी सम्बन्ध सरल तथा सीधे होंगे। अधिक दाम सतह के परिवर्तन पर उन्हें मजदूरी भी अधिक मिलेगी। आपसी मनमुटाव बहुत ही कम होंगे और यदि होंगे भी तो वे आपसी समझौते से दूर किये जा सकेंगे। प्रबन्ध में भी उनका पूरा प्रभुत्व होगा। जिसके कारण उन्हें उद्योग की पूरी जानकारी रहेगी। मजदूरों को उचित पुरस्कार, मकान, बुढ़ापे की पेंशन, बीमारी तथा बेरोजगारी की पेंशन का भी प्रबन्ध

रहेगा जिससे अपने को सुरक्षित समझेंगे। यह [illegible] के साथ केन्द्रित तथा विकेन्द्रित दोनों उद्योगों में पूर्णतया [illegible]। औद्योगिक अनुसन्धानशालाएँ भी होंगी जिनका [illegible] केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उद्योगों की संगठन कुशलता, उत्पादन कुशलता इत्यादि बढ़ाना होगा। साथ ही साथ यह भी अनुसंधान किया जायगा कि किस प्रकार केन्द्रित उद्योग छोटी-छोटी इकाइयों में बँटकर [illegible] छोटे पैमाने पर आर्थिक रूप से चलाये जा सकें। छोटे [illegible] के पूर्ण विकास के लिए अनुसंधान प्रयत्नशील रहेगा।

केन्द्रित उद्योग भी होंगे। रक्षा की वस्तुओं का उत्पादन, [illegible] उत्पादन, खानें, धातुएँ, जंगल, भारी यन्त्र तथा इंजन, रासायनिक उद्योग ये सब के सब केन्द्रित होंगे। इन पर सामाजिक स्वामित्व होगा। इनका प्रबन्ध तथा संचालन सब समितियों द्वारा होगा। इन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होगा। ये उद्योग किसी प्रकार से ग्रामीण उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा न करेंगे। इनका पूर्णतया [illegible] होगा। इन्हीं में [illegible] के लिए विदेशी यन्त्रों का प्रयोग किया जायगा। ये उद्योग सब प्रकार से विकेन्द्रित उद्योगों के सहायक होंगे। जो विदेशी [illegible] होंगे वे या तो स्वयं समाप्त हो जायेंगे नहीं तो उनका भी राष्ट्रीयकरण कर लिया जायगा। विदेशी उद्योग [illegible]। राष्ट्रीयकरण से उद्योगों को चलाने का उत्तरदायित्व [illegible] हो जायगा। अतएव इस रूप से चलाने के लिए [illegible] तथा [illegible] की आवश्यकता होगी। [illegible] यह कार्य सौंपा जायगा। [illegible] भी किया जायगा। देश का पूर्ण आर्थिक तथा औद्योगिक [illegible] आवश्यक साधनों तथा [illegible] का पूर्ण [illegible] और नियमन होगा।

इन सब कामों के लिए धन की आवश्यकता होगी। [illegible] समाजव्यवस्था [illegible] की आवश्यकता होती ही। [illegible] एक भाग [illegible] में होगा। [illegible] [illegible] इसके [illegible] देश में [illegible]

मन्दी तथा तेजी के व्यापारचक्र से बचा रहेगा। ग्रामीण साख समितियाँ और औद्योगिक समितियाँ होंगी जो धन को एकत्रित करेंगी। इस प्रकार पूंजी का सृजन तथा उसका प्रयोग इन संस्थाओं द्वारा सम्भव होगा। विकेन्द्रित उद्योगों के लिए उतनी पूँजी की आवश्यकता न होगी। परन्तु आधारभूत उद्योगों और खेती के लिए पूंजी की बड़ी आवश्यकता होगी। फसलों को बढ़ाना, पशुओं का बीमा, यन्त्रों का सुधार करना इत्यादि सारी समस्याओं के समाधान के लिए बड़ी पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए बैंकों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा और ग्रामीण आर्थिक समितियों का जाल गाँव-गाँव फैला दिया जायगा जिनके द्वारा छोटी से छोटी बचत भी एकत्रित करके पूँजी का सृजन किया जा सकेगा। देश भर की पूँजी विविध रूप में समाज के निर्माण में सहायक हो जायगी।

ज्यों-ज्यों हमारी प्रादेशिक स्वावलम्बिता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की क्षीणता होती जायगी। प्रत्येक क्षेत्र में बहुधन्धी सहकारी समितियाँ होंगी जो इस क्षेत्र के आयात और निर्यात पर नियन्त्रण रखेंगी। जो सामान उस क्षेत्र में पैदा किया जा सकता है, वह सामान दूसरे क्षेत्र या नगर से न आने पायेगा और जिस कच्चे माल का प्रयोग उस क्षेत्र में किया जा सकेगा उसे बाहर न भेजा जायगा। जिन सामानों को वह क्षेत्र नहीं पैदा कर सकता है और उसके उपभोग के लिए वह आवश्यक है, उसे बाहर से मँगाया जा सकेगा। जो कार्यविधि तथा नीति एक प्रादेशिक क्षेत्र के लिए होगी वही कार्यविधि तथा नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपनायी जायगी। उसी राष्ट्र से हम अदल-बदल करेंगे जो राष्ट्र हमारे राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का सहायक हो। केन्द्रिय नियोजन आयोग की सिफारिश तथा उत्तरदायित्व पर हम विश्व बैंक से अपने देश के निर्माण हेतु ऋण लेंगे। इस ऋण से अपने केन्द्रिय उद्योग का विकास करेंगे। हमारा दृष्टिकोण सब देशों से सहयोग का होगा न कि प्रतिस्पर्धा का।

यातायात तथा सम्वाद वाहन के साधनों का विकास ग्रामों को दृष्टि में रखकर किया जायगा। रेलवे, सड़क, जहाज, पानी का रास्ता, पोस्ट तथा तार आदि का विकास ग्रामीण जीवन को एक में जोड़ने के लिए करना होगा। इन पर पंचायती राज का स्वामित्व होगा। इनका प्रयोग ग्रामों को एक दूसरे से बाँधने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामों में कच्ची सड़कें

तथा नहरों का मार्ग बड़ा ही सुविधाजनक है। रेलों तथा नावों का अधिक प्रयोग बोझा ढोने और सवारी ढोने में किया जायगा। दूसरे कई लाभ होंगे। मनुष्यों तथा पशुओं को काम मिलेगा, समान सस्ता रहेगा तथा खेतों की सिंचाई भी होगी। यातायात के इन साधनों का उद्देश्य ग्रामीण जीवन को सुखी तथा समृद्धिशील बनाना होगा, न कि इनका शोषण तथा नाश।

स्वास्थ्य और सफाई

लोगों में स्वतः स्वच्छ और स्वस्थ रहने की भावना का विकास कराया जायगा। अतएव उन्हें स्वास्थ्य तथा सफाई के नियमों का ज्ञान कराया जायगा। सामूहिक सफाई तथा व्यक्तिगत सफाई की पूर्ण जानकारी कराई जायगी। रसोई की सफाई, पिसाई कि सफाई, पानी की सफाई, माँजी काटने की सफाई, अनाज की सफाई, परोसने में सफाई, भोजन में सफाई, दातौन तथा हाथ-मुँह धोना, शौच तथा पेशाब जाना, थूकना व नाक साफ करना, झाड़ू लगाना, सामान्य सफाई, कूड़े-करकट तथा मल-मूत्र को खाद बनाना, पशुओं तथा आदमियों के रहने के स्थानों की व्यवस्था तथा स्वच्छता आदि कार्य हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को बताये जायँगे। इनसे बहुत से रोग स्वयं लुप्त हो जायँगे। भोजन को सन्तुलित बनाया जायगा। प्रत्येक नागरिक एक ही प्रकार का तथा अन्न ही का बराबर भोजन न करेगा। अन्न में परिवर्तन स्वयं उपजाये हुए फल तथा तरकारी, दूध की प्राप्ति, प्रत्येक नागरिक को अपने खेती के जीवन से पूर्णतया हो सकेगी। यह अवश्य ध्यान दिया जायगा कि उनके बनाने जाने में खाद्य पदार्थों के पौष्टिक तत्व न नष्ट हो जायँ। भोजन स्वास्थ्य के लिए होगा न कि स्वाद के लिए। ये भोजन सन्तुलित होंगे और व्यक्तियों में जीवन शक्ति का पूर्ण विकास करेंगे, इससे रोगों का समूल विनाश हो जायगा। यही नहीं उनकी काम वासना पर नियंत्रण तथा नियमन भी किया जायगा। लाभप्रद सांस्कृतिक, नैतिक मनोरंजन के साधन उनमें आत्मसंयम का प्रसार करेंगे। जीवन के प्रत्येक क्षण का नियमित ढंग से व्यतीत करने की शिक्षा दी जायगी। काम तथा आराम दोनों को अलग अलग न रखा जायगा बल्कि काम आरामदायक होंगे और आराम काम का होगा। कार्य रुचिपूर्ण होंगे। काम में मनोरंजन तथा उत्पादन प्रक्रिया होगी।

प्रारम्भ से ही बच्चों की शिक्षा-दीक्षा काम के माध्यम द्वारा दी जायगी। इससे काम आनन्द का रूप लेगा, वह भार स्वरूप न समझा जायगा। इससे मानसिक सन्तुलन ठीक रहेगा। प्रकृति का सहारा लेकर ही हमारा जीवन चलेगा। प्रकृति द्वारा दिए गए पेड़-पौधों, जड़ी-बूटी का प्रयोग करके हम स्वस्थ रह सकेंगे। गाँवों में पानी का उचित प्रबन्ध किया जायगा। इस प्रकार से पौष्टिक पदार्थ के साथ-साथ जब प्रत्येक नागरिक नख से शिख तक की शारीरिक स्वच्छता, आन्तरिक स्वच्छता तथा सामाजिक स्वच्छता का महत्व अपना लेगा तो रोगों का स्वतः नाश हो जायगा और व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य स्वयं प्राप्त हो जायगा।

समाज में शिक्षा के द्वारा समुन्नत व्यक्ति का रूप निखर सकेगा। मनुष्यों की निरीक्षक, आलोचक और सृजनात्मक योग्यताओं का विकास कराके, उनमें सृजन, निर्माण तथा सेवा भावना का संचार करना पड़ेगा। मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास रचनात्मक प्रकृति के विकास से ही ओत-प्रोत होगा। बुनियादी शालायें होंगी जो भोजन, वस्त्र, निवास तथा उत्पादक औजारों की प्रक्रिया में शिक्षा देंगी। इससे रचनात्मक तथा व्यवहारिक ज्ञान होगा। ग्रामीण जीवन तथा सामाजिक जीवन को स्वयं पूर्ण बनाने वाले हस्तकला के उद्योगों से शिक्षा का प्रारम्भ होगा। यह शिक्षा सार्थक होगी, प्रत्येक मनुष्य स्वावलम्बी होगा। इससे मनुष्य, प्रकृति तथा समाज के सन्निकट आ सकेगा और उसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण तथा स्पष्ट होगा। इससे मानव जीवन सन्तोष, स्वावलम्बन, सदाचार तथा सहकारिता की ओर अग्रसर होगा। अपरिग्रह, अहिंसा तथा सत्य ही नये जीवन का आधार होगा। बुनियादी शिक्षा में सांस्कृतिक तथा दस्तकारी के रचनात्मक अवयव प्रस्फुटित होंगे। उत्पादन की प्रक्रिया, सामाजिक वातावरण तथा प्राकृतिक वातावरण इस नई शिक्षा के आधार बनकर व्यक्ति के व्यक्तित्व को अनुशासित ढंग से रचनात्मक तथा सेवा की भावनाओं में पूर्णतया ढाल देंगे। नीचे से लेकर ऊपर तक शिक्षा विकेन्द्रित होगी। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है अतएव शारीरिक भोजन मानसिक तथा आध्यात्मिक भोजन सबका भिन्न-भिन्न होगा। इससे सबका पूर्ण विकास सम्भव होगा।

व्यक्ति और राज्य

विकेन्द्रित ग्रामीण इकाइयों का नियन्त्रण और नियमन होगा। उत्पादन, प्रबन्ध तथा सब प्रकार के राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होगा। सबका आधार ग्राम इकाइयाँ होंगी, इनके द्वारा चुनी गयी प्रादेशिक संस्थायें होंगी और उनकी चुनी हुई केन्द्रीय संस्था होगी जो राज्य की एकता को पूर्णतया सफल बनायेंगी। इससे दोनों लक्ष्य पूरे हो जायँगे। प्रथम तो व्यक्तियों के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त होगा, दूसरे राज्य की एकता स्थायी रहेगी। इस प्रकार का सारा राजनैतिक तथा आर्थिक स्वरूप पिरामिड की भाँति होगा। शिक्षा, दीक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, भूमि, विकेन्द्रित ग्रामीण उद्योग इत्यादि ग्रामीण इकाइयों के उत्तरदायित्व की वस्तु होंगे। शासन प्रादेशिक होगा। रक्षा, रेल्वे, बिजली, जहाज, यातायात, उद्योग वैदेशिक सम्बन्ध तथा कार्य आदि केन्द्रित संस्था के आधीन होंगे। राज्य केवल रेलवे की खतरे वाली जंजीर रह जायगा। हमारा सारा सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक जीवन स्थानीय नियमन तथा नियन्त्रण में रहेगा, जिससे व्यक्ति न्यूनतम शासन में रह कर सामाजिक प्रवृत्तियों और अपनी निज की मौलिक शक्तियों का पूर्ण विकास कर सकेगा। इस प्रकार से व्यक्ति और समष्टि में समन्वय होगा और शासन निरपेक्ष, वर्गविहीन तथा शोषणविहीन समाज साकार हो सकेगा।

पुलिस तथा सेना की बहुत कम आवश्यकता होगी; क्योंकि अपराध तथा दुर्गुण तिरोहित हो जायँगे। नागरिक ईमानदारी, सार्वजनिक भावना, स्वार्थ त्याग, अनुशासन के गुण, साहस, दृढ़ता, सेवा तथा प्रेम की भावना से ओत-प्रोत होंगे। विकेन्द्रित उत्पादन तथा शासन के कारण सार्वजनिक राजस्व भी विकेन्द्रित हो जायगा। पूरी आय का ५० प्रतिशत ग्रामीण इकाइयों द्वारा व्यय किया जायगा। शेष प्रादेशिक तथा केन्द्रिय सरकार को व्यय करने का अधिकार होगा। केन्द्र की आय में से कुछ उसके चलाये हुए केन्द्रित उद्योगों से प्राप्त होगी तथा कुछ प्रादेशिक इकाइयों से सहायता के रूप में मिलेगी। इस विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी जीवन में लोगों की आय की भिन्नता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारी कमी हो जायगी। इसके परिणाम स्वरूप आयकर तथा आयात-निर्यात कर में भारी कमी हो जायगी। देश के भीतर सब चुंगीतो नकदी माल और

मजदूरी के रूप में की जायगी। लगान माल के रूप में एकत्रित होगी। लोगों को वेतन अन्न के रूप में तथा सेवा के रूप में प्राप्त होगा। सार्वजनिक कार्य जैसे पाठशालायें, अस्पताल, सड़क आदि जनता अपने श्रम से बनायेगी। सारा जीवन प्रकृति के वातावरण में स्वावलम्बन तथा विकेन्द्रित ढाँचे में चलेगा जिसके फलस्वरूप सार्वजनिक आय-व्यय स्वतः बहुत कम हो जायगा। सार्वजनिक आय-व्यय का रूप नकदी मुद्रा में कम होकर माल तथा सेवाओं में अधिक होगा। इससे सामाजिक मान्यतायें अन्य मूल्यों के परिवर्तन के साथ-साथ बदल जायँगी।

खादी का अर्थशास्त्र

खादी और चरखा सत्य और अहिंसा का प्रतीक है। गांधी जी की जयन्ती चरखा जयन्ती के रूप में हम मनाते हैं क्योंकि गांधी जी की यही अभिलाषा थी। जितनी भी क्रान्तियाँ जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में हुई हैं उन सब क्रान्तियों के कोई न कोई प्रतीक रहे हैं। भगवान राम का धनुष-बाण, भगवान शंकर का त्रिशूल, भगवान कृष्ण की बाँसुरी, ईसा मसीह का क्रास प्रतीक रहे हैं। राजनैतिक दल आज अपना भिन्न-भिन्न प्रतीक रखते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपना-अपना झण्डा प्रतीक के रूप में रखता है। ये प्रतीक अपना एक महत्व रखते हैं। आज के राजनैतिक दलों के हँसिया, हथौड़ा, हल, चरखा आदि इस बात के साक्षी हैं कि आज का युग सामान्य व्यक्ति का युग है, आज का युग भौतिकता का युग है, आज का युग उत्पादक यन्त्र और उत्पादक श्रमिक का युग है। इसलिए इन यन्त्रों का संकेत इस बात का द्योतक है कि यह श्रमजीवी युग है।

महात्मा गांधी ने चरखे को अब प्रतीक के रूप में ग्रहण किया। चरखे के सूत में बँधकर उन्होंने स्वराज्य को आते देखा। चरखे को उन्होंने न केवल भौतिक शक्ति प्राप्त करने का उपकरण माना बल्कि इससे आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति की प्राप्ति सुलभ माना। इसलिए यह मानवता, आध्यात्मिकता, नैतिकता तथा भौतिकता का सन्देशवाहक बना। यह प्रत्येक मनुष्य के लिए यश का प्रतीक बन गया। जीवन का पवित्रतम कार्य बनकर आत्मशुद्धि, आत्मनिर्माण तथा भौतिक शक्ति का केन्द्र बना। गांधी जी ने स्वयं सारे रचनात्मक कार्यों और ग्रामोद्योगों का सूत्र केन्द्र चरखा माना। राजनैतिक स्वराज्य, आर्थिक स्वराज्य, नैतिक स्वराज्य का चरखा साधन है ऐसी मान्यता गांधी जी ने दी है।

इसीलिए यह प्रश्न उठता है कि चरखा किसका प्रतीक है ! चरखा करोड़ों व्यक्तियों के कर्तृत्व का प्रतीक है, स्वाभिमान का प्रतीक है, रोजगार का प्रतीक है, भूखे नंगों के जीवन और पोषण का प्रतीक है, स्वतन्त्रता और समता का प्रतीक है, समृद्धि का प्रतीक है, गांधी जी उनके हाथ में एक ओर लंकाशायर और मैनचेस्टर के बने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार इस चरखे की खादी से करते हैं, इस आर्थिक युद्ध में ब्रिटेन द्वारा भारत के शोषण को समाप्त करके उन्होंने विजय प्राप्त की। लंकाशायर और मैनचेस्टर के उद्योगपतियों के समक्ष उन्होंने जो भाषण दिया था वह बहुत ही दर्दनाक और करुणामूलक था। उसमें कहीं भी हिंसा की बू नहीं आती बल्कि वहाँ के उद्योगपतियों का मन करुणामय हो जाता है। इस चरखे की खादी से दूसरी ओर उन्होंने देश के भीतर एक प्रकार के त्यागी राष्ट्रसेवकों का दल तैयार किया, खादी पहनना उनका व्रत था इससे वस्त्र के कारण एक अपनत्व की भावना उत्पन्न हुई। इस खादी के वस्त्र द्वारा जो करोड़ों जनता इस देश में थी उसके साथ वस्त्र के कारण एकरूपता आयी। विदेशी सरकार ने जो वस्त्र-विभेद के कारण एक समाज में खाई पैदा कर दी थी वह खादी ने समाप्त कर दी। भोजन, भेष, भाषा में जो भिन्नता का बीज बोया जा रहा था उसे समाप्त करने का काम गांधी जी ने चरखा द्वारा प्रारम्भ किया। देश में अपनत्व और राष्ट्रीयता का जागरण हुआ।

अन्न के उपरान्त वस्त्र का ही महान महत्व है। यदि मनुष्य अन्न और वस्त्र में स्वावलम्बी हो जाता है तो वह स्वतन्त्र हो जाता है। यह स्वावलंबन की प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के स्वावलम्बन, परिवार के स्वावलम्बन, गांव के स्वावलम्बन से चलकर राष्ट्र स्वावलंबन में बदलती है। मनुष्य के पास भगवान ने हाथ पैर की बड़ी शक्ति दी है। उस शक्ति का प्रयोग यदि प्रत्येक व्यक्ति करता है तो उसका कर्तृत्व बढ़ता है। बच्चों से लेकर बुड्ढों तक, महिलाओं से लेकर पुरुषों तक सबके हाथ चलते हैं तो प्रतिदिन करोड़ों गज वस्त्र का निर्माण होता है। महात्मा गांधी ने इसे प्रतिदिन का यज्ञ माना, शिक्षण का माध्यम माना, जीवन की सुरक्षा माना और धन की प्रतिष्ठा माना। प्रतिदिन अरबों घण्टे हमारे बेकार हो रहे हैं उनका सदुपयोग चरखे से ही सम्भव है। चरखा पेट भर अन्न, तन भर वस्त्र, स्वाभिमान पूर्वक अपने घर में बैठ कर जीविका चलाने की शक्ति देता है।

गांधी जी की पैनी दृष्टि इसी चरखे की ओर पड़ी और इसके धागे को उन्होंने सोने-चांदी से भी श्रेष्ठ माना। सूत की करेंसी भी चलायी। उत्पादक श्रमिक को प्रतिष्ठा प्रदान की। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को जगा कर उन्होंने वस्त्र को बाजार से हटा दिया। केवल भारत वर्ष के लिए ही नहीं दुनिया के मानव के लिए यह संदेश दिया कि अत्यधिक उत्पादन की जगह पर सभी व्यक्तियों द्वारा उत्पादन श्रेष्ठ हैं। भारत वर्ष के लिए चरखा बहुत ही आवश्यक है, यह बहुत ही व्यावहारिक है इसे तुरन्त अपनाया जा सकता है। क्योंकि इसके लिए न तो अधिक पूँजी और न तो खर्चीले यन्त्र, खर्चीले कच्चे माल की आवश्यकता होती है, इसके लिए कच्चा माल और यन्त्र सभी जगह सस्ते और आसानी पूर्वक उपलब्ध होते हैं। भारत वर्ष के गरीब और अशिक्षित नागरिक के पास जितना कौशल और बुद्धि है उतनी ही इस चरखा को चलाने में आवश्यक है। बहुत बड़े कौशल की आवश्यकता इसमें नहीं होती है। इसके चलाने में बहुत कम शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। छोटे छोटे बच्चे, बुड्ढे, सभी इसे चला सकते हैं और अपने परिवार की आवश्यकता की तृप्ति कर हैं। आज भी चरखे की परम्परा इस देश में मौजूद है। वस्त्र की आवश्यकता विश्व व्यापी है। इसलिए यह एक आय की समृद्धि का साधन भी बन सकता है। अकाल के समय जब खेती नष्ट भ्रष्ट हो जाती है तब भी और सामान्यतः बराबर वर्ष भर यह चलाया जा सकता है। अकाल के भय से मुक्ति मिल सकती है। इस देश के वासी चूल्हा, चक्की और चरखे को पवित्र मानते हैं, इसलिए इसकी पूजा करते हैं। चरखा प्रत्येक झोपड़ी तक प्रत्येक परिवार तक पहुँच कर वहाँ के दारिद्र्य नग्नता का निराकरण तो करता ही है साथ ही साथ झोपड़ी से महलों तक सबके लिए एक संदेश देता है। भारतीय गाँव के जीवन में एक उल्लास का भाव पुनः जाग्रत होता है। लाखों भारतीयों के जीवन-यापन का यह साधन है। ग्रामीण की शक्ति गाँव में ही अक्षुण्ण रह जाती है। चरखे से सभी अन्य प्रकार के उद्योगों का संचार होता है। सभी साथ साथ विकसित होने लगते हैं। गाँव को सभी वस्तुओं के लिए स्वावलम्बी बना देते हैं। सम्पत्ति का वितरण सभी में कर्तृत्व के कारण सम होने लगता है। करोड़ों हाथों को बेकार करने वाली बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग समाप्त होकर करोड़ों हाथों को रोजगार मय

करने का कार्य चर्खा आरम्भ करता है। वस्त्र, अन्न, तेल, गुड़, जूता, बर्तन आदि वस्तुयें विपुलता में प्राप्त होने लगती हैं। सर्व सुलभ होती हैं। मँहगे सस्ते की समस्या ही समाप्त हो जाती है। खेती-बारी, पशुपालन, उद्योग एक दूसरे के सहायक होकर एक दूसरे को समृद्धिशाली बनाते हैं। करोड़ों हाथों की मशीन से उत्पादन सभी जगह होने लगता है। यह उत्पादन आवश्यकतानुसार तथा सर्व सुलभ होने लगता है। गांधी जी विदेशी वस्त्र को शरीर के अन्दर बाहरी तत्व के समान मानते हैं। विदेशी वस्त्र का प्रत्येक गज भूखे दीन भारतीयों के मुँह से रोटी का एक ग्रास छीन लेता है। 'खादी के धागे-धागे में लाखों माँ, बहनों का प्यार भरा' का स्वरूप दिखाई देता है। उनके सपनों के भारत में घर-घर चर्खा चलेगा। सभी को अपने घर-गाँव में स्वास्थ्यवर्द्धक वातावरण में कार्य मिलेगा। एक-एक क्षण का प्रयोग होगा। समय की बर्बादी नहीं होगी। सभी काम आवश्यक होंगे।

गांधी जी ने ऐसी आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें सघन खेती, छोटे पैमाने पर व्यक्तियों द्वारा खाद्य पदार्थ—साग-सब्जी, फल-फूल, पशुपालन से सम्पन्न सहकारी प्रयासों पर आधारित होगी। इस खेती में मशीन, बड़े पैमाने पर खेती, सामूहिक खेती नहीं होगी। दूसरे, कृषि के सहायक कुटीर उद्योग विकसित होंगे, उनके लिए कच्चा माल गाँव से ही प्राप्त होगा। तीसरे, गो-सेवा पशुप्रधान कृषि की अर्थव्यवस्था में ऐसी स्थिति होगी कि जो कुछ भूमि से फसलों के रूप में प्राप्त होगा वह गोबर की खाद के रूप में भूमि को वापस कर दिया जायगा। चौथे, पशु, मनुष्य और वनस्पतियों का सम्बन्ध उचित और सन्तुलित होगा। उनमें पारस्परिक लाभ की व्यवस्था होगी। पांचवें, पशु और मनुष्य की शक्ति का पूरा-पूरा प्रयोग और संरक्षण होगा। बड़ी-बड़ी मशीनों और शोषणपूर्ण बाजारों द्वारा इनका शोषण नहीं किया जायगा। छठे, ग्रामोद्योगों का पूर्ण विकास किया जायगा और उसमें चरखा और खादी सबसे बड़ा केन्द्र होगा। सभी व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए अपने ही उपकरणों, अपने ही हाथ पैर पर निर्भर रहेंगे। इस प्रकार से सबका स्वावलम्बन स्वाभिमानपूर्ण समृद्धिशील जीवन होगा।

खादी और चरखा बहुत ही सस्ते और सर्वसुलभ हैं। हमारा यह भ्रम है कि हम खादी को महँगा, ग्रामोद्योग की वस्तुओं को महँगी और मिल के कपड़ों को सस्ता, कारखाने के सामान को सस्ता समझते हैं।

यह अर्थशास्त्र जिसके द्वारा हम सस्ते को महँगा और महँगे को सस्ता समझते हैं बड़ा ही भ्रान्तिमूलक है। मिल और कारखाने अपनी बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा लाखों मनुष्यों को वेकार कर देते हैं, ये वेकार मनुष्य क्रयशक्ति विहीन होकर अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए तड़पते हैं, भूखों मरते हैं, वस्त्रविहीन होते हैं। कल्याणकारी सरकार मिलों और कारखानों पर टैक्स लगाकर इन वेकार मनुष्यों को भिक्षा देकर दान देकर जिलाती है। ऐसे मनुष्य, जो सरकार की इस भिक्षा पर जीवित रहते हैं, स्वाभिमान रहित, पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं, गुलाम से भी निकृष्ट उनका जीवन होता, इनके हाथ पैर इनकी बुद्धि वेकार होती है। काम न करने से उनका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है, शारीरिक विकास भी नहीं होता, रोगग्रस्त होते हैं। कल्याणकारी राज्यों को इन सबकी सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है। भिक्षुक कर्मशालायें चलानी पड़ती है, यह वेकारी जघन्य अपराध और पाप का कारण बनती है। अपराध वृद्धि, अनैतिकता आदि का प्रसार होता है। आत्म-हत्यायें, आलस्य आदि की वृद्धि होती है, यह है मिल और कारखाने की मशीनों का परिणाम। यह बहुत ही महँगा पड़ता है।

जो थोड़े से व्यक्ति औद्योगिक नगरों में इन मशीनों के पुर्जे बनकर कार्य करते हैं, वे नर कंगाल गन्दी बस्तियों, गन्दे वातावरण, गन्दे जीवन के कारण अपने सारे मानवीय आनन्द खो देते हैं, उनकी व्यवस्था के लिए, उनके कल्याण के लिए राज्य को श्रमकल्याण के कार्य करने पड़ते हैं; वे अपना स्वास्थ्य, अपनी नैतिकता तो खोते ही हैं साथ ही साथ एक घृणित प्राणी बनकर जीवन यापन करते हैं। यह सब इन मशीनों और कारखानों के कारण ही होता है। इन त्रुटियों और कलंक को मिटाने के लिए राज्य को बहुत धन व्यय करना पड़ता है। यह बहुत ही मँहगा पड़ता है।

ग्रामोद्योग की वस्तुओं के उपभोग से जैसे हाथ की बनी चीनी, हाथ-कुटा चावल, तेलघानी का तेल आदि बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। इसके उपभोग से मनुष्य स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है। अस्वस्थता पर, बीमारी पर बिल्कुल ही व्यय नहीं करना पड़ता है। परन्तु जब हम मिल की चीनी, मिल का तेल, मिल के चावल का उपभोग करते हैं तो अनेक रोगों के शिकार होते हैं और डाक्टर एवं औषधियों पर अधिक से अधिक

व्यय करना पड़ता है, इसलिए ग्रामोद्योग की वस्तुएँ सस्ती और मिल-कारखाने की वस्तु मँहगी पड़ती है।

यदि हम खादी को ही लें तो खादी करोड़ों व्यक्तियों को रोजगार देती, स्वाभिमान पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति देती है। समाज में जो पेशे के कारण ऊँच-नीच का भेद है उसका निराकरण करती है। श्रम को प्रतिष्ठा देती है। सभी के कर्तृत्व और पुरुषार्थ को उचित अवसर देकर उनकी इन्द्रियों को विकसित करती है। खादी और खादी बनाने के उपकरण का स्वामित्व उसीका होता है। इसलिए उसमें मालिक और मजदूर के विचार आते ही नहीं। किसी प्रकार के हड़ताल, ताला बन्दी के लिए कोई गुंजाइश नहीं। बच्चों से लेकर बुड्ढों तक की रचनात्मक और सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। अपने स्वस्थ परिवार के वातावरण में अपनी कुटिया और प्राकृतिक वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति कार्य करता है, और कार्य का आनन्द लेता है। अपने हाथ से बनाये हुए वस्त्र प्रयोग करता है। अपने संसार की सृष्टि राम बनकर करता है। वह बाजार से हट कर परिवार में सारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। खादी द्वारा प्राप्त सारी सम्पत्ति इस स्वावलम्बी व्यक्ति की होती है। अपने हाथ से कती हुई, अपने हाथ से बनी हुई, अपने हाथ से धुली हुई खादी धारण करके वह सुख का अनुभव करता है। मिल के कपड़े से खादी बहुत ही सस्ती पड़ती है। खादी की और मिल के कपड़े की पूर्ण लागत या यों कहें कि वास्तविक लागत को जब हम समझते हैं तो मिल का कपड़ा बहुत ही मँहगा पड़ता है।

खेती के साथ-साथ या अन्य पेशों के साथ-साथ छोटे से चरखे या छोटे से ग्रामोद्योग के यन्त्र को लेकर मनुष्य मनोरंजन के रूप में उत्पादन कार्य करता है। जितना समय मनुष्य का आलस्य और बेकारी में नष्ट हो जाता है, वह खादी या अन्य वस्तुओं के बनाने में मनोरंजन के रूप में लगता है। इसलिए इसकी कोई विशेष लागत नहीं होती, वह तो आनन्द के लिए एक कार्य बन जाता है, क्योंकि कार्य का परिवर्तन ही मनोरंजन और आनन्द है।

यह भी एक भ्रम है कि मिल और कारखानों से अधिक उत्पादन होता है। एक गांठ रुई से मिल में जितना वस्त्र बनता है, उतना ही सरल चरखे से भी बनता है। जितना तेल, जितनी चीनी, जितना आटा मिल और कारखानों से एक मन कच्चे माल से बनता है उतना ही

ग्रामोद्योग के यन्त्रों से भी बनता है। अंतर केवल यही है कि वे केन्द्रित उद्योग हैं और ग्रामोद्योग विकेन्द्रित उद्योग हैं। अधिक और न्यून उत्पादन का यह विचार भी भ्रान्ति-मूलक है।

इस प्रकार से खादी का अर्थशास्त्र हमारे लिए बहुत ही सस्ता, बहुत ही स्वास्थ्य वर्धक और बहुत ही उपयोगी है।

× × ×

गाँधी-वचन

स्वदेशी

स्वदेशी की भावना संसार के सभी स्वतन्त्र देशों में है। स्वदेशी वही है जो शुद्ध स्वदेशी हो। उदाहरण के लिए नकली खादी जो विदेशी सूत से बुनकर तैयार की गई है, स्वदेशी नहीं है। किसी भी भारतीय को अपने देश की बनी वस्तु का व्यवहार करने के लिए उपदेश करना पड़े तो यह उसके लिए शर्म की बात है।

भारत स्वदेशी की भावना के द्वारा स्वतन्त्र हुआ है और अब उसका आर्थिक विकास भी इसी भावना के द्वारा हो सकता है।

खादी

मैं (या कोई दूसरा) जिस एक उपाय का अवलम्बन कर सकता हूँ वह है त्याग-भावना से जन समाज की सेवा करना और ऐसी सेवा सिर्फ खादी के जरिये ही हो सकती है। खादी की सफलता से कारखानों का साम्राज्य तो जरूर टलेगा। गाँव की जरूरत की हर चीज गाँव में ही बननी चाहिए। खादी इसकी पहली सीढ़ी है। चरखे से निकलने वाला कच्चा धागा करोड़ों स्त्री पुरुषों में प्रेम का अटूट सम्बन्ध बाँध देता है। खादी के अर्थशास्त्र की रचना स्वदेश प्रेम-भावना और मानवता के तत्व पर हुई है। जो सस्ती खादी लेना चाहते हों वे खुद कातें। खादी महँगी होने पर भी सस्ती है। हमें

यह सोचना चाहिए कि बुराई का एक मात्र रक्षक मद्य ही है। खादी का मतलब है देश के सभी लोगों के आर्थिक स्वातन्त्र्य और समानता का आरम्भ।

खादी परमार्थ का शास्त्र है और इसी कारण सच्चा अर्थशास्त्र भी है। खेती किसान का धड़ है और चरखा हाथ पैर। जिस तरह हम अपने ही घर का बनाया भोजन पसन्द करते हैं, वैसे ही हमें कता और बुना कपड़ा (खादी) पहनना चाहिए।

स्वावलम्बन

स्वावलम्बन सफलता की पहली सीढ़ी है। हमें सबसे पहले स्वावलम्बन का पाठ सीखना और यह जानना चाहिए। मेरा मुख्य काम तो लोगों को दिखाना है कि वे अपनी कठिनाइयाँ स्वयं कैसे हल कर सकते हैं। यदि स्वावलम्बन का सिद्धान्त गाँवों पर लागू करें तो पहले उन्हें अपनी जरूरत की सारी चीजों का उत्पादन खुद करना होगा। स्वावलम्बन व्यक्ति के लिए उतना ही वांछनीय है जितना समाज और राष्ट्र के लिए। स्वावलम्बन द्वारा सम्पादित कार्य से सुख उपजता है। देश के हर बालक को पहले स्वावलम्बी बनने का पाठ पढ़ाना चाहिए। हमें यह गुण पाश्चात्य देश वासियों से सीखना चाहिए।

व्यापार

व्यापार किसी भी देश की समृद्धि का कारण होता है। व्यापार में लक्ष्मी का वास होता है। उसके बिना कोई भी देश उन्नत नहीं हो सकता। व्यापार के विषय में हमें ब्रिटेन के लोगों का अनुसरण करना चाहिए। उनकी व्यापारिक ईमानदारी सारी दुनिया में मशहूर है। सच्चे माने में व्यापार वही है जिससे देश के उत्पादकों को लाभ हो। व्यापार वही उचित और वांछनीय है जिसमें नैतिकता और विवेक का हनन न हो और न गरीब और असहाय लोगों का शोषण। जीवन की जितनी विधियाँ हैं उनमें व्यापार एक उत्तम विधि है, पर उसे मनुष्य ने अपनी मनमानी करके दूषित कर दिया है। यह एक ऐसा सम्मानपूर्ण पेशा है कि उसमें औचित्य और सदाचरण कायम रखने

हुए कोई भी अपनी प्रतिष्ठा नहीं गँवा सकता। व्यापारी को सबसे बड़ी सुविधा यह मिली है कि उसे विनम्र होने का प्रशिक्षण अपने आप मिल जाता है।

संगठन

मुझे स्वेच्छापूर्वक किया गया संगठन पसन्द है। संगठन के बिना न तो कोई आन्दोलन सफल हो सकता है और न किसी अच्छे हेतु का परिणाम निकल सकता है। वास्तव में संगठन का पाठ कोई चींटियों से सीखे। जहाँ वैयक्तिक शक्तियाँ काम नहीं कर पातीं वहाँ संघ और संगठन द्वारा सहज ही सफलता प्राप्त कर ली जाती है। निर्बलों को बलवान बनाना हो तो संगठन का मन्त्र फूँक दो। संगठन आधुनिक युग का एक कारगर हथियार है। संगठन के द्वारा छोटे राष्ट्र भी बड़े बड़ों को मात कर दे सकते हैं।



एकादश-परिच्छेद

गांधी जी का श्रम अर्थशास्त्र

इस अर्थशास्त्र में चूंकि मनुष्य केन्द्र बिन्दु है। सारी भौतिक क्रियाओं का उपभोक्ता, उत्पादक मनुष्य है उसी के लिये उपभोग और उसी के द्वारा उत्पादन होता है। ऐसी स्थिति में यह अर्थशास्त्र मानव शक्तियों की वृद्धि और विकास पर ही जोर देता है। मौद्रिक लाभ एवं हानि, महँगा और सस्ता का जो हौवा है, उस पर इस अर्थशास्त्र में कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता। श्रम को जो महात्म्य, एडम स्मिथ एवं रिकार्डो ने प्रदान किया, उसी को मार्क्स ने बहुत शक्तिशाली स्वरूप दिया। वस्तुओं का निर्माता श्रमिक है। वस्तुओं का मूल्य श्रम से ही निर्धारित होता, वस्तु का स्वामी भी श्रमिक ही है। पियरी साफा ने इस विचार में इतनी वैज्ञानिकता डाल दी कि यह माना जाने लगा कि श्रम वस्तु को बनाता है और एक वस्तु से दूसरी वस्तु निर्मित होती चलती है, श्रम का वस्तु से इस प्रकार से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध बढ़ता जाता है। मूल में सबके श्रम ही है। यहाँ तक तो श्रम अर्थशास्त्र का विश्लेषण हुआ था। परन्तु इसके आगे ब्रेडलेबर या कर्म मीमांसा, श्रम मीमांसा नहीं हो पायी थी। श्रम प्रत्येक मनुष्य का जीवन स्रोत है। यह वास्तव में पवित्रतम कर्तव्य है जिससे यह भौतिक शरीर अपना अस्तित्व कायम रख सकता एवं जिसके द्वारा पूरा जीवन चलता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक एवं अनिवार्य है। टालस्टाय और रस्किन ने इसकी पूर्ण विवेचना की है और इस श्रम में मानवीय मूल्य का संचार किया है। उसीको इस अर्थशास्त्र में पूर्ण विवेचना के साथ रखा गया है।

मानवता के अवमूल्यन को रोका गया है। मनुष्यों को बाजार में रखकर बेहिसाब विषमता की रचना की गई है। २ मिस्त्री=१ मजदूर; ३ मजदूर=१ सरदार; ३ सरदार=१ ओवरसियर; ३ ओवरसियर=१ सहकारी इंजिनियर; ३ सहकारी इंजिनियर=१ मुख्य इंजिनियर। मन पूछिये तो

जितनी आवश्यकता इञ्जिनियर की उतनी ही मजदूर की भी। यह स्पष्ट मानवता का हनन और शोषण है। गांधी जी ने रस्किन व टालस्टाय की रचनाओं और विचारों से अफ्रीका में टालस्टाय फार्म की स्थापना करके इस कर्म मीमांसा का प्रयोग किया था। यही नहीं बल्कि भारतवर्ष में भी आश्रमों की स्थापना करके उन्होंने इसका प्रयोग जारी रखा। इससे शारीरिक श्रम और श्रम समस्याओं की सूक्तियों का आधार तो प्राप्त हुआ। परन्तु अहमदाबाद में साबरमती आश्रम में रहते हुये जो अहमदाबाद के मजदूरों और मिल मालिकों के बीच में संघर्ष हुआ, और शंकर लाल बैंकर एवं अन्य कार्यकर्ताओं ने जब उस समस्या को गांधी जी के समक्ष रखा, तब यही श्रम अर्थशास्त्र के व्यवहारिक विश्लेषण का प्रथम चरण बना। स्वदेशी आन्दोलन के साथ २ जब यह देखा गया कि औद्योगिक नगरों जैसे अहमदाबाद, कानपुर, कलकत्ता, बम्बई आदि में मजदूरों का अधिक शोषण होता है और इस प्रकार से मालिकों और मजदूरों में संघर्ष भयानक रूप पकड़ लेता है। ऐसी स्थिति में इन समस्याओं के समाधान हेतु कोई व्यावहारिक रास्ता अख्तियार करना आवश्यक है। यह इस अर्थशास्त्र के विवेचन का दूसरा चरण है।

तीसरा चरण बिहार के किसानों, बारडोली के किसानों की दयनीय स्थिति से प्रारम्भ होता है।

चौथा चरण करोड़ों भूमिहीन बेकार हरिजनों की दुर्दशा से शुरू होता है। इस प्रकार से इस अर्थशास्त्र में जो श्रम अर्थशास्त्र की प्रमुख प्रेरणा मिलती है वह इन्हीं सोपानों से मिलती है। यहीं से मनुष्य अपमानित, पददलित और तिरस्कृत होता है। समाज का वह भाग जिसे हम मजदूर कहते हैं और जो सबसे पवित्र एवं महत्व का काम करता है उसके साथ दुर्व्यवहार गांधी जी के लिये असह्य था। इसीलिये उन्होंने श्रम अर्थशास्त्र की मूलभित्ति में जाकर यह नया दर्शन हमें दिया। इससे श्रम डिक्टेटर बन कर नहीं बल्कि एक अनिवार्य पवित्रतम आवश्यक रूप लेकर हममें कर्म और इसके महात्म्य का भाव उत्पन्न करता है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इस बात पर विशेष जोर दिया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थ करना चाहिये। इस पुरुषार्थ के अन्दर श्रम की ही प्रधानता थी। श्रम को बहुत बड़ा महत्व दिया जाता था। जब हम पश्चिमी अर्थशास्त्र व उसके विचारों को देखते हैं तो वहाँ भी श्रम का ही महत्व दिखाई देता है। बिना श्रम के उत्पादन नहीं हो सकता।

अर्थशास्त्र के जन्मदाता माने जाने वाले एडम स्मिथ ने दुनिया की सभी वस्तुओं के मूल्य को श्रम में देखा था। यह स्वाभाविक सामान्य मूल्य श्रम में ही व्यक्त हो सकता है। इसका नाम एडम स्मिथ ने प्राकृतिक मूल्य दिया था। प्राकृतिक मूल्य सम्बन्धी स्मिथ की कल्पना श्रम के महत्व को सहज ही व्यक्त करती है। आगे चल कर रिकार्डो ने भी श्रम के महत्व को स्वीकार किया और अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के मूल्यांकन में जो दर निश्चित होती है उसे भी श्रम में ही स्वीकार किया। यह एक अभूतपूर्व घटना थी। एडम स्मिथ एवं रिकार्डो की श्रम मिमांसा को मार्क्स ने अपना सूत्र बनाया। सूत्र को ही सार्वभौमिक स्वरूप दे डाला। वस्तुओं का मूल्य निर्धारण वस्तुओं का स्वामी और उपभोक्ता एक मात्र श्रमिक को ही माना, इससे श्रम के मूल्य सिद्धान्त की व्यापकता एक ओर स्पष्ट हुई दूसरी ओर पूँजी का निर्माण, श्रम का शोषण आदि का नया विश्लेषण मार्क्स ने सामने रखा। यहीं से एक नये समाज का प्रादुर्भाव होता है। मार्क्स ने इस श्रम सिद्धांत की इतनी बड़ी कल्पना सामने रखी, उसकी पुष्टि आज भी भिन्न-भिन्न रूपों में की जा रही है। सीमान्तवादी अर्थशास्त्रियों ने अपने ढंग से इसकी पुष्टि की है। पियरो स्राफा ने भौतिक उत्पादन—सिद्धान्त द्वारा इस सिद्धान्त के निर्माण में बहुत योग दिया है। नये युग का शास्त्र आर्थिक व राजनैतिक विचार, आर्थिक पद्धतियां आदि इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं कि श्रम का महत्व सार्वभौमिक हो चला है।

इन सब विश्लेषणों के भीतर जब हम जाते हैं तो एक त्रुटि बराबर दिखाई देती है और उस त्रुटि का यह कारण है कि श्रम के महत्व को स्वीकार करने के बावजूद भी श्रमिक महत्वपूर्ण नहीं बन सका। यह विडम्बना कैसे दूर हो सकती है। यहीं से नये सिरे से श्रम पर विचार करना होगा। आज तक के पश्चिमी अर्थशास्त्रियों ने श्रम को सम्पत्ति की प्रतिक्रिया मात्र के ही रूप में सामने रखा।

चूँकि सम्पत्ति का प्रति मूल्य होता है इसलिए श्रम सम्पत्ति को भी उन्होंने प्रतिमूल्य माना और इस बात का प्रयास किया कि श्रम सम्पत्ति का मुकाबला कर सके। इस साम्य के विश्लेषण में श्रम भी प्रति मूल्य की दिशा में बढ़ा। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम सम्पत्ति की तरह बाज़ारू व्यवहार में फँस कर तेजहीन हो गया। उसकी प्रतिष्ठा समाप्तप्राय हो गयी। ऐसा इसलिए हुआ कि श्रम के अन्दर जो नैतिकता, सदाचार,

मानवता, सभ्यता और संस्कृति की सुगन्ध प्रसारित होती वह सम्पत्ति की तरह श्रम को भी समझ लेने में लुप्तप्राय हो जाती है। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम के भीतर से चेतना के सभी गुण समाप्तप्राय हो गये और श्रम केवल सम्पत्ति के साम्य में महत्व तो ग्रहण कर सका परन्तु श्रमिक की महत्ता, श्रेष्ठता समाज ने ग्रहण ही नहीं की। यह सब इसलिए हुआ कि भौतिकवादी पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने श्रम के विचार को जड़वत स्वरूप में ग्रहण किया। आज साम्यवादी ऐसे देशों में भी जहाँ कि श्रमिकों का अधिनायकवाद हो, जहाँ श्रम का विश्लेषण हो वहाँ आज श्रमिक को वह महत्व न मिल सका जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी।

इसका सबसे बड़ा कारण क्या हो सकता है? इसे एक वाक्य में कह सकते हैं कि अब तक जो हमने श्रम को प्रतिमूल्य के रूप में स्वीकार किया वह सबसे बड़ा दोष है। सम्पत्ति का प्रतिमूल्य तो होता है पर श्रम का कोई प्रतिमूल्य हो ही नहीं सकता। जिस दिन श्रम के प्रतिमूल्य में हमारे विचार घुसे उसी दिन से मनुष्य जो इस सृष्टि की विभूति है उसके महत्व को स्वीकार नहीं किया जाने लगा। श्रम मानव विभूति की कला है। वह खरीदा-बेचा नहीं जा सकता, उसका दाम नहीं हो सकता है। इसी श्रम से मानव सस्कृति निकली परन्तु उस उद्गम स्थल को हमने कुछ दूसरा समझ लिया, यही इसका सबसे बड़ा दोष है। सारांश यह कि श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता है। सबसे बड़ा प्रश्न आता है कि श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं है तो क्या श्रम आर्थिक या सांस्कृतिक मूल्य है। वास्तव में श्रम एक सांस्कृतिक आवश्यकता है। पश्चिमी विद्वानों ने श्रम को आर्थिक आवश्यकता में रख कर विश्लेषण किया। अतः आज तक न तो श्रमिकों के साथ न्याय हो सका न तो उन्हें महत्व मिल सका। इसलिए हमें श्रम को सांस्कृतिक आवश्यकता मान कर उसी धरातल पर विचार करना होगा, तभी हमारी सभ्यता एवं संस्कृति वैज्ञानिक प्रगति के अनुकूल होगी। जहाँ से समस्त विश्व के श्रम अर्थशास्त्र का समापन होता है वहीं से सर्वोदय श्रम अर्थशास्त्र का प्रारम्भ होता है। जहाँ आर्थिक विचारों की समाप्ति बिन्दु है वहीं से सर्वोदय अर्थशास्त्र का आरम्भ होता है।

गाँधी जी ने श्रम अर्थशास्त्र को नयी भूमिका दी है। इस नयी भूमिका में जितने पिछले अर्थशास्त्रियों के विचार हैं उन्हें जब हम कसते हैं

तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गांधी जी ने श्रम विचार की अपूर्णता को पूर्णता में परिणित कर दिया है। अदमस्मिथ ने श्रम के प्रतिमूल्य का विचार किया और कहा कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगा श्रम है। इसलिए श्रम का प्रतिमूल्य उत्पादित वस्तु बन गयी। जिस प्रकार सम्पत्ति का प्रतिमूल्य होता है उसी प्रकार श्रम का प्रतिमूल्य माना जाने लगा। परन्तु इस विचारधारा के विकास ने श्रम का नैतिकता, मानवता, सदाचारिता, सभ्यता तथा संस्कृति का रूप समाप्त हो गया और इसीलिए श्रम सिद्धान्त निर्बल बन गया। पुनः जब रिकार्डो ने मूल्य के सिद्धान्त में श्रम का विवेचन किया तो वहाँ भी इसी प्रतिमूल्य के कारण श्रम का सिद्धान्त क्षीण हो गया। इसके बाद मार्क्स ऐसे विद्वान ने जो कि श्रम के मूल्य सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रणेता हैं, उन्होंने श्रम को प्रतिमूल्य में बांध दिया तो इससे श्रम के अधिकारों और आर्थिक महत्व पर तो वृहद विवेचन हुआ, परन्तु इसे प्रतिमूल्य में बँधने के कारण इसका नैतिक आधार ही समाप्त हो गया। जैसे कि शरीर से प्राण निकल जाय तो मात्र ढाँचा बच जाता उसी प्रकार से जब श्रम से नैतिकता, सदाचारिता, मानवता को निकाल दिया तो केवल शरीर का ढाँचा बच जाता जो मशीन की भांति काम करता रहता है। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम का सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप न ग्रहण कर सका। श्रम मनुष्य से सम्बन्धित है, मनुष्य की जीविका का साधन है, पर इससे भी बढ़कर मानवता, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रेरक स्थल है। इसलिए यदि इसमें से इन गुणों को निकाल दिया जायगा तो सहज परिणाम यह होगा कि सभ्यता एवं संस्कृति का विकास रुक जायगा। ऐसी स्थिति में श्रम का यह सिद्धान्त, मानव समाज के लिए, बेकार की वस्तु बन जाता है।

सर्वोदय अर्थशास्त्र में श्रम अर्थशास्त्र को ऊपर बताये गये मानवीय गुणों की कसौटी पर ही कसा जाता है। इस अर्थशास्त्र में यह प्रयास किया जाता कि किस प्रकार से श्रम सदाचार एवं नैतिकता का केन्द्र बिन्दु बने। यह किस प्रकार से मानव समाज के लिए सदैव सम्मान के साथ प्राप्त हो सके। इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र ने श्रम की प्रतिष्ठा, श्रम का सम्मान इतना बढ़ाया कि यह प्रत्येक मनुष्य का दैनिक धर्म हो गया। शारीरिक श्रम को पूज्य बनाया क्योंकि इन सब मानवीय गुणों के विकास के लिए—जैसे सदाचार, नैतिकता, मानवता, संस्कृति एवं सभ्यता का

विकास—श्रम का प्रतिमूल्य तो हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए मां अपने बच्चे एवं परिवार के लिए श्रम करती है तो उसका कोई प्रतिमूल्य नहीं होता। जिस दिन मां अपनी इस सेवा का प्रतिमूल्य लेने लगेगी उसी दिन मानव सभ्यता एवं संस्कृति का नाश होना प्रारम्भ हो जायगा। इसीलिए इस अर्थशास्त्र में श्रम के प्रतिमूल्य को अस्वीकार कर दिया गया है। जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति मुफ्त होनी चाहिए। जिस प्रकार की जीवनदायिनी हवा, रोशनी सबको मुफ्त मिलती है, उसी प्रकार अन्न या यों कहें श्रम से उत्पादित जीवन दायिनी वस्तुएँ सबको मुफ्त मिलनी चाहिए। यही मानव जीवन का जीवित सिद्धान्त है। भूखे को अन्न, नंगे को वस्त्र, आश्रय विहीन को आश्रय बिना किसी प्रतिमूल्य के प्राप्त हो। जितनी ही तीव्र गति से प्रतिमूल्य का सिद्धान्त समाज में प्रवेश करेगा उतनी ही गति से सभ्यता का ह्रास होगा।

श्रम का प्रतिमूल्य हो ही नहीं सकता

कार्ल मार्क्स ने क्लैसिकी अर्थशास्त्र को अदम स्मिथ, रिकार्डो आदि के विचारों को जीर्ण मतवादी विचार कह कर उपेक्षित दृष्टि से देखा, परन्तु स्वयं उन्हीं विचारों को अपने विचार का स्रोत माना है। कार्ल मार्क्स ने अपने विद्वतापूर्ण विश्लेषण में श्रम को ही सब कुछ माना है। श्रम के ही द्वारा उत्पादन होता है, श्रम ही उत्पादन का स्वामी है; श्रम ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है। श्रम ही पूँजी का सृजन करता यानी श्रम को ही सभी कार्यों का श्रोत माना। कार्ल मार्क्स ने श्रमिकों की दयनीय स्थिति देखी और उनकी दीनता से द्रवित होकर अपने विचारों को आगे बढ़ाया। करुणा का वह मार्मिक स्थल कार्ल मार्क्स को इतना भावुक बना देता है कि उन्होंने इस नये विचार का जो सृजन किया वह एक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। इसीसे उन्होंने पूँजीपति मालिक को अपदस्थ कर उसके स्थान पर श्रमिक को आरूढ़ करने का प्रयास किया। यह उनके हृदय की एक टीस थी जिसके कारण उन्होंने श्रमिकों में समस्त सत्ता के गुणों का प्रवेश करा दिया! निःसंदेह उन्होंने एक नया विचार एक नये मूल्य द्वारा श्रमिकों को दिया। उनका यह वाक्य कि "दरिद्रता बनावटी है और वह मिट कर रहेगी" इतना क्रान्तिकारी है कि किसी ने आज तक

ऐसा विचार नहीं रखा। दीनता या गरीबी ईश्वर की देन मान कर अब तक का सारा मूल्य चलता आ रहा था। मार्क्स सर्वप्रथम विचारक हैं जिन्होंने इसे अमान्य करके नयी दिशा एवं नये मार्ग का सृजन किया। इसीलिए इस क्रान्तिकारी तूफानी विचार में उन्होंने श्रमिक को सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरी स्थान दिया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रमिकों के महत्व का निरूपण मार्क्स ने किया है परन्तु वहीं पर श्रम का प्रतिमूल्य मार्क्स ने भी माना, इसका यह परिणाम हुआ कि श्रम प्रत्येक व्यक्ति के लिए पवित्रतम, आवश्यक एवं श्रेष्ठ वस्तु न बन सका। श्रम की प्रतिष्ठा श्रमिकों की प्रतिष्ठा के साथ न बढ़ सकी इसका कारण केवल यही है कि श्रमिक के श्रम का प्रतिमूल्य कार्ल मार्क्स ने उसी प्रकार से माना जैसे क्लेसिकी अर्थशास्त्रियों ने माना था। वास्तविकता यह है कि श्रम का न तो कोई प्रतिमूल्य हो सकता और न तो श्रम केवल आर्थिक आवश्यकता है; यह तो मानव की सांस्कृतिक आवश्यकता है। आज इस युग में जब हम सम्पत्ति के सम वितरण पर विशेष आग्रह कर रहे हैं, शोषण का अन्त करना चाहते, एक ऐसे समाज जिसकी नींव सामाजिक समता, सामाजिक कल्याण हो उसके निर्माण में हम तत्पर हों ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता कि किस प्रकार से अधिकतम उत्पादन हो और उचित वितरण हो। इसीलिए आज हमारे सामने दो प्रश्न हैं। (१) प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार पुरस्कार मिले। दूसरे शब्दों में वह जितना श्रम करता है उसी के अनुसार उसे उपभोग का अवसर मिले। (२) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता अनुसार ही श्रम करे अर्थात् उतना ही श्रम करे जितनी उसकी उपभोग की आवश्यकता है। इन दोनों प्रश्नों पर जब हम सोचते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले में तो आवश्यकता गौण हो जाती है जो कि उचित नहीं है और दूसरे में सामाजिकता गौण हो जाती है, यह भी उचित नहीं है। तो यह प्रश्न उठता कि इसका समाधान क्या है ? इसके लिए तीसरा विकल्प हमारे सामने आता है कि हम योग्यतानुसार श्रम करें और आवश्यकतानुसार उपभोग करें। परन्तु सामाजिकता एवं आवश्यकता दोनों को जब हम अपने समक्ष रखते हैं तो ऐसा लगता है कि इन दोनों से श्रेष्ठ वस्तु मनुष्य की नैतिकता एवं मानवता है। इस नैतिकता एवं मानवता का विकास तभी हो सकता है जब हम संयम का पालन करें . दूसरे, जो प्रेरक शक्ति है वह आर्थिक न होकर मानवीय हो।

क्लैसिकी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिमूल्य को ही मनुष्य के कार्य करने की प्रेरणा माना। उन्होंने कहा कि अधिक से अधिक प्रतिमूल्य ही मनुष्य को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। मार्क्स ऐसे समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने इस प्रेरणा के लिए सामाजिक भावना को उत्तम माना। श्रम के प्रतिमूल्य की प्रेरक शक्ति से एक कदम हम आगे बढ़कर सामाजिक भावना की प्रेरक शक्ति तक आये। परन्तु मार्क्स ने सारी आर्थिक क्रियाओं की नींव में ही सामाजिक शक्ति को निहित कर दिया। इसीलिए उनकी यह सामाजिक प्रेरणा मानवीय नहीं बन सकी क्योंकि यह सामाजिक प्रेरणा उसी प्रकार से स्वार्थलिप्त होती जिस प्रकार से व्यक्तिगत प्रेरणा। दोनों के स्रोत और दोनों के स्वार्थों में कोई भेद नहीं होता। किसी व्यक्ति को दुःख में तड़पते देख कर, जलते देख कर भूख से पीड़ित देख कर जब हम स्वयं तड़प उठते हैं और बिना अपना स्वार्थ देखे सब कुछ उसको देने के लिए तत्पर हो जाते हैं तो यहाँ कौन सी प्रेरक शक्ति है? जब मां अपने बच्चे के लिए चौबीस घण्टे सेवा करती है, इसके पीछे कौन सी प्रेरणा शक्ति है? निःसन्देह यह न तो क्लैसिकी अर्थ शास्त्रियों द्वारा बताई गयी प्रेरक शक्ति है और न समाजवादियों द्वारा बतायी गयी। यह तो मानवीय प्रेरणा है। जब हम मानवीय प्रेरणा से कार्य करते हैं तभी अधिकतम उत्पादन होता है, अधिकतम सम-वितरण होता है, सारा मानव सुखी एवं सम्पन्न होता। यहीं से संस्कृति एवं सभ्यता का विकास होता है।

इसी से सम्बन्धित एक दूसरा प्रश्न है जिसे हम आवश्यकता एवं उपभोग का प्रश्न कहते हैं। जिस प्रकार से श्रम का निरूपण पहले विचार में प्रतिपादित हुआ और वह मानव संस्कृति व सभ्यता के अनुकूल हुआ। उसी प्रकार से आवश्यकता का प्रश्न भी मानवीय पहलू रखता है और उससे भी सभ्यता व संस्कृति का निरूपण हो सकता है। एक तरफ मनुष्य की अपरिमित इच्छा है। दूसरी तरफ मनुष्य की सीमित उपभोग शक्ति है। यहीं पर प्रश्न उठता कि असीमित वासना व इच्छा एवं सीमित उपभोग शक्ति के बीच सामन्जस्य कैसे स्थापित किया जाय। दोनों के बीच संयम का होना जरूरी है। यही संयम सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक है।

उपभोग का मानव संस्कार से सम्बन्ध है। हम असीमित इच्छाओं एवं वासनाओं को एक तरफ और सीमित उपभोग शक्ति को दूसरी तरफ

पाते हैं और दोनों के मध्य एक संयम की आवश्यकता है। इसीलिए यह स्वाभाविक है कि उससे मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता विकसित हो। आज जब हम उपभोग को प्रधानता देते हैं तो उसका अर्थ है कि वासना को प्रधानता देते हैं और जब वासना को प्रधानता देते यानि असीमित इच्छाओं को प्रधानता देते हैं, इससे लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, शोषण, संग्रह आदि भावना सहज ही में उत्पन्न हो जाती है। ये सब दुर्गुण मानव सभ्यता एवं संस्कृति के नहीं बल्कि उसके विकारों के हैं। इसीलिए उपभोग को मानवता का संकेत नहीं माना जा सकता है। अधिकतम वस्तुओं का उपभोग यदि रहन-सहन के स्तर का मापदण्ड बन जाता है तो सभ्यता का ह्रास होता है। भोग प्रधान समाज असांस्कृतिक और असभ्य माना जाता है, क्योंकि उससे संस्कारों का सृजन नहीं होता। यही कारण है कि जब जब संसार में भोग का आधिक्य हुआ है, यानी भोगशील समाज बना है तब तब सभ्यता का ह्रास हुआ है। इसीलिए भोगप्रधान जीवन न होकर उत्पादन-प्रधान होना चाहिए।

अब तक की आर्थिक पद्धतियों एवं व्यवसायों में हम भोग को ही प्रधानता देते रहे हैं, अब उस प्रधानता को हमें उत्पादन पर लाना होगा और उपभोग में संयम का प्रवेश कराना होगा। तभी अर्थशास्त्र मानव-शास्त्र बन सकेगा। इस प्रकार अब तक जो आवश्यकता को प्रधानता देकर समाज के सृजन का प्रयास किया गया उसी से आज की भौतिक सभ्यता का विकास हुआ, परन्तु सर्वोदय अर्थशास्त्र इन्हें प्रधानता न देकर मनुष्य को प्रधानता देता है। मनुष्य को प्रधानता देने का अर्थ है कि मनुष्य उत्पादन में अपने पुरुषार्थ को आगे बढ़ाये अर्थात् श्रम करें। ऐसा उत्पादन करें कि समाज में प्रत्येक की आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक आवश्यकताओं की तृप्ति हो और वस्तुओं की विपुलता हो। जहाँ तक उपभोग का सम्बन्ध है उसमें भी उन्हीं वस्तुओं का उपभोग हो जो समाज को स्वस्थ बनायें, जिसमें संयम हो और जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध हो सकें। विनिमय एवं वितरण में भी मानवता, सदाचारिता एवं नैतिकता हो। इस प्रकार से जो अर्थशास्त्र बनेगा उससे सुसंस्कृति पूर्ण समाज का निर्माण होगा। इसलिए यह स्पष्ट हो गया है कि श्रमिक की सामाजिकता एवं आवश्यकता किस प्रकार से श्रमिकों के पुरस्कार एवं उसके निर्धारण में मानवीय पहलू का स्थान ले सकती है। अब तक के प्रचलित विचारों में इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया गया है कि श्रम

के पुरस्कार निर्धारण का सिद्धान्त कैसे मानवीय सभ्यता का संरक्षण कर सकेगा। सर्वोदय अर्थशास्त्र इसका सही उत्तर देता है। किसी भी सिद्धान्त में इसका सही उत्तर होता है। किसी भी सिद्धान्त में इस बात का उल्लेख अवश्य होना चाहिए कि श्रम के प्रतिमूल्य का क्या आधार होगा। क्योंकि भविष्य का जो समाज हमारे सामने है और जिसमें टेकनालॉजी का इतना विकास हो जायगा कि श्रमिक की बिलकुल आवश्यकता ही नहीं रहेगी, उस समय जब कि सारा काम मशीन से होगा और मनुष्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी, उस समय श्रम के प्रतिमूल्य की क्या स्थिति होगी? इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित है कि श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं होगा और भविष्य का सभ्य समाज बिना प्रतिमूल्य के ही रहेगा।

ऐसा हम मान रहे हैं कि जब टेकनालाजी का बहुत अधिक विकास हो जायगा और विज्ञान ऐसी स्थिति में हमें पहुँचा देगा कि प्रचुर मात्रा में उत्पादन होगा और मनुष्य को शारीरिक श्रम नहीं पड़ेगा तो श्रम का पुरस्कार कैसे निर्धारित होगा। इसका अर्थ है कि भावी समाज में श्रम का आर्थिक पुरस्कार आवश्यक ही नहीं होगा। उस समय यह मान्यता ही समाप्त हो जाती है कि श्रम के लिए कोई प्रतिमूल्य होना चाहिए। इसलिए श्रम आज की तरह चाहे वह पूँजीवादी, चाहे साम्यवादी हो आर्थिक आवश्यकता से नहीं बँधेगा। दूसरे शब्दों में श्रम आर्थिक आवश्यकता न होकर मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता बनेगा। वह उसी प्रकार से प्रत्येक मनुष्य के लिए उपलब्ध होगा जैसे कि बीमार के लिए सेवा एवं औषधि, उसी प्रकार भूखे के लिए अन्न, आश्रयविहीन के लिए आश्रय, नंगे के लिए वस्त्र, यही एक मानवीय दृष्टिकोण बनकर इन मूलभूत आवश्यक वस्तुओं में दिखाई देगा। यही आर्थिक क्रियाओं का मानवीय पहलू है। आर्थिक क्रियाओं में संस्कृति एवं सभ्यता का यहीं से विकास होगा और अर्थशास्त्र पर लगाया गया यह आरोप, जिसे इतिहास ने सिद्ध किया कि आर्थिक लोभ, भौतिकता का मोह, संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य को असभ्य एवं असांस्कृतिक बनाती हैं, वह समाप्त हो जायगा। निःसन्देह मनुष्य की मूलप्रवृत्ति अपने को जीवित रखने की होती है। अपने को जीवित रखने की प्रवृत्ति एवं उपादान जब मानवीय प्रेरणा और मानवीय पहलू को लेकर चलेंगे तो उनसे मानवता का ह्रास नहीं होगा परन्तु जब उसके उपरान्त मनुष्य की दूसरी

प्रवृत्ति जिसे भौतिक विकास की प्रवृत्ति कहते हैं उत्पन्न होती तब हमारी भौतिकता उग्ररूप धारण करती और लोभ, लोलुपता, शोषण आदि की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

गाँधी जी के श्रम सिद्धान्त का स्वरूप

गांधी जी ने मनुष्य के श्रम को एक निर्जीव वस्तु नहीं माना। उन्होंने श्रम में मनुष्य को देखा जो उचित ही है, इसलिए उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा के लिए बहुत अधिक प्रयास किया। उनका सारा आर्थिक विचार मानवता पर आधारित है। इसलिए श्रम भी मानवता पर ही आधारित है। उन्होंने श्रम को समग्र दृष्टिकोण से देखा और यह माना कि श्रम मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता तो है ही साथ ही साथ इस शरीर को कायम रखने के लिए भी आवश्यक है। इसलिए श्रम को जीवशास्त्री के रूप में, एक डाक्टर के रूप में, एक अर्थशास्त्री के रूप में, एक राजनीतिज्ञ के रूप में, एक समाज सुधारक के रूप में और एक धर्मनिष्ठ के रूप में गांधी जी ने देखा।

(१) इस शरीर के अस्तित्व के लिए श्रम बहुत आवश्यक है। शरीर के अस्तित्व एवं पोषण के लिए जितना खाद्य पदार्थ जरूरी है उतना ही शरीर श्रम भी जरूरी है। शरीर के अवयवों का विकास ही न हो यदि उन्हें श्रम द्वारा पुष्ट न किया जाय। मनुष्य के जीवन में बचपन से वृद्धावस्था तक हम पाते हैं कि शरीर श्रम उसके लिए जीवन दायिनी वस्तु है। गांधी जी ने शरीर रक्षण के लिए शरीर श्रम को एक धर्म माना है। यहाँ पर गांधी जी ने एक जीव वैज्ञानिक के विचारों को तथा धर्मनिष्ठ विचारकों के विचार को अच्छी प्रकार से एक साथ रखने का प्रयास किया है। वैज्ञानिक और धार्मिक दोनों के तुलन को गांधी जी ने मिलाने का प्रयास किया।

(२) समाजशास्त्री के रूप में—प्रकृति ने प्रत्येक व्यक्ति को समाज में सम-बनाया है। परन्तु समाज में जो पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं उनके आधार पर ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित, राजा प्रजा, मालिक मजदूर आदि का भेद उत्पन्न होने पर समाज दूषित एवं पीड़ित होता है। ये सम्बन्ध बनावटी हैं और इन बनावटी सम्बन्धों से समाज एक

है। बहुत से चिन्तक इस क्षेत्र में समाधान प्रस्तुत कर चुके हैं, क्रान्तियाँ भी हो चुकी हैं। फ्रांस की राज्य क्रान्ति समता, स्वतन्त्रता भ्रातृत्व के नारे से केवल एक शृंखला टूट सकी और उस शृंखला के टूटने से राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं समता प्राप्त हो सकी। दूसरी क्रान्ति रूस की थी जिसने आर्थिक समता स्थापित की। जितने भी उपक्रम मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिए किये गये उनमें सबसे बड़ा उपक्रम मार्क्स का है। उन्होंने वर्गविहीन समाज की कल्पना दी और इन सब सामाजिक बन्धनों को बनावटी बताया। विषमता कोसमाप्त करने के लिए जितने भी प्रयास आज तक हुए वे सब अधूरे ही रहे हैं। गांधी जी ने अपने श्रम अर्थशास्त्र द्वारा इन सब विकृत सामाजिक सम्बन्धों की जो बुनियाद है उसी को नष्ट कर दिया और रस्किन की उस अन्तोदय की विचारधारा को जिसमें सभी कार्य बराबर हैं और महत्वपूर्ण हैं का ऐसा भाष्य किया कि कार्य को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उन सब कार्यों को, जो समाज में घृणित समझे जाते—जैसे भंगी का काम, किसान का काम, मजदूर का काम, प्रतिष्ठा प्रदान की। दूसरे शब्दों में शरीर श्रम को उतना ही पवित्र माना जितना की शरीर को। इसीलिए सफाई और कताई को प्रत्येक व्यक्ति की नित्यक्रिया का जीवन व्रत बना दिया है। यही गांधी जी की सामाजिक समता की क्रान्ति कही जाती है। शरीर श्रम को प्रतिष्ठा प्रदान कर एक वर्ग-विहीन समाज की कल्पना उन्होंने की। उनका श्रम अर्थशास्त्र इस उद्देश्य की पूर्ति तो करता ही है, साथ ही साथ एक नये उत्पादक आर्थिक समाज की भी कल्पना करता है। यह है गांधी जी के श्रम अर्थशास्त्र का सामाजिक पहलू।

(२) आर्थिक पहलू—अर्थशास्त्र अब तक उदरशास्त्र में ही समाहित होता रहा है। लेकिन गांधी जी ने इस उदर दर्शन को या देहदर्शन को सांस्कृतिक और मानवीय स्वरूप दिया। गांधी जी ने श्रम को ही मानव जीवन की कसौटी माना। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति में स्वावलम्बी बने। उन्होंने कहा कि बिना श्रम किये जो खाये वह चोर है। जब प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपने उपभोग के लिये उत्पादन करे, शरीरश्रम करे तो उसका उपभोग स्वयं मर्यादित हो जाता है। उसके व्यवहार सांस्कृतिक एवं मानवीय हो जाते हैं। इस अर्थव्यवस्था में उपभोग के लिए आवश्यक है कि शारीरिक श्रम किया जाय। सभी उत्पादक होंगे,

ऐसा नहीं होगा कि कुछ लोग उत्पादक हों और बाकी उपभोक्ता हों। इस प्रकार जो वर्ग बनेगा वह उत्पादक एवं एकरस समाज का होगा। इसमें उत्पादक वर्ग को प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। जब प्रत्येक व्यक्ति पहले उत्पादक होगा तो वितरण की समस्या अपने आप समाप्त हो जायगी क्योंकि उत्पादक और उपभोक्ता के बीच कोई अन्य कड़ी नहीं होती। उत्पादक स्वयं ही उपभोक्ता होता है और असमर्थ, बीमार, बूढ़े, बच्चे आदि को वह पोषण देता है। लेकिन इस पोषण का वह कोई भौतिक पुरस्कार नहीं चाहता है। वह तो अपनी कर्त्तव्य बुद्धि के आधार पर करता है। यहाँ भ्रातृत्व की व्यवस्था पारिवारिक पद्धति से चलने लगती है। यह सब इसलिए सम्भव है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं श्रम करता है। व्यक्ति स्वावलम्बी और परस्परावलम्बी प्रक्रिया से समाज में रहता है।

(४) राजनैतिक पहलू—लोकतन्त्र ने सबको राजनैतिक समता एवं स्वतंत्रता प्रदान की है। परन्तु आर्थिक समता व स्वतन्त्रता स्थायी रूप से लोकतन्त्र से नहीं प्राप्त हो सकी। इस सम्बन्ध में दूसरा विचार साम्यवाद का आया उसने वर्ग-विहीन समाज की कल्पना दी। लेकिन वह वर्ग-विहीन समाज समता लाने में पूर्ण सफल नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि लोकतन्त्र एवं साम्यवाद दोनों के प्रयोग चल रहे हैं और उनमें अभी पूर्णता परिपक्वता नहीं आयी और दूसरे, दोनों भौतिक वस्तुओं के उपभोग में पूर्ण निष्ठा रखते हैं। उनमें केवल उपभोग निष्ठा है, उत्पादन निष्ठा नहीं है। उपभोग में समता अस्थायी होती है और वह समाज में स्थायी समता नहीं ला सकती है। विषमता उत्पन्न होने का स्थान है उत्पादन। इसलिए उत्पादन के क्षेत्र में जब समता का प्रवेश होता है तभी वह समता स्थायी हो सकती है। चूंकि उत्पादन के लिए श्रम आवश्यक है और सब प्रकार की समताओं के होते हुए भी उत्पादन के क्षेत्र में समता न होने के कारण एक विषमता शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम करनेवालों की खड़ी हो जाती है और पुनः दो वर्ग बन जाते, एक बुद्धिजीवि दूसरे श्रम जीवी। ठीक-ठीक दूसरे रूप में सामाजिक विषमता के वे ही सम्बन्ध आ जाते हैं, जो राजा, प्रजा, मालिक मजदूर, के थे। इसलिए समग्र समता साम्यवाद में भी नहीं आ सकी और प्रबन्धकों का एक नया वर्ग पैदा हुआ और समाज में वे लोग उच्च और शरीर श्रम करने वाले निम्न समझे जाने लगे।

सर्वोदय अर्थशास्त्र में शरीर ऐसा ही पवित्र शरीर श्रम माना गया और शरीर श्रम प्रत्येक मनुष्य के लिए पवित्रतम कार्य माना गया। ऐसी स्थिति में वही वस्तु जो सबसे अधिक भेद मूलक बन गयी थी और साम्यवाद ऐसे समाज में विषमता का द्योतक हो रही थी वह इस व्यवस्था में समाप्त हो जाती है। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति में समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की शक्ति उत्पन्न होगी। उत्पादन, उपभोग, तथा अन्य क्षेत्र में समता की स्थिति आवश्यक है, लेकिन जब तक उत्पादन के क्षेत्र में समता नहीं रहेगी तब तक अन्य क्षेत्रों में समता सम्भव नहीं है, इसलिए उत्पादक वर्ग को अधिक प्रतिष्ठा और प्रधानता इस अर्थ शास्त्र में दी गयी है। इस प्रतिष्ठा और प्रधानता के मूल में शरीर श्रम ही प्रधान है; इसलिए प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक श्रम द्वारा मानवीय समता को कायम कर सकेगा। यही वास्तव में राजनैतिक समता कही जायगी।

(५) सांस्कृतिक पहलू—मनुष्य जहाँ अन्य शक्तियों से अनुप्राणित होता है वहाँ सबसे प्रमुख शक्ति सांस्कृतिक शक्ति है। बिना संस्कृति के हम मनुष्य की मनुष्यता की कल्पना नहीं कर सकते हैं। सांस्कृतिक विषमता मनुष्य को बहुत अपमानित करती है। विभिन्न संस्कृतियों के आधार पर मनुष्य के समाज में भिन्नतायें बतायी जाती हैं। एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से ऊँची मानी जाती है दूसरे शब्दों में एक मनुष्य या एक समाज दूसरे मनुष्य या दूसरे समाज से श्रेष्ठ व निकृष्ठ माना जाता है। इसका कारण यही है कि कोई शाश्वत् मानवीय मूल्य नहीं है। शाश्वत् एवं मानवीय वही मूल्य हो सकते हैं जो मनुष्य की मूलभूत शक्तियों से संबद्ध है। यदि हम मनुष्य के शरीर श्रम से जो उसके लिए अनिवार्य एवं आवश्यक है संस्कृति को जोड़ते हैं तो कोई संस्कृति एक दूसरी से श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट तथा-कथित संज्ञा नहीं ले सकती है। सभी में समानता और एकता होती है। जब मनुष्य का कलात्मक विकास उसके जीवन से सम्बद्ध होता है तो वही वास्तविक जीवन होता है और वही वास्तविक संस्कृति एवं सभ्यता होती है। इसलिए इस अर्थशास्त्र में संस्कृति का स्रोत मानवीय श्रम माना गया है। यह संस्कृति शोषण पर ऊँच नीच पर न निर्धारित होकर भेद मूलक न बन कर समता मूलक होगी।

इस प्रकार से श्रम अर्थशास्त्र इन समस्त समताओं को, स्वतंत्रताओं को और भ्रातृत्व की भावनाओं को एक साथ सर्वाङ्गीण रूप में प्रतिष्ठा

प्रदान करता है और नये समाज को इन मूल्यों से ओत प्रोत करता है जो मूल्य युग की मांग बन गया है।

पारिश्रमिक का परिवर्तित रूप

पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा में कम-से-कम काम, अधिक-से-अधिक दाम, पुनः काम के अनुसार दाम का रूप आया। साम्यवादी घोषणा पत्र में कहा गया 'जो अपने परिश्रम से अर्जित करता है उस पर उसका अधिकार है।' पुनः यह कहा गया, 'हम सारी सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं'' केवल उस सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं जो मनुष्य ने अपने श्रम से नहीं अर्जित की है '''' जो सम्पत्ति श्रम से अर्जित है वह नहीं समाप्त होगी।' आगे साम्यवाद का यह सिद्धान्त है 'अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम, आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक' परन्तु इसी में अन्तर्विरोध है कि श्रम से अर्जित सम्पत्ति पर श्रमिक का अधिकार भी होगा। ये अन्तर्विरोध की समस्यायें साम्यवाद में स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं।

इन समस्याओं के निराकरण के लिए गांधी जी ने 'शरीर श्रम' को व्रत माना, पवित्रतम कार्य माना। हेन्ट सायमन ने परिश्रम को मनुष्य का गुण और चरित्र माना है। गीता ने परिश्रम को स्वधर्म विशिष्ट धर्म माना। इसलिए परिश्रम मनुष्य का कर्त्तव्य तथा व्रत हुआ। अब परिश्रम करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है और उसका फल समाज का भगवान् का है। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा तथा शोषण का दुर्गुण भी समाप्त हो गया और साम्यवाद की प्रेरणा का प्रश्न भी हल हो गया और उसका अन्तर्विरोध भी समाप्त हो गया। विनोबा के शब्दों में "सब सम्पत्ति रघुपति कै आही," से सारा विरोध समाप्त हो जाता है। यह 'उत्पादक शरीर श्रम' का व्रत दादा धर्माधिकारी के शब्दों में हो गया। इसी से यह साम्यवाद का विरोध भी समाप्त हो गया जो "जितनी क्षमता उतना काम, जितनी आवश्यकता उतना दाम" तथा 'श्रम-मूल्य सिद्धान्त' में उत्पन्न होता है।

इस नवीन सर्वोदय श्रम के सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया कि "दूसरे को खिलाकर, खिलाऊँगा; दूसरे के लिए जीवित रहूंगा" यही अहिंसा का उपभोग है। तो इससे दूसरी भावना सह उपभोग की आयी और इससे ही सहजीवन का प्रादुर्भाव हुआ और पुनः सह उत्पादन की पद्धति शुरु हुई।

पूँजीवाद तथा साम्यवाद के विचार से सर्वोदय का विचार अधिक पूर्ण तथा क्रान्तिकारी विचार हुआ।

गांधी-वचन

बुनियादी शिक्षा

उद्योग की शिक्षा में बुद्धि की शिक्षा यानि बुद्धि का विकास छिपा ही हुआ है। मैं तो यह भी कहने की धृष्टता करूँगा कि उद्योग की शिक्षा के बिना बुद्धि का सच्चा विकास संभव ही नहीं है। शिक्षा का असली मुद्दा ग्रामोद्योग है जिसके द्वारा बच्चे का पूरा-पूरा विकास किया जा सकता है। मेरा विश्वास है कि बुद्धि का सच्चा विकास उस शिक्षा द्वारा होना चाहिए जिसमें शरीर के अंगों हाथ, पाँव, कान, नाक आदि का व्यायाम हो। प्रारम्भिक शिक्षा मैं बच्चों को ग्रामोद्योग द्वारा विशेष कर कताई और बुनाई के साथ शुरू करना चाहता हूँ। भगवान ने मनुष्य को हाथ पैर दिये हैं परन्तु सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि उसने इनसे काम न लेने की कसम खा रखी है।

———

द्वादश-परिच्छेद

(ट्रस्टीशिप) थातेदारी

प्रत्येक व्यक्ति समाज में एक दूसरे की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता से सम्पत्ति या भौतिक वस्तुओं का अर्जन करता है। मनुष्य की कोई भी शक्ति बिना एक दूसरे की सहायता के अर्जित नहीं होती है। सभी के पास पेट और शरीर की प्राथमिक आवश्यकतायें हैं। इन आवश्यकताओं की किसी देश और समाज में पूर्ण तृप्ति होती है और किसी में नहीं। ऐसी स्थिति में उत्पादित शक्ति का कुछ भाग किसी न किसी रूप में समाज के कुछ समर्थ व्यक्तियों के पास सम्पत्ति या धन के रूप में एकत्रित हो जाता है। इस सम्पत्ति या साधन का स्वामित्व उस व्यक्ति का नहीं अपितु सारे समाज का होता है। वह व्यक्ति तो केवल उसे थाती के रूप में अपने पास रखता है ताकि उसका प्रयोग समाज के लिए किया जा सके। सन्त विनोबा भावे ने 'दान' की गंगा बहाई है उसकी आधारशिला यही थातेदारी का विचार है। भूमि, सम्पत्ति, श्रम, बुद्धि, साधन, यह सब व्यक्ति विशेष के पास संरक्षण के लिए रखा हुआ है। व्यक्ति विशेष उसे समाज को लौटा दे। वह उसके उपभोग के लिए नहीं है। यह एक समाज परिवर्तन का आर्थिक विचार है। इसके द्वारा मनुष्यों के सम्पत्ति के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसका स्पष्टीकरण होता है। प्राचीन काल में स्वामित्व और सम्पत्ति दोनों प्रतिष्ठा और पराक्रम के प्रतीक थे। व्यवस्थित श्रम, स्वयं प्रेरणा, अभिक्रम, उद्योगशीलता और पुरुषार्थ से सम्पत्ति और स्वामित्व की प्राप्ति होती है। पुराने अर्थशास्त्र में जीवन, सम्पत्ति और सुख ये तीन मनुष्य के मौलिक अधिकार हैं। लेकिन समाजवादी विचारधारा ने इस विचार का खण्डन किया। उन्होंने सम्पत्ति को शोषण का रूप माना। सम्पत्ति को चोरी माना, सम्पत्ति को हत्या माना। इस प्रकार से पुराने आर्थिक विचार में और समाजवादी विचार में एक घोर मतभेद उत्पन्न होता है।

महात्मा जी ने अपने एकादश व्रत में इस विचार को जोड़ दिया और परिग्रह स्तेय है ऐसा उन्होंने माना। परिग्रह के दो प्रमुख कारण हैं एक लोभ दूसरा रक्षा। क्योंकि समाज में आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं है। सम्पत्ति न तो पूर्णतया लोभ का परिणाम है न तो पूर्णतया मनुष्य के पुरुषार्थ या मितव्ययिता का परिणाम है, इसका प्रमुख कारण यह पूँजीवादी समाज है जो मनुष्यों को उनकी भविष्य की आवश्यकाओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं देता है। इसलिए लोग संग्रह करते हैं और इस संग्रह को इसलिए चोरी कहा जा सकता है कि एक तरफ तो अभाव और आवश्यकता है और दूसरी तरफ आधिक्य और विपुलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति और स्वामित्व चोरी और अनैतिकता है। गांधी जी ने इसमें एक कड़ी और जोड़ दी और कहा कि जो बिना उत्पादक शरीरश्रम किये खाता है वह चोर है। ऋगवेद में यह भी कहा गया है कि जो अकेला खाता है वह चोर है (केवलादो भवति केवलादी।) (ऋग वेद) उन्होंने यह बराबर माना है कि जिसके पास सम्पत्ति और स्वामित्व होता है वह सदैव दुष्ट नहीं होता है। इसीलिए थातेदारी का सिद्धान्त उन्होंने रखा। अस्तेय और अपरिग्रह आर्थिक रचना के मूल सिद्धान्त हैं। समाजवादी अर्थशास्त्र में तो आवश्यकता के अनुसार लेना और सामर्थ्य के अनुसार देना लक्ष्य निर्धारित हुआ। यही लक्ष्य समस्त आर्थिक संयोजन का होना चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वामित्व के कुप्रभावों और विकृत स्वभाव से अधिकांश अर्थशास्त्री ऊब गये हैं, इसीलिए जानस्टुअर्टमिल ने भी कहा है कि ये यदि व्यक्तिगत स्वामित्व एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण के उपकरण बनते हैं तो इन्हें हड़प लेना चाहिए। हेनरी जार्ज ने 'प्रोग्रेस और पावर्टी' अपनी पुस्तक में भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। फिजियोक्रेटस् और सिसमंडी ने भी इस प्रकार के विचार का बीजारोपण किया है। गांधी जी ने अपरिग्रह अस्तेय सिद्धान्त को थातेदारी के सिद्धान्त में मिला दिया है। समाजवादियों ने तो अपने वर्गभाव में स्वामित्व और सम्पत्ति को श्रमिक वर्ग के हाथ में दे दिया और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। लेकिन अमीरों और पूंजीपतियों के वर्ग से सम्पत्ति और स्वामित्व को छीन कर श्रमिकों के हाथ में दे देना यह भी उसी प्रकार से अनर्थकारी है जैसे पहले की व्यवस्था। इस अनर्थ को मिटाने का उत्तर थातेदारी के

सिद्धान्त में प्राप्त होता है। विशेषकर लोकशाही में जिसमें सत्ता तो लोक मूलक हो गयी, सर्वत्रिक हो गयी परन्तु सम्पत्ति लोकमूलक नहीं हुई। अभी वह व्यक्तिगत है। वह विरोध है और वह विरोध भी अब अधिक नहीं टिक सकता। इसलिए अब कोई विकल्प नहीं है सिवाय इसके कि हम कहें कि हम अपनी सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति मानते हैं।

सामाजिक परिस्थिति या स्वयं के पुरुषार्थ से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हो उसे वह धरोहर माने इसी प्रवृत्ति का नाम ट्रस्टीशिप है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति और स्वामित्व है उसे वह अपने उपभोग के लिए न समझे और न तो उसे ब्याज, किराया, मुनाफा, ठेका या दलाली द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करे। इस थातेदारी के सिद्धान्त को गांधी जी ने सामाजिक परिवर्तन का साधन माना। गांधी जी अस्तेय और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों को थातेदारी में इस प्रकार जोड़ देते हैं कि स्वामित्व और सम्पत्ति की भूमिका और उसका आशय ऐसा परिवर्तित होता है कि स्वामित्व और सम्पत्ति का लगभग विसर्जन हो जाता है।

आज के समाज में अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि मजदूर को 'पूंजी' काम देती है। इसलिए पूंजी मालिक है और मजदूर नौकर है। इस आशय को गांधी जी बदल देते हैं। वे परिश्रम को प्रधानता देते हैं। परिश्रम प्रधान है और परिश्रम पूंजी का उपभोग करेगा। श्रम के लिए पूंजी का प्रयोग होना चाहिए न कि पूंजी के लिए श्रम का। यहाँ पर श्रम को भी एक महान् सम्पत्ति गांधी जी ने माना और श्रमिक को भी एक ट्रस्टी माना। गांधी जी ने सृष्टि के प्रति जिस प्रकार का आदर माना है उसी प्रकार का आदर उपकरण और श्रम के प्रति, समस्त वस्तु के प्रति भी माना है। उसी प्रकार का आदर उपकरण और श्रम के प्रति, समस्त वस्तु के प्रति भी माना है। सभी वस्तुएँ भगवान की देन हैं, इसलिए इनका किसी भी प्रकार का दुरुपयोग पापमूलक है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। जिस प्रकार से यह हमारा शरीर ट्रस्टी है उसी प्रकार से समस्त वस्तुयें ट्रस्टी के रूप में हैं। इससे एक नयी भावना पैदा होती है कि हर मनुष्य अपनी शक्ति भर काम करेगा और केवल आवश्यकता भर उपभोग करेगा। जब यह भाव मनुष्य में पैदा होगा तो वह अपने को स्वामित्व और सम्पत्ति से स्वतः अलग

कर लेगा। प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्र प्रेरणा से अपनी शक्ति व रुचि के अनुसार उन्नतिशील ढंग से काम करेगा और अधिक से अधिक समाज को देगा और कम से कम उससे लेगा। यह प्रत्यार्पण की भावना मनुष्य जब अपने मन में लाता है तो अपनी कला, प्रतिभा और श्रम समर्पित कर देता है, जैसे व्यक्ति अपने कुटुम्ब, अपने पड़ोसियों के लिए समर्पण की भावना रखता है। उसे गांधी जी ने अर्थशास्त्र की भाषा में स्वदेशी कहा है। सन्त विनोबा भावे ने तीन मातायें माना है, जननी, जन्मभूमि और गाय। इसलिए इन तीनों की मालकियत नहीं हो सकती।

गांधी जी ने कहा था कि माता का तत्व भगवान् के सब पुत्रों को समान रूप से मिलना चाहिए। भारतीय संस्कृति में अन्न का दान शुद्धदान माना गया है। अन्न का सम्बन्ध जीवन और भगवान् से है। अन्न का विक्रय दोषमय माना जाता था, उसी प्रकार से जैसे दूध का विक्रय दोषमय माना जाता था। आज का अर्थशास्त्र अन्न से ज्यादा महँगा कच्चा माल, कच्चे माल से महँगा पक्का माल और पक्के माल से महँगा व्यापारिक माल को मानता है। इस आज के अर्थशास्त्र को गांधी जी ने उलट दिया है, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत इस अन्न को प्रदान किये गये महत्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। इसीलिए गांधी जी का अर्थशास्त्र आज के अर्थशास्त्र से भिन्न पड़ता है। आज का अर्थशास्त्र अभाव और अकाल के समय जो कन्ट्रोल और राशनिंग करता है, उसके पीछे भी यही खातेदारी का सिद्धान्त है और उसके द्वारा आवश्यक वस्तुओं को सबको उपलब्ध कराया जाता है। समाजवाद और साम्यवाद में सम्पत्ति के निर्माण करने के साधनों का स्वामित्व न तो व्यक्तिगत होगा और न कौटुम्बिक होगा। लेकिन भोग्य वस्तुयें और उपयोगी वस्तुओं का व्यक्तिगत और कौटुम्बिक स्वामित्व होगा। भोग्य और उपयोगी वस्तुओं का यह स्वामित्व कभी कभी हमें अतिसंग्रह की ओर ले जाता है। यह अतिसंग्रह कुसंस्कार और दोष है, क्योंकि मनुष्य की उपभोग क्षमता सीमित होती है। ये उपभोग की वस्तुयें सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक बनती हैं, लेकिन जैसे जैसे मनुष्य का सांस्कृतिक विकास होता है वैसे वैसे इन उपभोग्य वस्तुओं के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा कम होती चलती है। लेकिन मनुष्य का यह स्वभाव नहीं है, क्योंकि भोगक्षमता सीमित

होने के कारण मनुष्य भोग पदार्थों के संग्रह को मर्यादित कर देता है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इन भोग्य पदार्थों को भी ट्रस्टी के रूप में देखता है और वस्तु के प्रति आदर की भावना, वस्तु को समर्पण करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति में पैदा कर देता है। ज्योंही इनके प्रति आदर की भावना होती है त्योंही इनका दुरुपयोग समाप्त हो जाता, और हम कभी वस्तु को बरबाद और नष्ट नहीं होने देते।

वस्तुओं का उपभोग मर्यादित होना चाहिए ताकि भोग शक्ति क्षीण न हो। आहार विहार युक्त जीवन की कल्पना है। सभी वस्तुएँ परिमित तथा मर्यादित हैं। मन तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है। ऐसा न होने पर कभी-कभी मनुष्य की सम्पति और उसके स्वामित्व की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना ही छोड़ देता है। सम्पति के लिए भाई-भाई का गला घुटता है। निर्जीव वस्तु के प्रति आदर मनुष्य तथा भाई से बढ़कर हो जाता है। खातेदारी के सिद्धान्त में मनुष्य अपने साथ के प्राणियों को कष्ट नहीं देता। उनके सुख का ध्यान रखता है। साथ ही अपने साथ काम करनेवाले लोगों को वह उतनी ही प्रतिष्ठा तथा मालिकियत प्रदान करता है जितना स्वयं को। वह सभी को हिस्सेदार मानता है। पुनः अपने बाद वह सारी सम्पति भूमि आदि का स्वामित्व यदि उसके बाद उसके वंश में कोई नहीं होता तो वह दूसरों को देना स्वीकार करता है। यह है मनुष्य की सहज बुद्धि तथा सहज प्रेम की भावना। कोई भूमि या सम्पत्ति बाजार में खरीदी-बेची नहीं जाती। उससे उत्पादित वस्तु विनिमय के लिए नहीं अपितु आवश्यकता की तृप्ति के लिए होती है।

अन्त में यही सर्वोत्तम मन्त्र है 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' त्याग कर उसका भोग करो। इसका अर्थ यह है मनुष्य भले ही करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित करे परन्तु यह बराबर ध्यान रखे कि यह अर्जित सम्पत्ति उसकी नहीं है अपितु सारे समाज की है। उसमें से अपनी उचित आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए कुछ रखकर शेष सारी सम्पत्ति सारे समाज को अर्पित कर दे। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में होनी चाहिए। उसके पास जो कुछ भी है वह उसका ट्रस्टी है। आध्यात्मिक भाषा में सभी प्रकार की शक्तियों का भोग व्यक्ति भगवान् को समर्पित करके करता है। आज के समाज के सन्दर्भ में भगवान के स्थान पर जनता को समझना चाहिए। मनुष्य अपनी पूर्णशक्ति भर अर्जित करे ताकि उसकी सारी शक्ति विकसित

हो, परन्तु दूसरी तरफ वह मर्यादित संयमित भोग करे ताकि उसकी उपभोग शक्ति क्षीण न हो जाय। भोगशक्ति क्षीण होने के अर्थ हैं कि मनुष्य का शरीर क्षीण हो रहा है। इसीलिए भोग के संयम पर विशेष बल दिया गया है। महात्मा गांधी ने इस ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का व्यापक विश्लेषण किया है। शरीर, सम्पत्ति, श्रम, बुद्धि, जीवन सभी क्षेत्रों में इस सिद्धान्त का विश्लेषण करके उन्होंने एक सन्तुलित समग्र सिद्धान्त हमारे सामने रखा है। यह केवल भौतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों के लिए उपयोगी सिद्धान्त है।

थातेदारी का सिद्धान्त

प्रत्येक मनुष्य के पास किसी न किसी प्रकार की शक्ति होती है। किसी के पास बुद्धि-शक्ति होती है, किसी के पास शारीरिक शक्ति होती है, किसी के पास सम्पत्ति शक्ति होती है, किसी के पास साधन शक्ति होती है अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके पास कोई न कोई शक्ति न हो। ये जितनी शक्तियाँ हैं, उन सबका मनुष्य समाज में स्वामी न बनकर इसका केवल ट्रस्टी बने। ये शक्तियाँ उसे इसलिए प्राप्त हुई हैं कि इनके द्वारा वह उत्पादन करे और अपनी आवश्यकता के अनुकूल इनका उपभोग करे। वह उन शक्तियों की वृद्धि और संरक्षण करे ताकि अधिक से अधिक समाज को दे सके। गांधी जी ने इसी प्रकार के समाज, इसी प्रकार के मानव की कल्पना की है, जिससे आज के जघन्य स्वार्थ, विरोध, संघर्ष समाप्त हो जायँ और एक नये समाज का विकास हो। इस विषय में दो मत नहीं हैं कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को ऐसा समझेगा तब समाज में सर्वोदय की व्यवस्था होगी और उसके तीन आधार होंगे :—

१—अहिंसा,

२—शोषण विहीन समाज,

३—समता।

ये उपरोक्त आधार तभी प्राप्त होंगे जब मनुष्य स्वशासित होगा तथा अपनी इच्छाओं का नियमन करेगा। सेवामूलक स्वामित्वरहेगा, सेवाशून्य स्वामित्व नष्ट होगा।

ट्रस्टीशिप के उद्देश्य

(१) ट्रस्टीशिप एक साधन है जिसके द्वारा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को समता की सामाजिक व्यवस्था में बदला जा सकता है। ट्रस्टीशिप वर्तमान स्वामीवर्ग को, अपने को शुद्ध करने और सुधारने का अवसर प्रदान करता है। यह सिद्धान्त इस बात में अटल विश्वास रखता है कि मनुष्य की प्रकृति में सामाजिक भावना अर्थात् परमार्थ की भावना स्वाभाविक एवं शाश्वत् है। आज कितना भी स्वार्थी व्यक्ति हो, इस सिद्धान्त के द्वारा उसमें आन्तरिक हृदय एवं भावनाओं का परिवर्तन होता है।

(२) यह सिद्धान्त किसी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व को मान्यता नहीं देता है। केवल उसी सीमा तक स्वामित्व का अधिकार स्वीकार किया जायगा जिस सीमा तक समाज सबके कल्याण को देखते हुए स्वामित्व की स्वीकृति देगा। जिस स्वामित्व से पूरा समाज लाभान्वित होता है उसी प्रकार का स्वामित्व सीमित और मर्यादित रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

३—यह सिद्धान्त उन राजकीय कानूनों को भी नहीं स्वीकार करता जिसमें राज्य द्वारा स्वामित्व के नियमन और सम्पत्ति के भोग का निर्देश होता है। दूसरे शब्दों में राजकीय कानून द्वारा निर्धारित स्वामित्व को भी यह नहीं मानता है। अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के उपयोग या प्रयोग में स्वतन्त्र नहीं होगा। यदि वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग अपने घोर स्वार्थ की तृप्ति के लिए करता है और सामाजिक स्वार्थ को अपने समक्ष नहीं रखता तो समाज उसे ऐसा नहीं करने देगा।

४—यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना आवश्यक मानता है और उसके लिये एक निर्वाह योग्य, कुशल क्षेम के लिए साधन भी निर्धारित करता है, ताकि कोई भी व्यक्ति समाज में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए दुःखी न हो सके। साथ ही साथ एक अधिकतम आय की सीमा भी समाज में निर्धारित करता है। प्रत्येक व्यक्ति साधन सम्पन्न होते हुए भी देश की परिस्थिति के अनुकूल उसमें से केवल एक सीमित आय का उपयोग एवं प्रयोग करने के लिए करेगा। यहाँ न्यूनतम और अधिकतम में जो अन्तर है वह उचित हो और परिवर्तनशील हो। न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर वर्तमान परिस्थिति

में एक संक्रमणकालीन सिद्धान्त होगा। इसका अन्तिम लक्ष्य यही है कि धीरे धीरे यह न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर ही समाप्त हो जाय।

५—इस सिद्धान्त में जो उत्पादन होगा वह केवल व्यक्तिगत लाभ वासना से बिलकुल नहीं होगा; बल्कि उसके पीछे उत्पादन की आधारशिला सामाजिक आवश्यकता होगी ताकि प्रत्येक अपनी अपनीशक्ति को सामाजिक हित में लगाये।

६—प्रत्येक नागरिक का मर्यादित जीवन होगा ताकि वह अपनी शक्ति का सही प्रयोग कर सके। यदि कोई व्यक्ति इन शक्तियों का दुरुपयोग करता है तो वह अपने व समाज के प्रति अन्याय करता है और उसे अनैतिक कार्य माना जायगा। अपने कर्तव्य का वह उचित पालन नहीं करता इसलिए समाज को यह अधिकार है कि उसे ऐसी बर्बादी करने से रोके।

७—प्रत्येक व्यक्ति उस सम्पत्ति का जो उसके पास है स्वामी नहीं होगा, बल्कि उस सम्पत्ति का प्रयोग समाज के लिए करने के लिए उत्तरदायी होगा। उस सम्पत्ति में से एक मर्यादा के भीतर ही कुछ भाग वह स्वयं के उपयोग में लायेगा और अन्य भाग को समाज के प्रयोग में लगायेगा।

८—प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होगा। शरीर की रक्षा करना एक तप है जिससे कि व्यक्ति समाज का अधिक से अधिक हित कर सके। यह उसका पुनीत कर्तव्य है। उसका दूसरा कर्तव्य समाज के प्रति है। जो भी वह उत्पादन करेगा वह समाज को समर्पित करेगा। वह उसका स्वामी नहीं होगा अपितु सारे उत्पादन को सही दिशा में ले जायगा और उस उत्पादन को समर्पित करके तब समाज की स्वीकृति से उसका उपभोग करेगा। तीसरा कर्तव्य व्यक्ति का प्रकृति के प्रति है। प्रकृति की दी हुई शक्तियों को बर्बाद न करना बल्कि उन्हें संरक्षण प्रदान करना, उसका उतना ही प्रयोग करना जितना आवश्यक हो। प्रकृति के साधन सबके लिए उपलब्ध हों, किसी प्रकार से प्राकृतिक साधनों की बर्बादी न हो सके। उसके लिए व्यक्ति उत्तरदायी होगा। इस प्रकार से स्वयं व्यक्ति तथा समाज के लिए जो वस्तुएँ या शक्तियाँ अपेक्षित हैं उन सबका ट्रस्टी व्यक्ति होगा। इस अर्थ में कि उसका उपभोग सारे समाज के लिए उपलब्ध हो सके और समाज की कर्तृत्वशक्ति निरन्तर बढ़ती रहे।

(६) यदि कोई व्यक्ति ट्रस्टीशिप के इस सिद्धान्त की अवहेलना करता है तो ऐसी स्थिति में समाज को यह अधिकार है कि उसकी इस शक्ति का प्रयोग स्वयं अपनी देख रेख में करे। इस प्रकार से मनुष्य की आर्थिक शक्ति का प्रयोग सामाजिक हित में लगाने का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। व्यक्ति घोर स्वार्थ में अन्धा हो जाता है और स्वयं अपना अहित करने लगता है। लेकिन इस सिद्धान्त में मनुष्य परमार्थ द्वारा प्रेरित होता है, अधिकार नहीं बल्कि कर्तव्य की भावना से ओतप्रोत होता है और अपना और उससे भी ऊँचे सारे समाज के कल्याण का ध्यान रखता है। ये सब भावनायें शनैः शनैः उसके स्वस्थापित स्वस्थ विचार के लिए उसे तैयार करती हैं।

गाँधी-वचन

थातेदारी का सिद्धान्त

मैं व्यक्तिगत रूप से यह पसन्द करूँगा कि ट्रस्टीशिप की भावना बढ़े, क्योंकि मेरा ख्याल है कि राज्य की हिंसा से व्यक्ति की हिंसा कम खतरनाक है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इसी बात पर आधारित है कि जिसके पास धन है वह उसे अपना समझकर फजूल व्यय न करे। थाती समझ कर रखे और लोक कल्याण में खर्च करे। जब तक धनिक वर्ग स्वेच्छा पूर्वक अपना धन त्याग नहीं देते अथवा उसे जनता की अमानत समझकर नहीं खर्च करते तब तक हिंसात्मक क्रान्ति अनिवार्य है। धनाढ्य वर्ग के लोग यदि जन सामान्य की तरह सादगी से रहते और कम खर्च करते तो वे जनता के ट्रस्टी कहे जा सकते हैं। जो ट्रस्टीशिप की भावना रखेगा वह लोगों को दबाकर और उनका शोषण करके धन नहीं जमा करेगा। मैं धनाढ्य वर्ग की जायदाद बिना कारण जब्त करने के पक्ष में नहीं हूं। मेरे कितने ही पूँजीपति मित्र हैं और वे जानते हैं कि मैं पूँजीवाद समाप्त करने के लिए समाजवादी या साम्यवादी से भी ज्यादा उत्सुक हूँ, पर पूँजीवाद को समाप्त करने का मेरा तरीका अलग है और वह ट्रस्टीशिप के ही सिद्धान्त पर निर्भर है।

ट्रस्टीशिप या धरोहरदारी की भावना उच्च चरित्र की निशानी है। अमीरों को चाहिए कि वे अपने धन को जनता की धरोहर समझ कर खर्च करें। अमीर जिसतरह गरीबों से अपने को अलग और दूर रखते हैं उससे उनका भविष्य अन्धकारमय दीखता है। अमीरों को धन के गर्व में अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोना चाहिए, क्योंकि धन तो उनका है ही नहीं। हर अमीर और धनाढ्य को यह बात गाँठ बाँध रखनी चाहिए कि वह मनुष्य पहले है और सेठ साहूकार बादमें।



त्रयोदश-परिच्छेद

मनुष्य और बाजार

मनुष्य में अपार गुण तथा शक्ति है, इनका प्रयोग वह स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों में कर सकता है। यही दोनों उसकी प्रेरक शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का उपयोग वह भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की तृप्ति भिन्न भिन्न व्यवस्थाओं में करता है। कुटुम्ब पहली संस्था है जहाँ जन्म से मरण तक वह रहता है। कुटुम्ब में जो भी कार्य वह करता है उसका कोई पुरस्कार उसे नहीं प्राप्त होता है। कुटुम्ब में मानवता त्याग की भावना होती है, इसमें किसी कार्य का दाम नहीं होता है और न तो किसी प्रकार की सत्ता की आकांक्षा होती है। मनुष्य के व्यवहार में स्वार्थ की दुर्गन्ध नहीं होती है। जो आर्थिक आवश्यकता होती है वह पात्रता के अनुसार वह प्राप्त करता है। जिस दिन परिवार में दाम और सत्ता की भावना उत्पन्न होती है उसी दिन से परिवार का विघटन होता है। क्योंकि दाम और सत्ता स्वार्थ मूलक होते हैं। मनुष्य जब स्वार्थ मूलक प्रेरणा से कार्य करता है तब उसके अन्दर राज्य और बाजार के व्यवहार आ जाते हैं। जिस युग में हम रह रहे हैं इसमें बाजार की प्रधानता है, राज्य की प्रधानता है, कौटुम्बिक भाव की प्रधानता नहीं है। इसका सहज परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य का बाजारू संस्करण हो गया है। हर जगह जीवन के सभी क्षेत्रों में बाजार पैठ गया है। यही कारण है कि मनुष्य की मनुष्यता संवेदनशीलता, सहानुभूति, प्रेम सभी समाप्त हो रहे हैं। करोड़ों व्यक्ति निपुलता में भी आवश्यक वस्तुओं के लिए तरस रहे हैं। विज्ञान की अपार साधन सुलभता में भी मनुष्य भूखों मर रहा है। इसका कारण यही है कि हमारा जीवन बाजाररूप हो गया है। हम सस्ता से सस्ता खरीदना चाहते और महँगा से महँगा बेचना चाहते हैं। चाहे जो हमारा व्यवसाय हो हम दूसरे के दुर्गुण, दूसरे की अज्ञानता, दूसरे की

असमर्थता से लाभ उठाना चाहते हैं! यहाँ पर मानवता के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसी भयावह स्थिति में हमारे सारे सम्बन्ध बाजारू होते जा रहे हैं। मनुष्य के जीवन में काम और श्रम का महत्व कम हो जाता है और वस्तु की उपयोगिता का महत्व कम हो जाता है। हम वही काम या श्रम करना चाहते हैं, वही वस्तु बनाना चाहते हैं जिसकी बाजार में माँग हो। जो चीज बाजार में बिक सके, जिसका बाजार में दाम हो उसी का महत्त्व बढ़ता है। मनुष्य भी बाजार में बिकता है और उसी का महत्व होता है जिसकी बाजार में माँग होती है। मनुष्य के परिश्रम, मनुष्य की बुद्धि, मनुष्य की कला, मनुष्य के गुण इन सबका स्वयं का कोई मूल्य नहीं है बल्कि ये बाजार में माँग द्वारा पैसे से आँके जाते हैं। कुटुम्ब में भी अब धीरे-धीरे उसीका सम्मान होता है जिसका बाजार में दाम होता है। बाजार में जिसकी माँग और कीमत है वही सबसे बड़ा गुणी, कलाकार, सभ्य और सुसंस्कृत मनुष्य माना जाता है। पहले मनुष्य का दार्शनिक संस्करण था जिसमें वह जो कुछ सोचता था उसी के द्वारा वह मनुष्य माना जाता था। फिर उसका दूसरा नैतिक संस्करण आया जिसमें मनुष्य जो कुछ करता था उसके द्वारा पहचाना जाता था। तीसरा पूँजीवादी संस्करण आया जिसमें मनुष्य के पास जितना संग्रह है, जितनी सम्पत्ति है, उसी से वह पहचाना जाता है। लेकिन जब मनुष्य बाजार में आता है तो उसके ये तीनों संस्करण समाप्त हो जाते हैं और मनुष्य इससे पहचाना जाता है कि उसकी बाजार में माँग क्या है। यही मनुष्य के साथ आज सबसे बड़ी विडम्बना है।

बाजार में ग्राहक की मर्जी पर मनुष्य निर्भर करता है। यदि मनुष्य की माँग न हो तो उसका सब गुण, चरित्र, कला, प्रतिभा सबके सब व्यर्थ हैं। जो वस्तु जितनी मँहगी है और इसीलिए मँहगी है क्योंकि उसकी बाजार में बहुत माँग है, वह उतनी ही महत्वपूर्ण है। मानवता के जितने गुण हैं वे बाजार में बिकते हैं, मनुष्य का व्यक्तित्व बिकता है। बाजार माँग से चलती है, माँग उत्पादन करती है, आवश्यकता उत्पादन नहीं करती, जरूरत बाजार का निर्माण करती है। गांधी जी बाजार को कुटुम्ब में नहीं आने देना चाहते बल्कि बाजार को कुटुम्बमय कर देना चाहते हैं। मनुष्य का शरीर, मनुष्य की कला, मनुष्य के गुण ये क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं होंगे। इनका कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता है। यह है गांधी जी का मानवीय

कौटुम्बिक संस्करण। इसी प्रकार से जीवनदायिनी आवश्यक वस्तुओं का भी क्रय-विक्रय बाजार से उठ जाना चाहिए। आज जो प्रतिस्पर्धा, मुद्रा, माँग, दाम, सस्ता-मँहगा का रूप चल रहा है उसे मनुष्य और जीवनदायिनी आवश्यकताओं के क्षेत्र से गांधी जी उठा देना चाहते थे। दूकानदारी मानव समाज से गांधी जी हटा देना चाहते हैं। किसी प्रकार सौदेबाजी नहीं होगी। प्रारम्भ में जैसे पोस्टआफिस होता है उसी प्रकार से समाज में कार्य चलेगा परन्तु गांधी जी के अन्तिम समाज में दर्शनीय का बाजार नहीं रहेगा। उसमें विज्ञापन और विक्रय-कला नहीं होगी और आज की भाँति बनावटी मांग पैदा करने का प्रयास नहीं होगा। मनुष्य का नैतिक संस्करण ही प्रधान होगा। वस्तु-वस्तु के बीच, मनुष्य-मनुष्य के बीच धन का कोई रूप नहीं होगा क्योंकि धन के कारण ही ये सम्बन्ध विकृत होते हैं और जब धन की प्रतिष्ठा समाज में नहीं होगी तो स्वाभाविक है कि वस्तु की उपयोगिता और वस्तु का गुण समाज में प्रतिष्ठित होगा। गुण और जीवन की प्रतिष्ठा सब जगह हमें बढ़ानी पड़ेगी।

प्रश्न उठता है कि वस्तुओं का प्रतिमूल्य किस प्रकार निर्धारित होगा? जिस प्रकार से आज मनुष्य बाजार में बिकता है और कारखाने में मजदूर बनकर जाता है, तो जो उसे मजदूरी मिलती है वही उसका प्रतिमूल्य है। यह सब उसी प्रकार निर्धारित होता है जैसे अन्य वस्तुओं का प्रतिमूल्य, जब कि मनुष्य का प्रतिमूल्य हो ही नहीं सकता। मनुष्य के लिए जो जीवनदायिनी आवश्यकतायें हैं उन वस्तुओं का भी प्रतिमूल्य नहीं होता। हवा, पानी, अन्न ये सब ऐसी वस्तुयें हैं जो जीवनदायिनी हैं और इनका कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता क्योंकि ये अमूल्य हैं। जिस दिन से मनुष्य और ये जीवनदायिनी आवश्यक वस्तुयें बाजार में आयीं उसी दिन से मानव समाज शोषण, भुखमरी, बेकारी, अकिञ्चनता, बीमारी आदि दोषों से ग्रस्त हुआ। सस्ते और मँहगे के पापमूलक विचार ने सारे समाज के मानवी मूल्य को नष्ट कर दिया। मनुष्य इन जीवनदायिनी वस्तुओं को उसी प्रकार प्राप्त करे जिस प्रकार हवा, धूप और पानी। जब इन वस्तुओं के दाम होने लगते हैं तब इनमें छलना आती है तथा इन वस्तुओं कि अपेक्षा अन्य विलासिता की वस्तुओं की ओर समृद्धिशील समाज बढ़ता है। सारी मानवीय और प्राकृतिक उत्पादन शक्ति विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन की ओर बढ़ती है। इसका यह फल होता कि इन जीवनदायिनी वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाता है क्योंकि वे लाभप्रद नहीं होतीं।

बाजार में मनुष्य का 'लाभ' उद्देश्य प्रधान होता और इस लाभ की प्राप्ति दिखावटी माँग पर निर्भर करती है। इस कारण मनुष्य हाथ, पैर और बुद्धि रहते हुए भी इन वस्तुओं के लिए तरसता है। भोजन और वस्त्र ऐसी आवश्यकताओं की तृप्ति भी वह नहीं कर पाता। क्योंकि वह उत्पादक की भूमिका से उठकर बाजार में दर्शक और उपभोक्ता की भूमिका में पहुँच जाता है, मनुष्य के सम्बन्ध जो परिवार में होते हैं वे विकृत होकर राज्य में राजा और प्रजा, कारखाने में मालिक और मजदूर, बाजार में क्रेता और विक्रेता के बन जाते हैं। इन्हीं सम्बन्धों को कौटुम्बिक सम्बन्ध बनाने के लिए राज्य का विघटन हुआ और राजा-प्रजा का भेद मिटा, समाजवाद आया और उसने मालिक और मजदूर का सम्बन्ध नष्ट किया। मालिक ही मजदूर और मजदूर ही मालिक बन गया। मजदूर, मालिक बन जाने से, एक अधिकार प्राप्त कर सका और उत्पादक में स्वामी के गुण आये। समाजवाद ने, पूंजीवाद में लाभ के लिए उत्पादन को, परिवर्तित करके उपभोग के लिए उत्पादन कर दिया। परन्तु बाजार के क्रेता और विक्रेता के सम्बन्ध मानवीय न हो सके। बाजार पात्रता पर न आधारित हो सकी, अर्थात् बीमार व्यक्ति को दवा, वैसे भूखे को अन्न, नंगे को वस्त्र की व्यवस्था न हो सकी। गांधी जी ने मनुष्य को कम से कम इन वस्तुओं को बाजार से अलग कर दिया। मनुष्य स्वयं अपने कर्त्तव्य से इन वस्तुओं का उत्पादन करेगा और अपनी आवश्यकता की तृप्ति तो करेगा ही परन्तु सबको खिलाकर खायेगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इन सबका उत्पादक होगा परन्तु दूसरों को खिलाकर खाने की उसकी भावना ही मानवीय भावना है और सारे बाजार का क्षेत्र परिवार में बदल जायगा। जो व्यवहार मनुष्य परिवार में करता है वही व्यवहार इस उपभोग के क्षेत्र में भी करेगा। इन वस्तुओं की विपुलता भी होगी क्योंकि मनुष्य इसे अपनी नित्यक्रिया का एक अंग मानेगा। इसलिए ये वस्तुयें सर्व सुलभ होंगी। प्रश्न यह अवश्य उठता है कि अधिकतम उत्पादन के लिए कौनसी प्रेरणा होगी? यहाँ पर बाजार की अधिक लाभ की प्रेरणा से बढ़कर दूसरों को खिलाकर परमार्थ की आनन्द की प्रेरणा होगी और यही मानवीय प्रेरणा है। सस्ती और मँहगी का होआ मनुष्य के जीवन से समाप्त हो जायगा। मनुष्य का सारा कार्य, सारी प्रेरणायें परमार्थ मूलक होंगी अर्थ अथवा स्वार्थ मूलक नहीं होंगी। यह सब छोटे उद्योगों खेती, पशुपालन आदि में ही सम्भव है। इसीलिए गांधी जी ने इस परिवारीकरण

संस्करण पर इतना बल दिया है। ऐसे समुदाय दुनिया में रहे हैं और आज हैं भी जिनके सम्बन्ध बाजारू नहीं हैं। वे समुदाय वस्तु के बदले वस्तु को अपनी आवश्यकता की तृप्ति के लिए लेते देते हैं। मुद्रा के सस्ते और मँहगे जंजाल से मुक्त होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य बदते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्ध कटुता के न होकर परस्परावलम्बन के होते हैं। उसी प्रकार से जैसे हाथ, पैर, आँख आदि के सम्बन्ध होते हैं। या यों कहें जैसे परिवार में मां, बाप, भाई, पुत्र के सम्बन्ध होते हैं या यों कहें कि जो सम्बन्ध भारत के प्राचीन गांवों में किसान, कुम्हार, बढ़ई आदि के होते हैं। बढ़ई हल बनाता है, किसान अन्न देता है, बुनकर वस्त्र देता है, कुम्हार बर्तन देता है, तेली तेल देता है, ये सबके सब सस्ते और मँहगे के भूत से मुक्त होते हैं। इनके सम्बन्ध बाजार के नहीं होते, एक आर्थिक कुटुम्ब के होते हैं। मुद्राविहीन, स्पर्धाविहीन, दिखावटी मोल विहीन, क्रेता-विक्रेताविहीन ये सम्बन्ध आर्थिक जीवन के क्षेत्र में मनुष्य को सुखमय बनाते रहे हैं। आज भी जो मुद्राविहीन विदेशी व्यापार होते हैं उनके पीछे यही सिद्धान्त चलता है। ये आवश्यकता मूलक होते हैं। इसलिए बाजार का कौटुम्बीकरण गांधी जी ने हमारे समक्ष रखा। प्राथमिक आवश्यकता मूलक मानव जीवन सुखी और स्वस्थ होगा इसी की रचना गांधी जी ने की है।

मूल्य का सिद्धान्त

मूल्य शब्द बहुत व्यापक है। सभी क्षेत्रों में इसका प्रयोग होता है। यही कारण है कि प्रत्येक क्षेत्र के विशेषीकरण होने के नाते इसके भिन्न भिन्न अर्थ हैं। मानव जीवन का भी बटवारा इस विशेषीकरण के युग में हो गया है। आज भाषित मानव नहीं है। इसीलिए मानव को विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान प्रयोगशाला में ले जाकर उसी प्रकार का विश्लेषण करते हैं जिस प्रकार का विश्लेषण जड़ पदार्थों का होता है। इसका सहज परिणाम यह होता है कि बहुत से भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं भ्रान्तियों ने आज मानव जीवन का ऐसा विच्छेद कर दिया है कि हम मानव और उसकी समस्याओं का समाधान ही नहीं खोज पाते। मानवीय मूल्य बहुत दूर पड़ जाता है। एक आशा की किरण इस समय झलकती है, जब हम घोर विशेषीकरण के मूल्यों में मानवीय मूल्यों को

पाते हैं। सभी मूल्यों का एक ही लक्ष्य है कि यह भौतिक मानव किस प्रकार से समग्ररूप से सुखी और सम्पन्न हो सके। इसीलिए युग विशेष में मूल्य विशेष प्रभावकारी बनकर मानव जीवन के सजोने का प्रयत्न करते रहे हैं। कुछ सीमा तक वे सफल रहे। परन्तु अन्ततोगत्वा कालान्तर में परिवर्तन होने के कारण वे असफल रहे। यह द्वन्द्व शास्वत और सामयिक मूल्यों का बराबर चलता रहा है। आज भौतिक और आर्थिक मूल्यों का मोह इतना प्रचण्ड और जटिल हो गया है कि मानवीय मूल्य बहुत ओझल हो गया है। नैतिकता और आध्यात्मिकता पर ही भौतिक जीवन को आधारित करने वाले विचारकों ने मानवीय मूल्य की सही प्रतिष्ठा के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राथमिकता की नींव पर मानव समाज खड़ा किया। परन्तु प्रकृति की क्रूरता, अकिंचिनता के कारण औद्योगिक क्रान्ति का जन्म हुआ और आर्थिक या भौतिक मूल्य की प्रधानता की एक कड़ी हमें दिखलायी देती है। इसी मूल्य की प्रधानता के कारण अर्थशास्त्र ऐसे विशाल, विशेषीकरण के शास्त्र का जन्म हुआ। मानव को आर्थिक मूल्यों की कसौटी पर ही कसा गया। एक सहज मुद्रा का मापदण्ड निकल आया, मुद्रा के इसी पैमाने से मनुष्य के सारे कर्तृत्वों को नापा जाता है। जिस प्रकार से थर्मामीटर से मनुष्य का ताप मापा जाता है। प्रथम तो यही भूल हुई कि मनुष्य को मुद्रा ऐसे पैमाने से नापा गया। दूसरे इस पैमाने में जब स्वयं वही दुर्गुण हो जो अन्य वस्तुओं में तो यह सही पैमाना हो ही नहीं सकता। जब थर्मामीटर में स्वयं ताप आ जाय तब वह सही मापदण्ड नहीं रह सकता। परन्तु मनुष्य ने यह सब समझते हुए भी विवशतावस इसे ग्रहण कर लिया और आज यही मानव का नियामक बन बैठा है। अर्थशास्त्रियों में प्रारम्भ से ही एक संकोच, एक भय, एक हिचक इसके प्रति हमें दिखाई देती है। मूल्य के सिद्धान्त में जो इतने परिवर्तन हो रहे हैं यही इसके प्रमाण हैं।

अदम स्मिथ ने अपनी प्रथम रचना में मूल्य के प्राकृतिक एवं स्वाभाविक सिद्धान्त का चित्रण किया है। खुली दृष्टि से व्यापक परिस्थिति में अदम स्मिथ ने सत्य को देखा। प्राकृतिक शक्तियों के बीच मानवीय श्रम के महत्व को उन्होंने देखा। इस मूल्य के सिद्धान्त में उन्होंने सृष्टि के इस विभूति मानव को सही प्रतिष्ठा दी। इससे स्पष्ट हो गया कि मानव केन्द्र है, यही उत्पादक और निर्माता है, इसकी श्रम शक्ति ही सारे

भौतिक जीवन के लिए आवश्यक है। मूल्य के सिद्धान्त का विवेचन में जो आरम्भ हुआ उसकी नींव में एडम स्मिथ की यह बात ही प्रमुख है। प्रारम्भिक स्थिति के कारण और घोर औद्योगिक मोह और क्रान्ति के कारण एडम स्मिथ भी मुद्रा के मोह का संवरण न कर सके। इसलिए लागत के मूल्य सिद्धान्त का एक सांकेतिक सिद्धान्त उन्होंने आगे चल कर दिया। परन्तु इसके मूल में मनुष्य और उसका श्रम ही है। इसमें एडम स्मिथ अपूर्ण रहे। उनके उपरान्त रिकार्डो ने भी प्रकृति की महानता स्वीकार की। उन्होंने भूमि, लगान, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में एक ओर प्रकृति की शक्ति देखी और दूसरी ओर प्रकृति की शक्ति को उपयोगी बनाने की निर्माण शक्ति मनुष्य में देखी। वस्तु में प्रयोग और उपयोगिता का निर्माण मनुष्य करता है और इसे मनुष्य के लिए करता है तभी वस्तु का मूल्य होता है। समस्त वस्तुओं के मूल्यांकन को उन्होंने श्रम से बांध दिया। परन्तु मुद्रा के व्यामोह में और उसकी अनिवार्यता में फँस कर रिकार्डो उत्पादन प्रक्रिया की जटिलता में असमर्थ हो गये। इसलिए मौद्रिक मूल्य, मौद्रिक लागत से निर्धारित करना पड़ा। श्रम के मूल्य की रक्षा जटिल विनिमय और बैंकिंग प्रक्रिया में वे न कर सके। उसका प्रतिफल यह हुआ कि मनुष्य से अधिक महत्व वस्तुओं का हो गया। वस्तु प्रधान, मुद्रा प्रधान मानवीय जीवन हो गया। अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस मौद्रिक उत्पादन लागत को आगे बढ़ाया। आज भी यह परम्परा जीवन के समस्त क्षेत्रों में व्यापक बन गयी है। मनुष्य का जीवन मानवीय मूल्यों से बहुत दूर पड़ गया है।

इस सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप बहुत से विचार आये हैं। योरप में नैतिक मूल्यों, मानवीय मूल्यों के ही निर्माण रस्किन और कारलाइल जैसे लोगों द्वारा ही नहीं हुए बल्कि इस प्रकार के आर्थिक मूल्य की भर्त्सना भी हुई। आगे चलकर कान्ट और हीगल जैसे दर्शनकारों का जन्म हुआ जिनका प्रभाव मूल्य के सिद्धान्त पर भी पड़ा। एक ओर आस्ट्रियन उपयोगितावादी अर्थशास्त्री आये जिन्होंने वस्तु के मूल्य का आधार उपयोगिता माना। उपयोगिता का मूल्य सिद्धान्त पुनः मनुष्य की श्रेष्ठता वस्तु के समक्ष स्थापित करने में सहायक हुआ। वस्तुएँ और उनका महत्व मनुष्य के द्वारा दिये गये महत्व पर आधारित हैं। इस सिद्धान्त में वस्तु के महत्व और अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं किया गया, यह भी एक विडम्बना थी। लोकमत अपनी मूल दृष्टि के कारण इसको

सिद्धान्त को मान्यता न दे सका। वास्तव में यह सिद्धान्त अपूर्ण और एकांगी था।

दूसरी ओर अदम स्मिथ और रिकार्डो के श्रम के मूल विचार से एक श्रम का विचार स्फुटित हुआ जो इन दार्शनिकों से प्रेरणा ले सका और कार्लमार्क्स ऐसा एक प्रणेता प्राप्त हुआ। कार्लमार्क्स ने अपनी प्रखर बुद्धि और अपार तार्किक शक्ति से श्रम के मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आर्थिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए, प्राचीन अर्थशास्त्रियों की भाषा में श्रम का मूल्य सिद्धान्त निर्मित किया। यही नहीं, बल्कि श्रम को सबका नियामक और स्वामी बना दिया। उन सब तकनिकी वस्तुओं को अपने तर्क से विश्लेषण करते-करते पूर्णतया मानव श्रम का प्रतिफल सिद्ध कर दिया। अतिरिक्त श्रम शोषण का सिद्धान्त और मूल्य का सिद्धान्त बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से उन्होंने सामने रखा। परन्तु उनका विचार पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के स्वरूप में आया और इस विचार के पीछे कार्लमार्क्स की करुणा से प्रेरित एक टीस और प्रतिहिंसा की भावना है। इसलिए मूल्य का सिद्धान्त न तो पूर्णरूप से मानवीय हो सका और न तो पूर्णरूप से मानवेतर ही हो सका। वस्तुओं का निर्माता तो यह मनुष्य है, परन्तु स्वयं वस्तुओं से वह निर्मित होता है। इसलिए वस्तु की प्रधानता ज्यों-की-त्यों बनी रही। उसका परिणाम यह हुआ कि मूल्य का सिद्धान्त जहाँ का तहाँ रहा, केवल पूँजीपति की जगह स्वामित्व श्रमपति को प्राप्त हो गया। इसलिए इसमें अपूर्णता का होना स्वाभाविक है।

वैज्ञानिकता के प्रभाव से पियरो स्राफा ने उत्पादन लागत की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। उनके अनुसार सूक्ष्म में वस्तु से ही वस्तु का निर्माण—गेहूँ से ही गेहूँ का निर्माण होता। इसलिए उत्पादित गेहूँ की लागत, उसमें लगाये गये गेहूँ के इन पुट और आउट पुट का विश्लेषण उन्होंने इसी ढंग से किया। किसी वस्तु जैसे गेहूँ के उत्पादन में गेहूँ को ही इन पुट के रूप में लगाना पड़ता है। लगाये गये गेहूँ से अधिक गेहूँ इसलिए पैदा होता कि उसमें प्राकृतिक शक्ति के साथ-साथ मानवीय शक्ति भी लगती है और उस गेहूँ को जो अकेला है असंख्य बना देती है। इस प्रकार से स्राफा ने मूल्य का एक नया सिद्धान्त दिया। लेकिन यह सिद्धान्त भी अपूर्ण है।

सीमान्तवादी अर्थशास्त्रियों ने तथा वैज्ञानिक अर्थशास्त्रियों ने इस बात का प्रयत्न किया कि कोई मूल्य का वैज्ञानिक, सिद्धान्त, बने जिसमें

वस्तु को निरपेक्ष रखकर मूल्यांकन किया जाय। वस्तु के सब सिद्धान्त अधूरे ही रहे। चाहे जितना ही वैज्ञानिकता का आडम्बर बनाया जाय, वस्तु का निरपेक्ष मूल्य सही नहीं उतरता।

वस्तु का निरपेक्ष मूल्य है या सापेक्ष मूल्य, इस समस्या का समाधान तब तक सम्भव नहीं है जब तक मनुष्य और मानव श्रम को केन्द्र में रख कर उसके सन्दर्भ में विचार न किया जाय। महात्मा गांधी जी ने सस्ते और महँगे के झगड़े को कभी मान्यता नहीं दी। उन्होंने एक समग्र संतुलित विचार सामने रखा। मनुष्य की कुछ मूलभूत आवश्यकतायें हैं जिनकी तृप्ति से ही उसका शरीर पुष्ट होता है उसकी पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ काम करती हैं और इन्हीं दस इन्द्रियों द्वारा सारा उत्पादन होता है। सभी प्रकार के उत्पादन का लक्ष्य मनुष्य को सशक्त और पुष्ट, समर्थ और कार्यक्षम बनाने के लिए होता है। मनुष्य इन मूलभूत वस्तुओं की आवश्यकता प्रतीत करता है और उसी दिशा में बढ़ता है। उत्पादन के उपकरण, तकनीक सबको संजोता है, उनका आविष्कार और निर्माण करता है। इन मूलभूत भोग्य पदार्थों की प्राप्ति प्रकृति से करता है। सभी वस्तुओं में अपनी आवश्यकता के अनुकूल उपयोगिता का सृजन करता है। कुछ प्राथमिक भोग्य वस्तुयें होती हैं, कुछ द्वितीय श्रेणी की भोग्य वस्तुयें होती हैं, कुछ तृतीय श्रेणी की भोग्य वस्तुयें होती हैं। इस प्रकार से वस्तुओं का वर्गीकरण होता है। ऐसी वस्तुयें जैसे अन्न, जो प्राण प्रतिष्ठा करता है, उसका उत्पादन और उपभोग सबके लिए सुलभ होना चाहिए क्योंकि इससे जीवन का सम्बन्ध है। गांधी जी ने इस वस्तु को अमूल्य माना, अन्न बाजार की वस्तु नहीं है। वह उतना ही मूल्यवान है जितना मनुष्य का जीवन। इस प्रकार से ऐसी जीवनदायिनी वस्तुओं को वे बाजार से बाहर निकाल देते हैं। अन्न, जल, हवा, भूमि, जो पंचभूत हैं ये क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं हैं। इनके उपरान्त जो अन्य श्रेणी की वस्तुयें हैं, उनका मूल्य मनुष्य के साथ जुड़ा हुआ है। उनका वास्तविक मूल्य ही गांधी जी रखते हैं, मौद्रिक मूल्य के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपना उन सब आवश्यकताओं के लिए, जो उसके लिए स्वास्थ्यवर्धक और आवश्यक हैं स्वावलम्बी होगा और परस्परावलम्बन की प्रक्रिया से उनका विनिमय करेगा। उस विनिमय की पद्धति में वस्तु से वस्तु का विनिमय होगा। मुद्रा का

कोई स्थान नहीं होगा। महँगी सस्ती का कोई सवाल नहीं उठता। इसलिए उन्होंने ग्रामोद्योग को ही मान्यता दी, क्योंकि अन्न वस्त्र, जूता, तेल, गुड़ आदि वस्तुयें परस्परावलम्बन की प्रक्रिया से एक दूसरे से विनिमय की जायँगी। इनका मूल्य मनुष्य की वर्गीकृत श्रेणीबद्ध आवश्यकता निर्धारित करेगी, यह निर्धारण मनुष्य के उपभोग्य पदार्थ के बीच किसी तीसरे मुद्रा-राक्षस के प्रवेश द्वारा नहीं होगा। भोग्य वस्तु एवं उपभोक्ता का सीधा सम्बन्ध होगा। प्रत्येक व्यक्ति पहले उत्पादक होगा तब उपभोक्ता होगा। ऐसी स्थिति में उत्पादक, उपभोक्ता, भोग्य वस्तु आदि के बीच में कोई अन्य कड़ी आती ही नहीं। सारा उत्पादन इस अर्थव्यवस्था में पड़ोसी के लिए होगा। उसकी नितान्त सुपरिचित आवश्यकता के लिए होगा। उत्पादक का हृदय, उसकी कला, उसकी प्रसन्नता भोग्य पदार्थ से जुड़ी होगी। वह अपनी बनायी हुई वस्तु दूसरे को भोग के लिए देकर प्रसन्नता का अनुभव करेगा। यह आनन्द और प्रसन्नता पूँजीवादी व्यवस्था में जहाँ उत्पादन क्रय-विक्रय के लिए होता, समाजवादी व्यवस्था में जहाँ उत्पादन केवल उपभोग के लिए, प्रयोग के लिए होता है, नहीं प्राप्त हो सकता। इस व्यवस्था में उत्पादन सर्वथा भिन्न होगा। अर्थात् उत्पादन मानवता के लिए, प्रेम के लिए होगा। इसी का नाम है कौटुम्बिक सर्वोदय की अर्थव्यवस्था। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि गांधी जी ने बाजार और मूल्य की कोई कल्पना ही नहीं रखी। उन्होंने बाजार का परिवारीकर कर दिया है। बाजार को कुटुम्ब में ला देना चाहते हैं ताकि प्रत्येक व्यक्ति पात्रता के अनुसार, आवश्यकता के अनुसार उन सब वस्तुओं का जो उसके लिए जीवनदायिनी हैं, उत्पादन और उपभोग कर सके। इसीलिए इस प्रकार की तकनीक, व्यवस्था एवं उत्पादन विधि गांधी जी ने दी है। सारी वस्तुओं का उत्पादन और उपभोग मानव के लिए आवश्यक है, इससे आगे बढ़कर गांधी जी उसे सर्वसुलभ करा देते हैं और सभी को अपने श्रम को उत्पादक बनाने का अवसर देते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य जो कुछ भी उत्पादन करता है वह बाजार की प्रक्रिया से और मुद्रा के पैमाने से न निकल कर कुटुम्ब के सहारे और मनुष्य की मानवता के पैमाने से गुजरेगा। सारा उत्पादन मनुष्य द्वारा, मनुष्य के लिए होगा। उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होगा जो मनुष्य को सक्षम, स्वस्थ और पुष्ट बनायें। गांधी जी ने किसी वस्तु का वही मूल्य माना कि उसमें मनुष्य की दसों इन्द्रियों को संयम के साथ

शक्ति देने की कितनी सामर्थ्य है और वह स्वस्थ मनुष्य के लिए कितनी आवश्यक है। अन्य वस्तुयें जो वासना के कारण होती हैं, जिन्हें विलासिता की वस्तुयें कहते हैं उनका कोई मूल्य नहीं है। गांधी जी ने इसीलिए रहन सहन के स्तर की बात न करके जीवन के स्तर की बात की है। जिन वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग से प्रत्येक नरनारी स्वस्थ और दीर्घायु हो सकें, उनका जीवन संयममय बन सके, उन्हीं को मानवीय दृष्टिकोण से मूल्यवान माना गया है। ऐसी वस्तुओं की सर्वसुलभता पर्याप्त मात्रा में हो। इसीलिए गांधी जी ने उस दिशा की तरफ संकेत किया जहाँ अन्न, वस्त्र ऐसी वस्तुयें पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हों और इनकी भोग्यक्षमता भी सीमित है इसलिए प्रत्येक नरनारी को उन वस्तुओं के लिए तरसना न पड़े। कुमारप्पा जी के शब्दों में बाजार की अर्थव्यवस्था गांधी जी की अर्थव्यवस्था है। बाजार और इस प्रकार के मौद्रिक प्रचलित मूल्य जो त्रुटिपूर्ण थे उन्हें गांधी जी ने परिष्कृत करके सही मूल्य का सिद्धान्त दिया है। इतिहास में अब तक के जो प्रचलित मूल्य सिद्धान्त थे उनकी अपूर्णता गांधी जी ने समाप्त कर दी क्योंकि गांधी जी ने मनुष्य को विभूति माना है और वहीं पर मनुष्य के लिए भोग्य वस्तुओं को भी विभूति माना है। इसीलिए एक कण मलमूत्र, एक-एक इंच कपास का धागा, एक-एक अन्न सभी विभूति हैं, इनका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। इसलिए उन्होंने सभी को, मनुष्य और प्राणदायिनी वस्तुओं को बाजार के इस नंगे नाच से दूर रखने का धार्मिक दर्शन दिया। यही सही मूल्य का सिद्धान्त है जहाँ कि सबकी उचित प्रतिष्ठा है और वह प्रतिष्ठा मानव और मानवता के साथ जुड़ी हुई है। सभी अर्थशास्त्री बाजार के इस कुकृत्य को समझ कर, मुद्रा की क्रियाओं से विवश होकर मूल्य का एक नया मापदण्ड, मनुष्य को बीच में रख कर, खोजते रहे हैं। गांधी जी ने मूल्य के सिद्धान्त को पूर्ण और परिपक्व बना कर शताब्दियों से अपूर्ण विचार को पूर्ण कर दिया।

———

चतुर्दश-परिच्छेद

योजना की ओर

मानव जीवन के विकास का प्रत्येक युग और सोपान अपने चिन्तन और कार्य-विधि का स्वयं विकास कर लेता है। मानवता का इतिहास, जो निर्माण और एकता की ओर अग्रसर हो रहा है, इस बात का सचमुच साक्षी है। प्रत्येक युग पिछले युगों का उत्तराधिकारी होने के कारण प्राचीनता की भूमिका में नव-निर्माण करता है। व्यापक दृष्टिकोण से सब में एकता का आभास होता है। इसीलिए प्राचीनता और नवीनता के मध्य में कोई रेखा खींचना पूर्ण सम्भव नहीं हो सकता। आज का युग वैज्ञानिक युग है। हमारे चिन्तन का मापदण्ड विज्ञान है और हमारे कार्य का मापदण्ड विशिष्ट योजना है। इन दोनों ने हमारी जीवनविधि और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को पूर्णतया प्रभावित कर लिया है। सामाजिक जीवन का एक नया स्वरूप हमारे समक्ष है जो नये चिन्तन, नये जीवन तथा नयी व्यवस्था के लिए हमें बाध्य कर रहा है। इसलिए अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को नये युग के अनुकूल आयोजित करना है।

इस युग के पहले धार्मिक द्वन्द्व, अन्तर्राष्ट्रीय विशृंखलता, धार्मिक कट्टरता, अन्ध विश्वास, संकीर्ण समुदाय, एक दूसरे की संस्कृति के प्रति घृणा और अश्रद्धा का प्रसार था। न तो उनके चिन्तन में साम्य था और न उनके जीवन में एकता थी। सहिष्णुता का पूर्ण अभाव था। अतएव एक सहजीवन की कल्पना उस युग में सम्भव न हो सकी। चिन्तन तथा व्यवहार के दोनों क्षेत्रों में असामञ्जस्य तथा विशृंखलता का राज्य था। प्रत्येक व्यक्ति और विचार अपने को ही सही मानता था।

व्यक्तिवादी प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं, क्योंकि व्यक्ति ही का महात्म सभ्यता की प्रक्रिया में मान्यता प्राप्त कर चुका है।

मानव जीवन में व्यक्तिवादी दर्शन ही वास्तविक दर्शन है। आदर्शवादी विचारों में एक विशेष आदर्श या मानव जीवन का एक विशेष ध्येय ही सत्य है। यही मानव सभ्यता को अग्रसर करता है। भौतिकवादी विचारों के अनुसार व्यक्ति तथा आदर्श का कोई महत्व नहीं है। प्रकृति और जीवन के यही सिद्धान्त का विश्लेषण मानव इतिहास की प्रक्रिया में प्राकृतिक या आर्थिक व्याख्या में ही हो सकता है। धर्मवादी विचारों के अनुसार मानवता की धारा और भाग्य का निर्माण इन्हीं के देवदूतों और देवताओं द्वारा हुआ है और यह सब समय के लिए, सब स्थान के लिए और सबके लिए सत्य है। उनके विचार काल तथा स्थान से बाधित नहीं हैं। समाजवादी विचारों के अनुसार अन्य दर्शन असत्य हैं। मानव विकास की व्याख्या वर्ग संघर्ष तथा आर्थिक नियन्त्रण के अन्तर्गत ही पूर्ण रूपेण हो सकती है और वही व्याख्या सत्य है। जातिवादी विचारों के अनुसार कोई विशेष जाति उच्च संस्कार युक्त है और पूर्णतया विकसित है। यही विशेष जाति संसार को प्रकाश देती है, विकसित करती है और मानव सभ्यता का सृजन करती है। अतएव इसी जाति की संरक्षता और नियन्त्रण में मानव समाज सुखी तथा सुसंस्कृत रह सकता है। सर्वोदयी विचार के अनुसार मानव का विकास उसके समग्र विकास में छिपा है। आध्यात्मिक या नैतिक और भौतिक विकास साथ-साथ होता है परन्तु नैतिक विकास अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों का उचित विकास होना आवश्यक है। बिना दोनों के विकास के मानव सभ्यता भयावह परिस्थिति में परिणित हो जाती है; सबके सद्गुणों का विकास हो और सबके दुर्गुणों का पतन हो तभी प्रत्येक जीव साथ-साथ ऊँचा उठ सकेगा।

इन विचारों की व्याख्या के उपरान्त अनेकों मूल्यों का विश्लेषण आवश्यक है। भौतिक मूल्य के अन्तर्गत वस्तु को ही सत्य और प्रधान माना जाता है। इसीलिए इसे वस्तुगत मूल्य भी कहते हैं। आदर्श मूल्य के अन्तर्गत वस्तु का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता बल्कि उसका निर्धारण आत्मगत भावना से होता है। आर्थिक मूल्य के अन्तर्गत मनुष्य को सीमित समय, स्थान तथा साधन से सम्बद्ध कराना होता है। इसके मूल में उपयोगिता और अनुपयोगिता का मापदण्ड होता है। नैतिक मूल्य के अन्तर्गत मनुष्य को दूसरे मनुष्य से सम्बद्ध कराना होता है जिसमें नैतिक भावना या उचित अनुचित का मापदण्ड होता है। राजनैतिक मूल्य के

अन्तर्गत एक समाज का दूसरे समाज के साथ या व्यक्ति के साथ सम्बन्ध निश्चित करना होता है तथा उसके पीछे उनमें शान्ति और अशान्ति की समस्या का हल प्रधान रहता है। कलात्मक या सौन्दर्य मूल्य के अन्तर्गत व्यक्तियों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य और प्राकृतिक तादात्म का निर्धारण होता है। धार्मिक मूल्य के अन्तर्गत व्यक्ति तथा विश्व में तादात्म की कल्पना होती है। इन मूल्यों में केवल आर्थिक मूल्य 'साधन' को प्रमुखता देते हैं, अन्य मूल्य 'साध्य' को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। परन्तु इन सब मूल्यों का उद्देश्य और आदर्श मानव मूल्य ही है। मानव मूल्य की प्रतिष्ठा ही समाज को ऊपर उठाती है और इसी की कमी पतन की ओर ले जाती है।

ये अनेक विचारधारायें अपने को सत्य तथा अन्य को असत्य प्रमाणित कर युगों में कभी विशेष महत्व प्राप्त कर लेतीं, परन्तु आज भी इन्हीं की पृष्ठभूमि में नए विचार पनप रहे हैं। कालान्तर में इनमें संकीर्णता आ गई और इनका पतन हुआ परन्तु मानव चिन्तन जगत में ये विविध रूप में आते जा रहे हैं। अन्तिम विचार को छोड़कर अन्य विचार एकांगी हैं। उनमें समग्र मानव विकास और मानवता की मांग पर पूर्ण विचार नहीं किया गया है। मानवता जीवनविधि और प्रचलित व्यवहार के तंग क्षेत्र में अपने को नहीं बाँधती, बल्कि मानवता का सतत् प्रयास अधिकतम एकता और न्यूनतम नियन्त्रण की प्राप्ति का रहता है। मानवता यदि इनमें बँध जाती है तो वह जड़वत् बनकर ह्रासोन्मुख हो जाती है। यही कारण है कि मानवता को समय-समय पर बड़ी ठेस पहुँचती है। एक विशेष वर्ग और पद्धति, जाति और धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता, राष्ट्र तथा समुदाय, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक, दर्शन और विश्वास की कट्टरता और श्रेष्ठता ने बौद्धिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अस्त-व्यस्त असंगत वातावरण का प्रसार कर दिया है। जब तक मानव जीवन की विचारधारा में सहिष्णुता, आदान-प्रदान की भावना नहीं आएगी; अनेक सामाजिक संस्थाओं में परिवर्द्धन सम्वर्द्धन तथा संशोधन की ग्रहणशीलता न आएगी, और अनेक सिद्धान्तों में समग्रता का रूप न होगा, तब तक हमारे वैचारिक क्षेत्र में कलुषित द्वन्द्व और अस्पष्टता वर्तमान रहेगी। चूँकि विचार, प्रदर्शक होता है इसलिए मानवता और सभ्यता की रक्षा इन विचारों की समग्रता तथा सभ्यता पर निर्भर है। मानवता में समग्रता और युगों की विविध संस्कृतियों का समावेश है।

यह किसी विशेष काल की देन नहीं है। इसलिए इसकी रक्षा तभी सम्भव है जब इसमें विशालता हो और एक समग्र दृष्टिकोण हो। इसे हम काल और स्थान से नहीं बाँध सकते।

विचारों के क्षेत्र से अब हम आज के आचार क्षेत्र में आते हैं। जैसा विचार होगा वैसा ही आचार भी होगा। बर्बादी और अकिंचनता प्रत्येक स्थल पर दृष्टिगत हो रही है। सबलों ने निर्बलों पर आधिपत्य जमा रखा है। अधिक शक्ति के लिए सबल परस्पर युद्ध करते हैं। निर्दोष प्राणियों का हनन होता है। नैतिकता का पतन होता है। भय, निराशा, अकिंचनता तथा असुरक्षा की भावना सब जगह व्याप्त हो रही है। विश्व के सम्पन्न नागरिक बिना किसी प्रयोजन के आत्महत्या करते हैं। ऐसा विश्वास होता जा रहा है कि मानवता और सभ्यता का समूल विनाश निकट भविष्य में होने वाला है। शान्ति के समय भी उत्पादन, उपभोग तथा वितरण में छीना झपटी का हाहाकार मचा हुआ है। मानव जीवन का नियमन अर्थीय सम्बन्धों से हो रहा है। आर्थिक क्षेत्र में मालिक और मजदूर, राजनैतिक क्षेत्र में राजा और प्रजा का सम्बन्ध है। आर्थिक पद्धति में लाभ, लगान, ब्याज तथा मजदूरी, एकाधिकार बाजार तथा व्यापार, पारिवारिक पद्धति में जनसंख्या वृद्धि तथा भयावह रुग्णता का ही समावेश है। विषम वितरण तथा असंतुलन, बर्बादी तथा अकिंचनता, सतत अवकाश तथा सतत काम, बाहुल्य तथा न्यूनता, प्रासाद और झोपड़ियाँ ये साथ-साथ समाज में पाये जाते हैं।

इसका मूल कारण क्या है? प्रथम तो यान्त्रिक कला का तीव्रगति से विकास होता जा रहा है। दूसरे प्रादेशिक सीमायें और सांस्कृतिक दीवारें तेजी से ढलती जा रही हैं, जिससे आचार-विचार में संकीर्णता के स्थान विस्तार होता जा रहा है। तीसरे एक निश्चित नये समाज का सृजन होता जा रहा है, जिसके नये विचार, नये जीवन तथा नई कार्य-विधि है। चौथे आर्थिक ढाँचे, राजनैतिक सम्बन्ध, सामाजिक ढाँचे, बौद्धिक मान्यता तथा नैतिक विचारों में बड़ा दुराव उत्पन्न हो गया है। इनके प्रसार तथा विकास में कोई तारतम्य और एकता नहीं है। पाँचवें पुरानी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संस्थायें वर्तमान युग की मानव सुरक्षा, न्याय तथा कल्याण की माँग को पूरी करने में असमर्थ हो गयी हैं। मूल्य का मापदण्ड ही भिन्न हो गया है। मानव मूल्य तिरोहित हो गया है। इसीलिए मानव व्यवहार में एक कटुता और कठोरता उत्पन्न

हो गई है। एक ओर जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही है दूसरी ओर बढ़ी जनसंख्या की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए भौतिक साधन पर व्यक्तिगत स्वामित्व और स्वार्थ की लिप्सा, एकत्रीकरण को प्रोत्साहित करती जा रही है; जिससे उपलब्ध भौतिक साधन भी अलभ्य होते जा रहे हैं। करोड़ों मानव पेट की ज्वाला से पीड़ित हैं। आज समाज के कोने-कोने से सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक न्याय तथा सामाजिक कल्याण की पुकार हो रही है। मानव मात्र की रक्षा की समस्या जटिल बन गई है। विरोधी भावनायें तथा परिस्थितियाँ समाज में बढ़ती जा रही हैं। अतुल वासना और भीषण दीनता, घोर आलस्य तथा घोर परिश्रम, व्यक्ति तथा समाज, शासन तथा स्वतन्त्रता आदि के जाल में हम पूर्णतया फँस गए हैं। हमारे व्यवहार एक दूसरे के प्रति पशुवत हो गए हैं। सामाजिक न्याय के तत्वों का अभाव हो गया है। अधिकार और कर्त्तव्य, मुक्ति तथा नियंत्रण, समता तथा न्याय; काम तथा मनोरंजन, कला, उचित अवकाश, उचित वितरण में मानवीय दृष्टिकोण, प्रत्येक को कार्य करने का अधिकार, सम्पत्ति तथा सुख का समन्वय तथा आर्थिक जीवन में सामाजिक संतुलन आज के समाज से तिरोहित हो गये हैं।

योजना युग की माँग

मानव प्रयास कर रहा है कि समाज में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों और वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग करके एक सुखमय शान्तिमय समाज की रचना करे। इस नये समाज में मानव का समग्र विकास हो। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, व्यक्तिगत तथा नैतिक विकसित मानव का समाज में पदार्पण हो और यह तत्व सतत् समाज में वर्तमान रहें। रचना का प्रयास किया गया परन्तु कालान्तर में रचना दोषमय सिद्ध हुई और समाज विकृत हो गया। पुनः प्रयास हुए और नवीन परिवर्तन तथा मूल्य आए परन्तु वे भी विकृत हो गए। इसी प्रकार का तारतम्य चला आ रहा है। योजना सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक क्रान्ति का संदेश-वाहक है। मानवता को परखना और ज्ञान के आधार पर उसकी स्वतन्त्रता, सुरक्षा और कल्याण की व्यवस्था करना योजना की कला है। मानवता की सार्वभौमिकता तथा व्यापकता को मान्यता देना होगा। समस्त मानव, मूल में एक प्रेरणा तथा जीवन से अनुप्राणित है।

सबका एक आधार, एक उद्देश्य तथा एक जीवन है। अब तक संकीर्ण भावनाओं और संस्थाओं में मानवता को बाँधकर हमने भारी भूल की है। आज की आर्थिक क्रियायें, राजनैतिक सम्बन्ध, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप किसी विशेष सीमा में नहीं बँधे हैं। सबके सब एक दूसरे पर निर्भर हैं और सब में एकता तथा एक रस का ही प्रसार है। अतएव योजना को आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक तत्त्वों का मिश्रण करके साध्य और साधन का समन्वय करके और भौतिक साधनों तथा समस्त समाज के कल्याण के ताने-बाने से रचना करनी होगी। इसीलिए राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन तथा व्यापार आदि योजनाओं का निर्माण किया जा रहा है। इन सबका उद्देश्य मानव है। सुरक्षा प्रदान करना, जीवन मान को ऊँचा उठाना, पीड़ा भरी दीनता, बेकारी, बीमारी, गन्दगी, अज्ञानता का उन्मूलन करना, संस्कृति तथा शिक्षा के विकास से मानव में रचनात्मक तथा कल्याणात्मक शक्ति का सृजन करना जिससे समाज में अधिकतम उत्पादन हो; उचित वितरण हो और दैहिक, दैविक तथा भौतिक आपत्तियों से उत्पन्न असमर्थता एवं विवशता का अन्त हो जाय, यही योजना का लक्ष्य है। एक स्वस्थ नागरिक और एक स्वस्थ समाज यही नये समाज की कल्पना है। इसे प्राप्त करने की कला ही 'योजना' है।

आर्थिक योजना के मूल तत्व

योजना का एक मन्तव्य और उद्देश्य होता है। दूसरे इस ध्येय को एक निश्चित समय के भीतर प्राप्त करना होता है। तीसरे ध्येय की प्राप्ति के लिए आर्थिक साधनों का समुचित प्रबन्ध करना होता है। चौथे उत्पादक साधनों पर नियंत्रण करना पड़ता है। पाँचवें इस योजना का निर्णय और इस पर नियन्त्रण व्यक्तिगत न होकर राजकीय होता है।

इन्हीं तत्त्वों के आधार पर संसार में प्रचलित योजनाओं के तीन भेद किए गए हैं।

(१) साम्यवादी आर्थिक योजना।

(२) जर्मनी की नात्सी योजना और इटली की फासिस्ट योजना।

(३) पूँजीवादी आर्थिक योजना।

प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में कार्यप्रणाली तथा तीव्रता आदि की साम्यता है, केवल दो बातों में अन्तर है। साम्यवादी आर्थिक योजना में उत्पादक सभी भौतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व और नियंत्रण होता है। राज्य अपनी इच्छानुसार उन साधनों का प्रयोग करता है। परन्तु फासिस्ट योजना में स्वामित्व व्यक्तिगत रहता है लेकिन उन साधनों का उपयोग राज्य की आज्ञा और इच्छानुसार ही किया जाता है। दूसरे साम्यवादी योजना अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्रणेता होती है। दलित तथा अकिंचन वर्ग का पूर्ण उत्थान करना इस योजना का लक्ष्य होता है। फासिस्ट योजना का ध्येय एक अल्प-संख्यक वर्ग या दल का हित वर्धन होता है। दल को शक्ति प्रदान करना और उससे देश को सैनिक और भौतिक बल प्रदान करना इसका उद्देश्य होता है। इसलिए कहा जाता है कि इस योजना में कल्याण ध्येय न होकर शक्ति प्राप्ति ध्येय होता है। फासिस्ट योजना जर्मनी तथा इटली की योजनायें थीं तथा साम्यवादी योजना रूस की योजना है।

योजनाओं का विभिन्न स्वरूप आज इस युग में है। सभी आर्थिक दोषों का निराकरण इन योजनाओं द्वारा किया जा रहा है। साम्यवादी, समाजवादी, राष्ट्रवादी, सैनिकवादी, औद्योगिक, मजदूरवादी, अर्थशास्त्री, राजनैतिक, व्यक्तिवादी, पूँजीवादी आदि अनेकों योजनाओं के स्वरूप हैं। इन योजनाओं का सृजन क्यों हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। पहला कारण वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के कतिपय दोष हैं। इस पद्धति में उत्पादन वृद्धि तो हुई परन्तु आर्थिक विषमता ने भयंकर रूप धारण कर लिया। समाज की बड़ी धनराशि एक मुट्ठी भर लोगों के हाथों में आ जाती है और एक बड़ा दीन वर्ग समाज में केवल थोड़े से धन से अपने को जीवित मात्र रखता है। इस पद्धति का उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है; अतएव समाज के भौतिक तथा मानवीय साधन का बड़ा अंश बेकार हो जाता है। यह बर्बादी सामाजिक दृष्टिकोण से बड़ी मँहगी पड़ती है। यही नहीं बल्कि धनिक वर्ग की विलासिता की आवश्यकताओं की तृप्ति का पूर्ण प्रबन्ध इस पद्धति में होता है, क्योंकि उसमें लाभ की प्राप्ति है परन्तु दीनों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता; जिससे उनकी आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं हो पाती। समय-समय पर अत्यधिक उत्पादन तथा घोर स्पर्धा के कारण माल इकट्ठा हो जाता है परन्तु उसका क्रय-विक्रय नहीं हो पाता

और मन्दी की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। निम्न अवस्था में समाज यातनायें भुगतता है। लोग इन वस्तुओं को क्रय करना चाहते हैं परन्तु उन्हें क्रय करने के लिए क्रयशक्ति नहीं है। बेकारी की विकट यातना से लोग क्षुब्ध हो उठते हैं। इस पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज में एक निराशा का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

दूसरे रूस की साम्यवादी योजना, जर्मनी तथा इटली की फासिस्ट योजना को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में वृद्धि हुई तथा भौतिक शक्ति का बड़ा ही विकास और संवर्द्धन हुआ। रूस में जो अकिञ्चनता तथा दरिद्रता थी उसका बड़े अंश में निराकरण हुआ। इन देशों में योजना के फलस्वरूप एक उत्साह तथा शक्ति का प्रसार हुआ। इससे सब लोगों में योजना के प्रति विश्वास तथा निष्ठा उत्पन्न हुई।

तीसरे भीषण युद्धकालीन परिस्थिति में योरोप तथा अमेरिका के देशों ने योजना का सहारा लेकर उद्योग तथा उत्पादन के क्षेत्र में सराहनीय सफलता प्राप्त की। सैनिक तथा साधारण जन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य द्वारा संचालित योजना ने पूर्णतया कर ली। राज्य का इन सब साधनों पर नियंत्रण रहा। ऐसी विषम परिस्थिति को पार करने में योजना सहायक सिद्ध हुई। अतएव इसके प्रति संसार में पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया और योजनाओं का सृजन होने लगा।

आर्थिक योजना का ध्येय

योजनाओं की रचना हुई। इन योजनाओं का ध्येय आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक है। योजनाओं का विश्लेषण करने पर उनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होते हैं।

(१) सुरक्षा तथा राजनैतिक शक्ति—शान्ति चाहनेवाले देशों में सुरक्षा की दृष्टि से परन्तु लड़ाकू देशों में दूसरे देशों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए योजनाओं का संचालन किया जाता है।

(२) स्वयं पूर्णता तथा अविकसित आर्थिक व्यवस्था का विकास—जिन देशों में नवीन वैज्ञानिक प्रयोग उत्पादन के क्षेत्र में नहीं किए गए हैं

वे देश अन्य देशों की बराबरी के लिए नवीन यन्त्रों का प्रयोग करते हैं और उत्पादकता का विकास करते हैं। यदि वे भोजन, कच्चे माल आदि में दूसरे देशों पर निर्भर रहते हैं तो उसे भी अपने देश में उत्पादित करने की योजना बनाते हैं।

(३) पूर्ण उद्यम—इसके कई अर्थ होते हैं। समाज में कार्य तथा अवकाश का उचित संतुलन स्थापित करना। उतने समय का कार्य जिससे जीविका चलाने में कोई बाधा न हो। साथ ही साथ उतना अवकाश भी जिससे अपना सांस्कृतिक विकास भी व्यक्ति कर सके। पूर्ण उद्यम के यह भी तात्पर्य हैं कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुकूल तथा उचित वातावरण में कार्य पा सके, जिससे उसका जीवन स्तर ऊँचा उठ सके और उसका व्यक्तित्वपूर्ण विकसित हो सके। इस पूर्ण उद्यम द्वारा प्रत्येक राष्ट्र न केवल अपनी सम्पत्ति की वृद्धि कर सकता है बल्कि वहाँ का नागरिक अपने आत्म सम्मान को भी ऊँचा उठाता है और समाज का एक उपयोगी सदस्य बनने में समर्थ होता है। पूर्ण उद्यम की समस्या आज के युग में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी अवहेलना या इसके प्रति उदासीनता कोई राष्ट्र या समाज नहीं दिखला सकता। बेकारी या अर्ध बेकारी समाज को जर्जर तथा निर्बल बनाती है क्योंकि मनुष्य के सम्मान को यह धक्का देती है। चाणक्य के शब्दों में "यस्मिन देशे न सन्मानो व वृत्ति न च बान्धवाः न च विद्यागमोऽप्यस्ति वासं तत्र न कारयेत"। बहुत से विचारकों ने बेकारी को मृत्यु से भयंकर पाप बताया है। यह एक प्रकार की आत्म हत्या है। सब पापों का मूल है। गेलेन ने कहा है कि काम प्राकृतिक वैद्य है और मानव सुख के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए इस समस्या का निराकरण प्रत्येक समाज और राष्ट्र करना चाहता है। इसके लिए अनेक योजनायें आज संसार में बनाई जाती हैं। जनसंख्या वृद्धि तथा मशीनों का आविष्कार इस समस्या को जटिल बनाता जा रहा है।

(४) आर्थिक सुरक्षा—प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार का पोषण चाहता है। उसके लिए उचित भौतिक साधन की उपलब्धता चाहिए। अतएव प्रत्येक को काम मिले तथा काम में स्थायित्व हो और काम का पुरस्कार उसे वर्तमान तथा भविष्य के जीवन को पोषक तत्व प्रदान कर सके। दैहिक, दैविक, भौतिक आपत्तियों में भी उसे सुरक्षा मिल सके। इसीलिए इसके अन्तर्गत जो योजनायें चलाई जाती हैं उनमें पूर्ण उद्यम, उचित

मजदूरी तथा अन्य उचित पुरस्कार की योजना बनाई जाती है। कल्याणकारी राज्य भी इस ओर तीव्रता से बढ़ रहे हैं। पूँजीवादी तथा फासिस्टवादी राज्य सब प्रकार के पुरस्कार का उचित स्थान निश्चित करते हैं। जीवन मान को ऊँचा उठाना आज अनेक योजनाओं का ध्येय है।

(५) सामाजिक सुरक्षा—आज जागरण का युग है। सामाजिक असमानता, जिसमें अमीरों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान तथा गरीबों की आवश्यक आवश्यकताओं की तनिक भी परवाह नहीं की जाती, सबको खलती है। इससे समता के युग को धक्का पहुँचता है। अमीर और गरीब सबकी आवश्यकताओं में ये भेद न हों और न उनके कारण समाज में खलने वाली विषमता ही हो। साथ ही साथ आज न्याय की भावना का भी प्रसार हो रहा है, क्योंकि मानव मूल्य की व्यापकता पर भी ध्यान आकृष्ट होने लगा है। जन जागरण, शिक्षा प्रसार, साम्यवादी भावना, तथा मानव मूल्य की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप न्याय की भावना भी प्रबल होती जा रही है। मनुष्य में दूसरे असहाय निर्धन मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य की चेतना जग रही है। सबको बराबर आर्थिक साधन मिलना चाहिए और सबको जीवित रहने का अधिकार है। इतनी विषमता नहीं रहनी चाहिए यद्यपि थोड़ी सी विषमता का रहना स्वाभाविक ही है। इसीलिए रूस ने भी 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार के स्थान पर, प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार, का नारा लगाना आरम्भ कर दिया है।' इस नयी भावना की रक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयास प्रत्येक राज्य अपने दृष्टिकोण से करना चाहता है और उसी के अनुकूल योजनाओं का सृजन करता है।

(६) युद्धोपरान्त निर्माण—विध्वंसकारी महायुद्ध के कारण संसार के देश ग्रस्त हो उठते हैं। उनका सारा जीवन—आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक, अव्यवस्थित हो जाता है। उसके निर्माण के लिए तथा सुधार के लिए शान्तिमय जीवन चलाना इन योजनाओं का ध्येय होता है।

इन्हीं उद्देश्यों से योजनाओं का संचालन किया जाता है। इन योजनाओं के पीछे कोई एक ही ध्येय नहीं होता बल्कि अनेक उद्देश्यों का मिश्रण होता है। एक समाज की कल्पना की जाती है जिसमें समाज की

सम्पत्ति बढ़े, प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मान ऊँचा हो। सबको काम मिले। सबके व्यक्तित्व को विकसित किया जा सके, जिससे देश में स्वस्थ नागरिक बन सकें। व्यक्ति के विकास के साथ-साथ राष्ट्र का विकास हो। राज्य योजनाओं की सफलता के लिए सब प्रयास करता है और उसके लिए अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग करता है।

योजना का संचालन

योजना का प्रारम्भ और अन्त पाँच परिस्थितियों से पार होकर परिपक्वता को प्राप्त करता है। पहले राष्ट्रीय लोकसभा कुछ उद्देश्य और लक्ष्य को निर्धारित करती है और उसकी प्राप्ति के लिए कार्य प्रणाली का स्वरूप निश्चित करती है। साधारण नीति के तय हो जाने के उपरान्त दूसरा कदम उठाया जाता है और योजना की रूपरेखा बनाने के लिए एक केन्द्रीय योजना आयोग की नियुक्ति होती है। यह आयोग अर्थ-शास्त्रियों, आँकड़ा शास्त्रियों, वैज्ञानिकों, आदि की सहायता से कुछ योजना का आधार और रूप खड़ा करता है। उद्देश्य को ध्यान में रख कर सब क्षेत्र को टटोला जाता है। प्रादेशिक, विभागीय, व्यावसायिक सब प्रकार की योजनायें इस आयोग के पास भेजी जाती हैं और सबको यह योजना में संकलित करता है। केन्द्रिय योजना में इन योजनाओं के आधार पर भी संशोधन और सम्वर्धन किया जाता है। तीसरा कदम योजना तैयार हो जाने पर इसकी स्वीकृति का होता है। इसे राष्ट्रीय सरकार या पहले से ही निर्मित सर्वोच्च आर्थिक समिति स्वीकार करती है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन तथा संशोधन भी यह कर सकती है। चौथा कदम योजना को कार्यान्वित करने का उठाया जाता है। कार्यान्वित करने का कार्य केन्द्रिय शासन को सौंपा जाता है। यह केन्द्रिय शासन अपनी प्रान्तीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासन शाखाओं द्वारा इसे कार्यान्वित करता है। पाँचवाँ कदम अन्तिम कदम होता है। इसमें योजना का निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण होता है। जो समस्यायें तथा अड़चनें उत्पन्न होती हैं, उनका निराकरण किया जाता है और उनके अनुभव के आधार पर भविष्य में सतर्कता से काम लिया जाता है। योजना को परिवर्तित भी किया जाता है। सारे सिद्धान्त और दर्शन कार्यान्वित होने की परिस्थिति में ही पूर्णतया परखे जा सकते हैं। इसकी देख-रेख तथा इस पर नियंत्रण

एक केन्द्रित योजना आयोग द्वारा किया जाता है। स्थानीय सरकारें इस पर पूर्ण दृष्टि रखती हैं। यह आयोग योजना को सुचारु संचालन के लिए अनेक संस्थाओं का निर्माण कर सकता है और उनकी सहायता ले सकता है।

योजना और नियंत्रण

योजना की सफलता के लिए प्रतिबन्ध अत्यन्त आवश्यक है। यह नियंत्रण कई प्रकार से तथा कई स्थलों से लगाया जाता है। सारी कार्य-प्रणाली नियंत्रण से जकड़ी रहती है। पहला नियंत्रण उत्पादन पर होता है। कौन वस्तुयें और किस मात्रा में उत्पादित की जायें इसका निश्चय करना पड़ता है। दूसरे उत्पादित वस्तुओं का क्रय-विक्रय किस दर पर किया जाय? तीसरे जनता किस कार्य तथा पेशे को अपनाये, चौथे लोगों की बचत की कितनी मात्रा विनियोग में आये और कहाँ उसका विनियोग किया जाय; पाँचवें समाज के व्यक्ति कितनी मात्रा में तथा कौन वस्तु का उपभोग करें और कितना बचायें तथा किस परिमाण में बचायें आदि समस्याओं पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाता है।

ये प्रतिबन्ध दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध जो राज्य द्वारा लगाए जाते हैं तथा आयोजित आर्थिक व्यवस्था में पूर्णतया इनका प्रयोग किया जाता है। द्वितीय परोक्ष प्रतिबन्ध जो बाजार-भाव द्वारा लगाया जाता है। इसमें दाम को ऊँचा और नीचा करके योजना संचालक अपनी निर्धारित नीति को सफल बनाते हैं। इसका प्रयोग पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में अधिकतर किया जाता है।

ये प्रतिबन्ध अपने दोनों स्वरूपों में प्रत्येक आर्थिक क्रिया का नियमन और नियन्त्रण करते हैं। प्रारम्भ उत्पादन से होता है। उत्पादन का निश्चय विशेष निपुण समिति द्वारा तय किया जाता है। यह निश्चय योजना के उद्देश्य के अनुकूल किया जाता है। युद्धोपरान्त राष्ट्र के निर्माण या पूर्ति के साधन या कच्चे माल की प्राप्ति या खाद्य पदार्थ की प्राप्ति या [illegible] ऊँचा करना आदि कोई भी उद्देश्य हो उसी के प्रकाश में उत्पादन का स्वरूप निश्चित किया जाता है। उत्पादन योजना के [illegible] हो सकते हैं। इसलिए उनका पूर्णतया नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। यह दोनों को प्रतिबन्ध से [illegible] किया जाता है या प्रतिबन्ध [illegible]

उत्पन्न कर दिया जाता है, तभी योजना अपनी गति से अपेक्षित उद्देश्य की प्राप्ति कर सकती है। योजना के संचालक कुछ वस्तुओं का उपभोग बढ़ाना चाहते हैं और कुछ वस्तुओं का उपभोग कम करना चाहते हैं। इसके लिए लोगों को बाध्य किया जाता है कि वे उसी प्रकार व्यवहार करें जिस प्रकार का व्यवहार योजना संचालक चाहते हैं। जब यह चाहते हैं कि लोग बचत अधिक करें तो कतिपय निम्नलिखित उपाय से काम लेते हैं। उससे लोगों के व्यय में कमी आती है और बचत स्वभावतः होने लगती है। उपभोग की वस्तुओं के लिए लोगों में प्रतिस्पर्धा न हो जिससे दाम इतना अधिक हो जाय कि लोग क्रय न कर सकें। इसे रोकने के लिए उपभोग की मात्रा तथा उसका दाम निश्चित और नियंत्रित कर दिया जाता है। अथवा जब धनिकों की आवश्यकताओं की वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है और अधिक संख्या में पाये जाने वाले दीनों की आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन कम होता है तो इस परिस्थिति में धनिकों की आवश्यकताओं और उपभोग पर नियंत्रण कर दिया जाता है अथवा स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद सिद्ध होने वाली वस्तुओं जैसे गाँजा, भाँग, शराब आदि के उपभोग को नियंत्रित किया जाता है या बिल्कुल समाप्त कर दिया जाता है। इसके दाम को ऊँचा करके इसके उपभोग की मात्रा निश्चित करके या पूर्णतया इसे बन्द करके अधिकारी वर्ग इसके उपभोग को नियंत्रित करते हैं।

चूँकि उत्पादन तथा उपभोग पर नियंत्रण इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन में लगी पूँजी या विनियोग पर नियंत्रण हो इसलिए विनियोग पर नियंत्रण योजना का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। योजना संचालकों द्वारा यह निश्चित होता है कि किस उद्योग तथा कम्पनी में कितने उत्पादन के लिए कितना विनियोग किया जाय। योजना का प्रयास सदैव यही रहता है कि विनियोग की गई पूँजी तथा आर्थिक साधनों का उचित तथा पूर्ण प्रयोग करके अधिकतम कार्य क्षमता प्राप्त की जाय। विनियोग और कम्पनी पर नियंत्रण करके ही हानिकर प्रतिस्पर्धा को समाप्त किया जा सकता है। इसी के साथ-साथ यह स्वाभाविक हो जाता है कि लोगों के पेशे पर भी नियंत्रण हो। जैसा उत्पादन हम चाहते हैं उसी प्रकार के कार्य करने वाले भी समाज में उपलब्ध हों तभी हमारी उत्पादन प्रणाली आगे बढ़ेगी। यहाँ चेतन साधन पर नियंत्रण करना होता है अतएव परोक्ष नियंत्रण का ही प्रयोग पूर्णतया किया जाता

है। साधारणतया जिस काम में लोगों को अधिक-से-अधिक लगाना है उस काम का पुरस्कार अन्य कार्यों के पुरस्कार से ऊँचा कर दिया जाता है, स्वभावतः लोग उस पेशे को अपनाने लगते है क्योंकि इसका पुरस्कार अधिक होता है। परन्तु युद्ध कालीन परिस्थिति या डाक्टरों की परिस्थिति में प्रत्यक्ष नियन्त्रण काम में लाया जाता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य किया जाता है कि वह उस कार्य को करे जिसे योजना के सञ्चालक कराना चाहते हैं।

आयोजित आर्थिक व्यवस्था में सन्तुलन तथा स्थायित्व उत्पन्न हो इसके लिए उत्पादन तथा उपभोग की वस्तुओं में, मजदूरी, ब्याज, लगान तथा लाभ में सन्तुलन लाना आवश्यक है। सन्तुलन के दृष्टिकोण से ही इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि भविष्य के लिये कितना उत्पादन किया जाय और कितना वर्तमान के लिए। वर्तमान के उपभोग की वस्तुओं में विलासिता तथा अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं की उत्पत्ति, मात्रा तथा प्रकार का भी निश्चय होना चाहिए। इससे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था सुरक्षित रहेगी और उसे स्थायित्व प्राप्त होगा। सामयिक उपद्रव जो देश की आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करके देश को संकट में डाल देते हैं निर्मूल हो जायेंगे। इस समीक्षा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि आर्थिक व्यवस्था को सन्तुलित रखने के लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आय में एक उचित समता अपेक्षित है। आयोजित आर्थिक व्यवस्था में लोगों की व्यक्तिगत आय तथा बचत पर भी पूर्ण नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

यह नियन्त्रण अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक हो जाता है। पूँजीवादी योजना के अन्तर्गत भी इसी नियन्त्रण के द्वारा योजना को पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है। पूँजीवादी योजना में दाम, ब्याज, मजदूरी और लाभ को ऊँचा-नीचा करके प्रत्येक क्षेत्र को नियन्त्रित करते हैं। यदि किसी वस्तु की मात्रा अधिक है और उसका उपभोग अधिक कराना है तो उसका दाम कम कर दिया जाता है और यदि किसी वस्तु की मात्रा कम है और उसका उपभोग कम कराना है तो दाम ऊँचा कर दिया जाता है। किस वस्तु का किस मात्रा में उत्पादन किया जाय इसका निश्चय भी मूल्य द्वारा ही किया जाता है। लोग किस पेशे को अधिक अपनायेंगे, इसका निर्णय उस पेशे का पुरस्कार करता है। कितनी बचत की जाय जिससे भविष्य के उत्पादन के लिए पूँजी मिल सके इसके

लिए ब्याज की दर बढ़ा देने पर अधिक बचत तथा विनियोग होने लगेगा। ब्याज की दर कम करने पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ेगा क्योंकि इससे भविष्य के लिए धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति कम हो जायगी और लोग वर्तमान उपभोग पर अधिक व्यय करेंगे जिसके परिणामस्वरूप कम बचत तथा विनियोग होगा।

योजना तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था

यहीं पर यह प्रश्न उठता है कि क्या पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था और योजना दोनों एक साथ चल सकती हैं ? इतने अधिक नियन्त्रण में पूँजीवादी योजना का अस्तित्व किस प्रकार बना रह सकता है ? उसका तो मूलाधार ही नष्ट हो जायगा। यदि योजना का तात्पर्य पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण हो तो यह योजना न होकर नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था होगी क्योंकि इसमें व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रह सकता। यदि योजना का तात्पर्य आर्थिक क्रियाओं में राज्य का ऐसा हस्तक्षेप हो जिससे राज्य पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के दोष दूर कर सके तो इसे राजकीय योजना न कहकर राजकीय हस्तक्षेप कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार का राजकीय हस्तक्षेप पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में सर्वदा सम्भव है। इस प्रकार के हस्तक्षेप आज के कल्याण-जनतन्त्रात्मक राज्य में हो रहे हैं। जब व्यापार एकाधिकारी प्रकृति का होता है तो राज्य मूल्य निर्धारण करके उपभोक्ताओं की रक्षा करता है। जिन आर्थिक क्षेत्रों में लाभ की कमी के कारण व्यक्तिगत साधनों का आकर्षण नहीं होता जैसे पाठशाला, औषधालय, जंगल आदि के कार्य वहाँ राज्य स्वयं आर्थिक कार्य करता है। मजदूर वर्ग जैसे आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा के लिए राज्य कानून बनाता है और हस्तक्षेप करके उन्हें सब प्रकार की सुविधायें दिलाता है। रेल, तार, डाक, विद्युत इत्यादि सामाजिक उपयोगिता या सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य जिन्हें सस्ते-से-सस्ते दर पर समाज को देना होता है, राज्य अपने हाथ में ले लेता है। जब उपभोक्ता को उत्पादक ठगना चाहते हैं और मिलावट तथा हानिप्रद अशुद्ध वस्तुओं का विक्रय करते हैं तो राज्य हस्तक्षेप करता है। मुद्रा तथा अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण इत्यादिक कार्य जो राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से राज्य के लिए आवश्यक होते हैं उन्हें राज्य करता है।

इन कार्यों के अतिरिक्त व्यक्तिगत व्यवसायों को भी राज्य अनेक प्रकार से सहायता प्रदान करता है। उन्हें व्यापार की सारी सुविधायें जैसे—नाप तौल, मुद्रा, आवागमन का साधन, न्याय, सरकारी सहायता, औद्योगिक शिक्षा, अन्वेषण, व्यापार-सन्धि, आयात-निर्यात कर इत्यादि राज्य प्रदान करता है। देश के औद्योगिक विकास, उचित सम्पत्ति वितरण और पूर्ण रोजगार के लिए सरकार का सहयोग अपेक्षित है। सरकार के सहयोग का अर्थ होता है सरकारी हस्तक्षेप। यह हस्तक्षेप बढ़ते-बढ़ते अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति कर देता है। इस अवस्था में सब कार्य राज्य द्वारा ही सञ्चालित होते हैं।

यदि योजना का तात्पर्य कुछ मूल तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण हो और अन्य साधारण उद्योगों को व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए छोड़ना हो तो इसका निश्चय करना कठिन होगा। इस अवस्था में राज्य रेल, बैंकिंग इत्यादि पर अपना नियन्त्रण रखता है। समस्या की कठिनाइयाँ कई प्रकार की हैं। पहले यह निश्चित करना ही कठिन है कि किसे हम मूलभूत महत्त्वपूर्ण उद्योग मानें और किसे न मानें। दूसरे यदि राज्य ने व्यक्तिगत क्षेत्र के विनियोग तथा लाभ पर कुछ ढीला नियन्त्रण कर दिया तो व्यक्तिगत क्षेत्र राजकीय क्षेत्र को समाप्त कर देगा। इस अवस्था में राजकीय क्षेत्रों को पूँजी की कमी पड़ जायगी और व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा निर्मित वस्तुयें राजकीय क्षेत्र की निर्मित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करने लगेंगी। इस प्रकार से व्यक्तिगत क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र को समाप्त कर देगा। समस्या के समाधान के लिए राज्य को प्रत्येक व्यक्तिगत कम्पनी पर नियन्त्रण तथा नियमन रखना पड़ेगा और इस प्रकार राज्य पूरे आर्थिक क्षेत्र पर अपना नियन्त्रण करके ही मिश्रित आर्थिक व्यवस्था चला सकता है। यही कारण है कि लोग इस प्रकार की योजना का विरोध करते हैं। योजना निर्माण का उद्देश्य सामाजिक दोषों का परिष्कार कर समाज को समृद्धि की ओर ले जाना है, किन्तु इस नियंत्रण चक्र को देखकर लोगों को निराशा होती है। इसके विरोधियों का कहना है कि इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है और राज्य के हाथों में राजकीय शक्ति के अतिरिक्त आर्थिक शक्ति भी केन्द्रित हो जाती है, जिससे नागरिक स्वतंत्रता का अपहरण होता है; और यह योजना मँहगी पड़ती है। किन्तु भुखमरी, बेकारी, बीमारी और दरिद्रता

इत्यादि से छुटकारा पाने में यदि यह योजना समर्थ हो सके तो इसे महँगी नहीं कहा जा सकता।

साम्यवादी तथा नाजीवादी योजना की कार्यप्रणाली

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि इन दोनों योजनाओं में एक सूक्ष्म भेद के अतिरिक्त जहाँ तक इनकी कार्यप्रणाली का रूप है, बहुत ही साम्य है।

उपभोग क्षेत्र

उपभोग की वस्तुओं का वितरण कई प्रकार से किया जाता है। यदि उपभोक्ताओं की रुचि का ध्यान स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था की भाँति रखा गया तो दाम की कमी और अधिकता से माँग और पूर्ति के तराजू का प्रयोग किया जाता है। जिस वस्तु का जितनी मात्रा में उपभोग कराना अपेक्षित होता है उसी अनुपात में दाम स्तर को ऊँचा-नीचा करते हैं, जिससे उपभोक्ता अपनी रूचि तथा क्रय शक्ति के अनुसार उन वस्तुओं का उपभोग करते हैं। यह प्रक्रिया स्वतंत्र पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था जैसी होती है।

एक दूसरी पद्धति का भी प्रयोग किया जाता है जिसके अनुसार योजना संचालक दाम पद्धति समाप्त कर देते हैं। उपभोक्ताओं को विभिन्न वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा और दूकान का अनुमति पत्र दे दिया जाता है जिसे दिखा कर वे उसमें उल्लिखित वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं। रूस ने १९२० ई० में इसे अपनाया था परन्तु इस पद्धति की व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण रूस ने आगे चलकर इसे छोड़ दिया और तीसरी पद्धति अपनाई।

इस तीसरी पद्धति के अन्तर्गत योजना संचालक एक सीधी सुधरी हुई दाम पद्धति अपनाते हैं। जो वस्तुएँ दूकानों पर मिलती हैं उनके दाम निश्चित कर दिये जाते हैं। इस निश्चित दाम पर उपभोक्ता अपनी अभिरुचि के अनुसार सामग्री क्रय करता है। सभी निश्चित उपभोग की वस्तुएँ यदि उपभोक्ता क्रय कर लेते हैं तब तो माँग और पूर्ति का सन्तुलन ठीक हो जाता है। अन्यथा यदि दूकानों पर माल बिना बिका पड़ा रह जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि दाम नीति उचित नहीं है।

समस्या के समाधान के लिए संचालक दो उपाय प्रयोग में लाते हैं: या तो उन वस्तुओं के दाम कम कर दिये जाते हैं जिससे सस्ते होने के कारण वे बिक सकें या लोगों की मजदूरी बढ़ा देते हैं जिससे धन अधिक बढ़ने के कारण लोग उन्हें खरीद सकें। इस पद्धति में उपभोक्ता तथा अधिकारी दोनों की भावनाओं की रक्षा होती है और कार्य भी सरलता-पूर्वक हो जाता है।

यदि अधिकारी किसी विशेष वस्तु का अधिक प्रयोग कराना चाहते हैं तो अन्य वस्तुओं के साथ उस वस्तुविशेष की एक निश्चित मात्रा खरीदना अनिवार्य कर देते हैं। इससे सामान की खपत भी हो जाती है और अधिकारियों का मन्तव्य भी पूरा हो जाता है। ऐसी सभी वस्तुओं के लिए अनुमति-पत्र पद्धति का प्रयोग किया जाता है जिनकी मात्रा न्यून और माँग सर्वव्यापी होती है। इससे सबको आवश्यक वस्तु निश्चित मात्रा और उचित दाम में प्राप्त हो जाती है। यदि कोई विशिष्ट वस्तु किसी वर्ग विशेष को ही देनी होती है तब भी अधिकारी वर्ग अनुमति-पत्र-पद्धति का प्रयोग करते हैं।

उत्पादन क्षेत्र

योजना संचालकों द्वारा इस बात का निश्चय किया जाता है कि किस वस्तु का किस मात्रा में उत्पादन किया जाय। इस कार्य के लिए अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाज-विज्ञानवेत्ता, डाक्टर, वैज्ञानिक, इंजीनियर तथा अन्य निपुण व्यक्तियों की एक सलाहकार समिति होती है। देश की जलवायु, विभिन्न स्थानों की संस्कृति, चलन, पसन्दगी इत्यादि का ध्यान रखकर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनसे सबकी आवश्यकता पूरी हो जाय और वे स्वास्थ्यकारी भी हों। उपभोक्ता की माँग तथा रुचि का ध्यान रखने का प्रयत्न भी किया जाता है, किन्तु यह सर्वदा सम्भव नहीं होता। अतएव अधिकारी एक साधारण मापदण्ड के अनुसार उत्पादन कराते हैं जिससे लोगों की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। भोजन, वस्त्र, मकान तथा अन्य प्रकार की आवश्यकताओं की किस मात्रा तथा प्रकार से तृप्ति की जाय कि लोग स्वस्थ रह सकें, इस बात का निर्धारण विशेष निपुण व्यक्तियों की राय से होता है। उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादक वस्तुओं को भी

निश्चित करना पड़ता है, जिससे भविष्य में उत्पादन को बढ़ाया जा सके। संचालक समिति स्वतः इसको निश्चित करती है कि किस प्रकार के उत्पादक सामान कितनी मात्रा में उत्पादित किये जायँ, जिससे भविष्य तथा वर्तमान की उत्पादन पद्धति में किसी प्रकार का असन्तुलन न आने पाये।

उपभोग पर नियंत्रण के उपरान्त उत्पादन को नियन्त्रित करना आवश्यक है। इस नियन्त्रित उत्पादन को सुचारु रूप से चलाने के लिए इसमें लगनेवाले साधनों का भी उचित स्थल पर उचित परिमाण में प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। निर्जीव साधन होने के कारण भूमि तथा पूँजी के उपकरण उत्पादन क्रिया में सरलतापूर्वक संलग्न कर दिये जाते हैं, यद्यपि इनकी मात्रा तथा प्रयोग में सावधानी रखनी पड़ती है। सजीव साधन होने के कारण श्रम को उसकी इच्छा के बिना उत्पादन क्रिया में लगाना कठिन है। यह कार्य दाम पद्धति के द्वारा किया जाता है। उस प्रकार का कितना श्रम समाज में उपलब्ध है और जिस कार्य में लगाना है उस कार्य में कितनी कार्यक्षमता की आवश्यकता है, इन दोनों बातों का ध्यान रखकर श्रम का पुरस्कार अधिक या कम रख दिया जाता है और आवश्यकतानुसार श्रम की प्राप्ति हो जाती है। कम पुरस्कार पर भी कठिन से कठिन कार्य कराने के लिए अन्य तरीके भी प्रयोग में लाये जाते हैं। उनमें देश प्रेम का भावना जगाई जाती है। उन्हें श्रेष्ठता की पदवी दी जाती है जिससे श्रमिक कार्य करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। विशेष परिस्थिति में अनिवार्य रूप से राज्य श्रमिकों को किसी कार्य विशेष को करने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार उत्पादन क्रिया नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था में चलती है। उद्योगों को चलाने में राज्य का लक्ष्य लाभ प्राप्ति न होकर लोक कल्याण होता है। इसी कारण बहुत से ऐसे उद्योग जो लाभ प्राप्ति की दृष्टि से हानिकर होते हुए भी सर्वसाधारण की दृष्टि से हितकर होते हैं राज्य हानि सहकर भी चलाते हैं। नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य समाज-सेवा होता है।

आय का वितरण

नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था में राज्य को विभिन्न स्रोतों से आय प्राप्त होती है। राष्ट्र के स्वामित्व के कुछ स्रोत होते हैं जैसे भूमि इत्यादि।

पूँजी पर ब्याज की प्राप्ति होती है क्योंकि प्रतिवर्ष पूँजी में वृद्धि होती रहती है। सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं तथा राजकीय उद्योगों से राज्य को आय प्राप्त होती है। राज्य श्रमिकों की आय पर भी कभी-कभी कर लगाता है। साथ ही साथ श्रमिकों द्वारा राज्य की सम्पत्ति में निरन्तर वृद्धि की जाती है। ये सभी राज्य की आय प्राप्ति के द्वार हैं। इन्हीं स्रोतों से राज्य अपने बजट का निर्माण करता है। उसके सारे उत्पादक कार्य संचालित होते हैं। उत्पादन कार्य के सभी साधन राजकीय स्वामित्व में होते हैं। केवल श्रम इसका अपवाद है। श्रम जीवित साधन होने के नाते व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत रहता है।

राज्य को आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक सभी क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है। सब क्षेत्रों से जो आय प्राप्त होती है वही उत्पादन प्रक्रिया में भाग लेनेवाले उपकरणों में वितरित कर दी जाती है। मशीनों और मकानों की मरम्मत, नवीनीकरण, घिसावट में व्यय किया जाता है। नवीन उद्योगों, यातायात के साधनों और व्यापार को बढ़ाने के लिए सम्पत्ति का विनियोग करना पड़ता है। सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं, शासन संचालन, राष्ट्रीय सुरक्षा, वैज्ञानिक खोजों इत्यादि पर राज्य को व्यय करना पड़ता है। इस व्यय के उपरान्त देश के श्रमिकों में शेष सम्पत्ति का वितरण किया जाता है। श्रमिकों का अपनी निजी विशेषताओं के कारण विशिष्ट महत्त्व होता है। उनकी मजदूरी या पुरस्कार निर्धारण कई प्रकार से किया जाता है, सारी उत्पादन प्रणाली का उद्देश्य मजदूरों को सुखी तथा सम्पन्न बनाना होता है। अतएव इस सजीव उत्पत्ति के साधन का पुरस्कार कई बातों को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता है। मजदूरी का स्तर तथा मजदूरी का मापदण्ड निश्चित करना प्रथम कर्तव्य होता है। मजदूरी के स्तर का निश्चय इस बात पर निर्भर रहता है कि मजदूरों पर व्यय करने के लिए देश के कितना कोष, जिसे मजदूरी-कोष कहते हैं, उपलब्ध है। यही मजदूरी कोष मजदूरी का मापदण्ड निर्धारित करता है। मजदूरी कोष का निश्चय एक महत्त्वपूर्ण निश्चय होता है। उत्पादित वस्तुओं में से मजदूरों के भविष्य के जीवन स्तर को ऊँचा करने का प्रबन्ध भी अधिकारियों को करना पड़ता है। मजदूरी कोष देश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के लगभग बराबर होता है। अधिकारी उतना ही मजदूरी कोष निर्धारित करते हैं जितने से समाज के लोग उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं का पूर्ण उपभोग कर सकें। यदि उत्पादक

वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना होता है तो उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन कम होना स्वाभाविक हो जायगा और उनका उपभोग भी कम हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में मजदूरी कोष कम हो जाता है। इस समस्या के समाधान के दो ही रूप हैं या तो मजदूरी कम कर दी जाय या उपभोग की वस्तुओं का मूल्य स्तर ऊँचा कर दिया जाय।

मजदूरी का माप दण्ड निश्चित करने के लिए कई सिद्धान्त काम में लाये जाते हैं। प्रथम, आर्थिक समता का सिद्धान्त होता है जिसके अनुसार सबको बराबर मजदूरी दी जाती है। द्वितीय, परिवार की साधारण आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर मजदूरी का निश्चय किया जाता है। तृतीय, श्रमिक की कार्यक्षमता को ध्यान में रखकर मजदूरी का निर्धारण होता है। चतुर्थ, किसी विशेष कार्य के लिए कितनी संख्या में मजदूर उपलब्ध हैं और कितने मजदूरों की आवश्यकता है इसके संतुलन से मजदूरी का निर्धारण होता है। यदि मजदूर आवश्यकता से अधिक उपलब्ध हैं तो कम मजदूरी दी जाती है और यदि कम हैं तो अधिक मजदूरी दी जाती है। पंचम, कार्य के उत्तरदायित्व और महत्व द्वारा मजदूरी का निश्चय होता है। षष्ठम्, कहीं-कहीं विशेष जाति, राष्ट्र के लोगों को जातीयता या राष्ट्रीयता के कारण अधिक पुरस्कार दिया जाता है। भारत में अंग्रेजी राज्य के समय अंग्रेजों को, जर्मनी में जर्मनों को अन्य लोगों से अधिक पुरस्कार दिया जाता था। सप्तम, प्रादेशिक तथा भौगोलिक भिन्नता के कारण कहीं अधिक पुरस्कार मिलता है तो कहीं कम। ऐसी अवस्था में देश को विभिन्न क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और उस क्षेत्र की महँगी सस्ती तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उस क्षेत्र में कार्य करने वालों को उस प्रकार का पुरस्कार दिया जाता है। इस सिद्धान्त का भी पुरस्कार निर्धारण में विशेष स्थान है।

ऊपर की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न देशों में अपनायी गयी हैं। रूस में पहले आर्थिक समता का सिद्धान्त अपनाया गया था किन्तु व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण आजकल कार्य क्षमता तथा उपलब्धता का सिद्धान्त अपनाया जा रहा है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार कार्य करना पड़ता है और उसे कार्यानुसार पुरस्कार दिया जाता है। जर्मनी में जातीयता तथा राष्ट्रीयता का भेद किया गया था। एक ही कार्य के लिए जर्मनों को यहूदियों से अधिक पुरस्कार दिया जाता था। इटली में उत्तरदायित्व के साथ, वंश तथा अधिकार भी पुरस्कार निश्चित

करने में योग देते थे। अन्य देशों में बड़े परिवार वालों को छोटे परिवार वालों की अपेक्षा अधिक पुरस्कार दिया जाता है। पारिवारिक भत्ता, बच्चों का भत्ता, बुढ़ापे की पेंशन इत्यादि कई प्रकार के विचार हैं जो पुरस्कार का निर्धारण करते हैं।

मजदूर संगठनों के महत्त्व का विश्लेषण करना भी आवश्यक है। योजना संचालकों की ओर से इस प्रकार मजदूरी निश्चित करने की नीति निर्धारित की जाती है। श्रमिकों में भी उसकी प्रतिक्रिया होती है इसलिए उनकी नीति का विश्लेषण भी आवश्यक है। आयोजित आर्थिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि मजदूर संचालकों के कथनानुसार ही कार्य करें। संचालक इस बात का सतत् प्रयत्न करते हैं कि मजदूर वर्ग में किसी प्रकार का असंतोष न उत्पन्न हो और हड़ताल तथा बहिष्कार आदि की सम्भावना न रहे। संचालक मजदूरों का अधिकतम सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं। संचालक मजदूर संघ के प्रतिनिधियों से समय समय पर मिलते रहते हैं और मजदूरों की कार्य करने की विधि, अवस्था, पुरस्कार, बीमा सुरक्षा तथा मनोवृत्ति आदि पर विचार विमर्श किया करते हैं और मजदूर वर्ग भी सारी परिस्थिति से अवगत होते रहते हैं। मजदूर बड़े-बड़े कामों को कार्यान्वित करने में उत्साह से सहयोग प्रदान करता है। उत्पादन क्रिया में संचालकों तथा मजदूरों का सहयोगी व्यवहार बना रहता है और संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती।

विनियोग

सब प्रकार के उत्पादन कार्य के लिए पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता होती है। यह पूँजी दो प्रकार से एकत्रित की जाती है। प्रथम, संचालित उद्योगों द्वारा कुछ बचत की जाती है और इस प्रकार से सामाजिक उद्योगों तथा कार्यों से प्राप्त बचत का प्रयोग भविष्य में उद्योगों के संचालन और विकास में किया जाता है। द्वितीय, जनता की बचत से भी धन की प्राप्ति की जाती है और उसके विनियोग से उत्पादन कार्य विकसित किये जाते हैं। स्वामियों को कुछ ब्याज का भुगतान किया जाता है या उन्हें वेतन सहित अवकाश अथवा अन्य प्रकार की सुविधाओं का लालच दी जाती है। कभी-कभी राष्ट्र प्रेम के नाम पर जनता को उत्साहित किया जाता है कि वह अपनी आय का अधिक से अधिक भाग बचाकर विनियोग करावे

में सहायक हो जिससे देश की सम्पत्ति में वृद्धि और औद्योगिक विकास सम्भव हो सके। यदि इस प्रकार से समुचित धन एकत्रित नहीं हो पाता तो राज्य बैंक द्वारा द्रव्य निर्मित कर लेता है और विनियोग के कार्य को आगे बढ़ाता है। ऐसे बैंक राज्य के अधीन होते हैं और इनका कार्य लाभ तथा धन पैदा करना न होकर उत्पादन कार्य को साधन प्रदान करना होता है। साथ ही साथ सारी योजना के विभिन्न क्षेत्र अपने निश्चित लक्ष्य तथा कार्यक्रम पर सही-सही चल रहे हैं या नहीं इसकी जाँच-पड़ताल करना तथा उन्हें ठीक मार्ग पर लाने के लिए चेतावनी देना भी इन बैंकों का कार्य होता है। जो ऋण प्राप्त किये जाते हैं उनका उद्देश्य लाभ न होकर सामाजिक हित तथा उत्पादन होता है। पूरी व्यवस्था का लक्ष्य द्रव्य प्राप्ति या लाभ प्राप्ति न होकर मानव कल्याण होता है। इस कार्य का पूर्ण मापदण्ड यही होता है कि समाज का इसके द्वारा कितना अधिक हित सम्भव होता है। सामाजिक हित ही इनके कार्य का केन्द्र-विन्दु होता है।

योजना कार्यान्वित करने की प्रक्रिया

योजना की पूर्ण रूप रेखा तैयार करने से लेकर उसे कार्यरूप में परिणित करने तक की कई अवस्थायें होती हैं। किसी देश की सरकार जब किसी योजना को चलाना चाहती है तो सर्वप्रथम उसके लक्ष्य और सामान्य नीति का निर्धारण करती है। योजना की कार्यविधि पर प्रकाश डाला जाता है। दूसरा कदम यह है कि विशेषज्ञों की एक समिति बना दी जाती है! इसमें अर्थशास्त्री, राजशास्त्री, वैज्ञानिक, आंकड़ाशास्त्री, डाक्टर, इंजीनियर, समाज सुधारक, प्रबन्धक इत्यादि होते हैं जो सब पहलुओं को समक्ष रखकर योजना की रूपरेखा बनाते हैं। उत्पादन मात्रा, निर्दिष्ट उद्देश्य, साधन एवं सम्पत्ति की मात्रा, दाम, विभिन्न उत्पत्ति क्षेत्र आदि सभी बातों का चित्र यह समिति उपस्थित करती है। स्थानीय, विभागीय और प्रादेशिक योजनायें भी तैयार की जाती हैं और योजना समिति के परीक्षण हेतु अर्पित की जाती हैं सब प्रकार की परिस्थितियों से अवगत होकर योजना समिति योजना का अन्तिम रूप निश्चित करती है। इसके पश्चात् यह योजना राष्ट्रीय सरकार द्वारा एक विशेष समिति के समक्ष उपस्थित की जाती है। इसकी स्वीकृति प्राप्त होने के उपरान्त योजना के चलाने का कार्य प्रारम्भ होता है। केन्द्रीय संचालक समिति इस योजना

को अपनी सहायक प्रादेशिक तथा स्थानीय समितियों की सहायता से कार्यान्वित करती है। अन्तिम कदम यह होता है कि योजना जब कार्यरूप में परिणित हो जाती है तब वास्तविक बाधाओं और आवश्यकताओं का पता चलता है। इन व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर योजना को सुधारा जाता है और बाधाओं को दूर किया जाता है, जिससे योजना निश्चित लक्ष्य प्राप्त कर सके। यह केन्द्रीय संचालक समिति स्वयं या किसी अन्य संस्था या समिति द्वारा योजना की प्रगति की देख-रेख करती है।

योजना की सफलता की अवस्थायें

योजना बनाना सरल है परन्तु उसे कार्यान्वित करके सफलता प्राप्त करना कठिन है। इसकी सफलता के लिए कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक है। प्रथम, योजना समग्र दृष्टि से पूर्ण हो। आर्थिक, प्राकृतिक साधन अधिकतम मात्रा में उपलब्ध हों। उनका अन्वेषण, आँकड़ा ठीक तथ्यों पर आधारित हो। हिसाब-किताब ठीक-ठीक अनुमानित हो। इन साधनों की प्राथमिकता का भी निर्णय ठीक-ठीक होना चाहिए। दूसरे, योजना का लक्ष्य तथा उद्देश्य पूर्ण स्पष्ट हो। यह लक्ष्य सार्वजनिक हित के सभी पक्षों से ओत-प्रोत होना चाहिए। इसमें किसी दलगत, संकीर्ण राजनैतिक तथा वर्गगत भावनाओं की गंध न हो, नहीं तो राजनैतिक दलों के परिवर्तन के साथ-साथ योजना भी परिवर्तित होती चलेगी और इसे सफलता न मिल सकेगी। तीसरे, जनता की आवश्यकताओं, लक्ष्यों तथा आकांक्षाओं में एकरूपता होनी चाहिए। जनता समझदार हो। इससे योजना के संचालकों को सरलता होती है। कितनी और किस प्रकार की उपभोग और उत्पादन की वस्तुओं का निर्माण किया जाय जिससे समाज की आवश्यकता पूर्ण हो सके। इसमें उपभोक्ता की पसन्दगी की भी रक्षा होती है तथा सारा उत्पादन कार्य ठीक-ठीक अनुमानित ढंग पर चलता है। सारे प्रतिबंध भी ढीले नहीं पड़ते क्योंकि जिन वैज्ञानिक पद्धतियों से हम अनुमान लगाते हैं वे अनुमान पूर्णतया ठीक उतरते हैं। आकस्मिक तथा विविध आवश्यकतायें किसी प्रकार योजना में बाधक नहीं होतीं। माँग-पूर्ति का अनुमान सही उतरता है।

चौथे, जनता का सहयोग पूर्णरूप से मिलना चाहिए। जब जनता के विचारों में एकरूपता होगी और उसकी पसन्दगी की रक्षा होगी तो

यह स्वाभाविक ही है कि जनता योजना में पूर्ण सहयोग देगी। जनता इतनी शिक्षित हो कि योजना को अपनी योजना समझे, उसके लिए त्याग करने को उद्यत रहे। सब प्रकार के प्रतिबन्ध तथा आदेश मानने को तैयार रहे। इसके लिए प्रचार, साहित्य तथा उपदेश से जनता का मानस तैयार करना पड़ता है। इससे इनके विचार उन्नतिशील तथा समझ की स्थिति में बदल जाते हैं। वर्तमान तथा भविष्य, स्वार्थ तथा परमार्थ की भावनाओं का पूर्ण ज्ञान होता है। जनता के पूर्ण सहयोग के बिना योजना का सफल होना कठिन है। इसलिए यह आवश्यक है कि योजना के प्रत्येक पहलू तथा प्रभाव से जनता परिचित हो। पाँचवे, योजना के संचालक परम निपुण हों। उनमें वैज्ञानिक ज्ञान, यान्त्रिक निपुणता, जनमानस पहिचानने व बदलने की शक्ति, शिक्षा, ईमानदारी, उत्तरदायित्व, प्रबन्धात्मक कुशलता के सिवाय अपने को कार्य के लिए अर्पित कर देने की सेवा-भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। बिना इसके कार्यनिष्ठा तथा लगन उत्पन्न होना कठिन है। यही भावना उनमें उत्साह तथा अथक परिश्रम का संचार करती है। जनहित, जनसेवा की भावना ही योजना के चलाने वालों में ओत-प्रोत होनी चाहिए। योजनाओं की सारी सफलता ठीक तथा सही व्यक्तियों पर निर्भर है। उनमें जन-जीवन में अपने को उतार देने की शक्ति होगी तभी जनता उनके प्रति विश्वास और निष्ठा रखेगी क्योंकि उनकी सेवा, त्यागभावना, लगन, ममत्व तथा अपनत्व की भावनायें ही जनता को प्रभावित करती हैं। उन्हीं का खान-पान, उन्हीं का सादा पहनावा, उन्हीं की भाषा तथा व्यवहार, उनके बीच का सुख-दुख का जीवन जब तक कर्मचारी नहीं अपनाता तब तक उनके बीच उसे सफलता नहीं मिल सकती। यही सेवा की भावना उनमें कार्यक्षमता, निपुणता और कर्मनिष्ठा का जागरण करती है।

छठवें, योजना चलाने वाली संस्था सबल हो। वह जनता में और कर्मचारियों में पूर्णतया निष्पक्ष भाव से अनुशासन स्थापित कर सके। संस्था के संचालकों में जनता का विश्वास भी हो। यदि किसी प्रकार की शिकायत हो, चाहे वह जनता की हो या कर्मचारियों की, तो उसे पूर्ण दण्ड देने की शक्ति योजना-संचालन-समिति में होनी चाहिये, तभी योजना चल सकेगी। जनता की सारी शिकायतों से संस्था पूर्ण रूप से अवगत हो सके तथा उन्हें दूर करने में तत्परता तथा शीघ्रता

का परिचय दे। इस प्रकार प्रेम तथा भय दोनों शक्तियों से काम लेना योजना समिति का कर्तव्य है। इस समिति में जनजीवन के प्रत्येक अंचल से अवगत रहने वाले व्यक्ति हों। वैज्ञानिक, नैतिक, राजनीतिज्ञ, प्रबन्धक, समाज सुधारक तथा अर्थशास्त्री इत्यादि इस संस्था के सदस्य हों तभी यह संस्था सफल होगी, तभी इसे पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकेगी और तभी इस समिति का सफल दृष्टिकोण भी सम्पन्न होगा।

सर्वोदय संयोजन

कोई भी अर्थव्यवस्था तभी सर्वोत्तम मानी जाती है जब वह निम्न-लिखित लक्ष्य की प्राप्ति करे :—

(१) उत्पादन में वृद्धि करे।

(२) अधिक से अधिक लोगों को कार्य मिल सके।

(३) न केवल लोगों के रहन सहन का ही स्तर ऊंचा हो बल्कि जीवन-स्तर में भी वृद्धि हो।

(४) राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि हो।

(५) उत्पादित सम्पत्ति का उचित वितरण हो।

(६) किसी प्रकार का आर्थिक शारीरिक, मानसिक और सामाजिक शोषण न हो।

(७) राष्ट्र के समस्त नागरिकों की योग्यता में वृद्धि हो और उत्पादन के उपकरणों की क्षमता में भी वृद्धि हो।

(८) औद्योगिक शान्ति हो और सभी वर्ग के लोग सुखी और सम्पन्न हों।

(९) सभी प्राविधिक कार्यों के लिए अधिक से अधिक व्यक्ति प्रशिक्षित और शिक्षित हों।

दुनिया की सभी आर्थिक व्यवस्थाओं में जो संयोजन होते हैं उनके लक्ष्य एवं उद्देश्य लगभग यही होते हैं। परन्तु ऐसा देखा जाता है कि इन लक्ष्यों की पूर्ति भिन्न-भिन्न अर्थव्यवस्था में कुछ अनिवार्य कारणों से नहीं हो पाती। उनके लक्ष्य तो ठीक होते हैं परन्तु जिन साधनों का प्रयोग होता है वे ही दोषपूर्ण होते हैं और उक्त लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर पाते। सर्वोदय संयोजन इन सब प्रचलित

योजनाओं से भिन्न होता है क्योंकि इसके साध्य एवं साधन में एकरूपता होती है। इस अर्थव्यवस्था में संयोजन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जिन्हें हम आर्थिक और सामाजिक दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

आर्थिक आधार

(१) मानव-श्रम वास्तविक सम्पत्ति तथा विनिमय का मापदण्ड होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सारा संयोजन मनुष्य के लिए होता है और मनुष्य के पुरुषार्थ से होता है। इसलिए मनुष्य ही साधन और मनुष्य ही साध्य है। ऐसी स्थिति में साध्य एवं साधन में कोई भेद नहीं रहता और संयोजन की सफलता के लिए जितनी भी आवश्यक शर्तें होती हैं वे पूरी हो जाती हैं। मानव-श्रम उत्पादन कार्य को बढ़ाता है और उसमें मानवीय शक्ति और मानवीय मूल्य प्रदान करता है। वही मनुष्य उत्पादक और उपभोक्ता दोनों होता है। इस व्यवस्था में उत्पादक वर्ग को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। आज समाज में प्रतिष्ठा और श्रेय उपभोक्ता एवं वासना प्रधान वर्ग को है। यही पतन का कारण है। लेकिन जब उत्पादक वर्ग को हम प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं तभी समाज का उत्थान होता है। कार्ल मार्क्स ने अपनी योजना में इसीलिए श्रम को अधिक महत्त्व दिया है। सर्वोदय संयोजन इस श्रम के महत्त्व को प्रतिष्ठा प्रदान करता है और इस बात को प्रमाणित करता है कि मानवीय साधन और मानवीय साध्य में न कोई भेद और न कोई दुराव है। सारी आर्थिक क्रियाएँ, सामाजिक व्यवस्थाएँ मनुष्य के लिए हैं।

(२) बौद्धिक-श्रम केवल समाज में सेवा का साधन होगा। बुद्धि की प्रतिष्ठा है परन्तु बुद्धि, उपभोग और उत्पादन में शोषक बन कर नहीं रहेगी बल्कि बुद्धि का समाजीकरण होगा और वह शरीरश्रम के लिए मार्गदर्शक का कार्य करेगा। उसका कोई अलग से पुरस्कार नहीं होगा क्योंकि बुद्धि शरीर के अन्दर रहती है।

(३) यंत्रों की मर्यादा—यन्त्र, एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के शोषण का उपकरण नहीं होगा बल्कि यन्त्र मनुष्य को अधिक क्षमता, अधिक कार्य, अधिक स्वतन्त्रता, अधिक शक्ति, अधिक सुविधा प्रदान करने वाले होंगे।

यन्त्र मनुष्य के लिए होगा न कि मनुष्य यन्त्र के लिए। प्रत्येक मनुष्य को राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता एवं समता की रक्षा करने के लिए यन्त्र सहायक होगा।

(४) जो मूलभूत उद्योग होंगे वे विकेन्द्रित एवं निजी ढंग से चलेंगे। इसका यह तात्पर्य है कि जो उद्योग मनुष्य के जीवन के लिए परम आवश्यक हैं, जो जीवन दायिनी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करते हैं वे प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में होंगे ताकि व्यक्ति उनके कारण अपनी स्वतन्त्रता न खो सके, अपना सम्मान न खो सके और एक प्रतिष्ठित नागरिक का जीवन व्यतीत कर सके। जब कभी मनुष्य दासता में पड़ा है तो उसके जीवनदायिनी इन स्रोतों पर किसी न किसी रूप में दूसरे व्यक्ति ने कब्जा जमाया है। सामन्तों ने, राजाओं ने, शस्त्र एवं सत्ता के बल पर उसे गुलाम व प्रजा बनाया और उसकी जीविका के साधन को हरण किया है। यान्त्रिक क्रान्ति ने पूँजीवादी युग में उसके आर्थिक जीवन पर ऐसा प्रभाव डाला कि मनुष्य मालिक एवं मजदूर के सम्बन्ध में बँध गया। इसलिए मनुष्य को इन शोषण युक्त अपमानित सम्बन्धों से निकालने का मार्ग विकेन्द्रित जीवन हो ताकि न कोई किसी का दास और न प्रभु बन सके।

(५) बड़े-बड़े यान्त्रिक उद्योग राष्ट्रीय अथवा पंचायती हों। आर्थिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र में बड़े-बड़े उद्योगों का विकास हो। बड़े उद्योगों में विशाल यन्त्रों की आवश्यकता होती है। इसलिए ऐसे उद्योग जो आर्थिक रूप से बड़े-बड़े यन्त्रों के बिना सम्भव नहीं हैं उनका स्वामित्व एवं सञ्चालन पंचायती या राष्ट्रीय होना चाहिए। ये यान्त्रिक उद्योग पूरी अर्थव्यवस्था को शक्ति प्रदान करेंगे, किसी भी उद्योग के लिए ये घातक नहीं सिद्ध होंगे।

(६) व्यापार का स्वरूप—व्यापार बहुत ही आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई व्यवसाय करना अनिवार्य है। लेकिन आज की अर्थव्यवस्था में जैसे पूँजीवाद में यह स्वार्थ-सिद्धि का एक साधन है। इसलिए यह कार्य आज दूसरों की कमजोरी, अज्ञानता तथा असमर्थता पर चलता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में यह घोर स्वार्थ सारे व्यवसाय एवं व्यापार के मूलाधार होते हैं। दूसरी अर्थव्यवस्था समाजवादी है जिसमें व्यवसाय तथा व्यापार व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के साधन न होकर प्रयोग
(११८) के साधन बनते हैं लेकिन उनमें भी व्यक्तिगत स्वार्थ सामाजिक स्वार्थ बन जाता है। साथ ही साथ [illegible] नहीं [illegible]

नहीं हुआ है; क्योंकि सफलता तो तब होती है जबकि व्यक्ति व समाज के स्वार्थ में एकता आ जाती है, और यह तभी होता है जब सामाजिक भावना का प्रसार होता है। सर्वोदय अर्थव्यवस्था एवं संयोजन में ये सब कार्य स्वार्थ के साधन नहीं होंगे।

(७) काम तथा आराम समान एवं सहयोगी होंगे। सर्वोदय संयोजन में प्रत्येक व्यक्ति विभूति है। प्रत्येक के लिए समता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होनी चाहिए। समाज का अन्तिम व्यक्ति चौबीस घण्टे काम में व्यस्त रहता है तथा समाज के उच्च वर्ग के लोग चौबीस घण्टे आराम में तल्लीन रहते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन का आनन्द दोनों को नहीं मिल पाता, क्योंकि एक के सामने काम की समस्या तो दूसरे के सामने आराम की समस्या होती है। काम व्यक्तित्व के विकास के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार आराम। काम एवं आराम के बीच निर्माण की आनन्द-शक्ति जिसे सांस्कृतिक शक्ति या मनोरंजन की शक्ति कहते हैं, दोनों को उचित स्थान प्रदान करती है। इसीलिए प्रत्ये मनुष्य के लिए काम, आनन्द और आराम समान रूप से उपलब्ध होना चाहिए। आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम और आठ घण्टे सांस्कृतिक आनन्द की व्यवस्था सबके लिए होनी चाहिए। यह मान्यता अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं ने भी दी है। परन्तु इनमें एवं सर्वोदय संयोजन में भेद है कि आनन्द की प्रक्रिया सांस्कृतिक होगी। दूसरे शब्दों में रचनात्मक एवं सर्जनात्मक होगी इसलिए इसमें सभ्यता व संस्कृति का विकास होगा। दूसरे, काम में आनन्द व मनोरञ्जन सम्मिलित होगा। जो अधिक शिथिल कर देने वाले कार्य हैं या नीरस कार्य हैं वे मनुष्य की आदन्दमयी विकास शक्ति को कुण्ठित कर देते हैं। इससे मनुष्य की ग्रहणशीलता समाप्त हो जाती है। इसका प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता है। इस दुर्गुण का निराकरण करने के लिये सर्वोदय संयोजन मनुष्य की इन प्रवृत्तियों एवं शक्तियों को बढ़ावा देता है और उनमें ग्रहणशीलता व जीवन को आनन्द की शक्ति देता है। इस प्रकार से जो एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में इन कारणों से भेद होते हैं, वे इस व्यवस्था में समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य में एक चेतना आती और वह अपने कर्त्तव्यों व अधिकारों के प्रति जागरूक होता है। इस प्रकार इस संयोजन में मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक एकता तथा समता के साथ सांस्कृतिक समता एवं मानवीय समता पूर्ण हो जाती है और किन्हीं भेदमूलक विषमताओं के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

सामाजिक और मानवीय आधार

(८) मानव जीवन का लक्ष्य और इस लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग, दूसरे शब्दों में साध्य और साधन दोनों, क्रमशः, सत्य और अहिंसा होते हैं, क्योंकि जब आर्थिक सिद्धान्तों का यह आधार बन जाता है तो यह स्वाभाविक है कि मनुष्य के जीवन का भी लक्ष्य यही हो।

(९) व्यक्ति और समाज का जो द्वन्द्व है और जिसके द्वारा संसार की विचारधाराओं में व्यक्तिवादी एवं समाजवादी विचारों के ऊहापोह हैं, उनका सही समन्वय इस व्यवस्था में हो जाता है। निःसन्देह व्यक्ति एक अणु है जो जाज्वल्यमान प्रतिभाशाली है इसी अणु के पूर्ण विकास से समाज उन्नत होता है और सामाजिक व्यवस्था यथार्थ बनती है। जहाँ व्यक्ति का इतना महात्म्य है वहाँ व्यक्ति के विकास के लिए स्वस्थ, निर्मल तथा सर्वांग सुन्दर शान्तिशाली समाज का होना अति आवश्यक है। बिना इस शान्ति के व्यक्ति विकसित हो नहीं हो सकता। सर्वोदय विचार व्यक्ति में समाज और समाज का व्यक्तिकरण का उद्देश्य रखता है। दोनों का वही सम्बन्ध है जो प्राण व शरीर का है। इसका समन्वय अब तक न तो पूंजीवादी और न समाजवादी दर्शन ही कर सके हैं। इसीलिए इसका सहज परिणाम हुआ कि आज समाज एवं व्यक्ति दोनों स्वस्थ और सबल नहीं हो सके हैं। यही कार्य सर्वोदय ने पूरा किया।

(१०) जीवन की समग्र दृष्टि—दुनिया की प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं ने या दुनिया के चिन्तकों ने मानव जीवन के लिए एकांगी दृष्टि का ही सहारा लिया। इसीलिए कहीं आध्यात्मिक दृष्टि, कहीं भौतिक दृष्टि, कहीं व्यक्तिवादी दृष्टि, कहीं समाजवादी दृष्टि मानव विकास के लिए उपयुक्त मानी गयी। यही कारण है कि आज भी अपूर्णता बनी है। परन्तु सर्वोदय संयोजन ने मानव विकास की समग्र दृष्टि को सामने रखा है। क्योंकि मनुष्य का शरीर है तो साथ में मन और मस्तिष्क भी है। इसलिए मनुष्य की बौद्धिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक भूख है और जब तक इन सबका सामञ्जस्य और समन्वय के साथ विकास नहीं होगा तब तक मनुष्य अपूर्ण रहेगा। हमें इतिहास के इस बात को गौर करना चाहिए कि हमारे चिन्तन में समग्र दृष्टि नहीं रही है इसलिए अब तक हम अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहे। सर्वोदय

संयोजन उस व्यापक दृष्टि को प्रदान करता है जो मानव जीवन के लिए आवश्यक है।

(११) त्याग और बलिदान की भावना—मनुष्य की स्वार्थ और परमार्थ दोनों बुद्धि साथ-साथ काम करती हैं। सामान्यतः इसका स्वरूप भौतिक जगत् में विकृत हो जाता है। मनुष्य भौतिक वस्तुओं के अभाव में इस तरह से घबड़ा जाता है कि उसका व्यवहार अमानवीय हो जाता है। अपने पास उपभोग के उपरान्त भी ऐसी वस्तुओं का संचय भविष्य के मोह में वशीभूत होकर करता है जिनके लिए उसके सामने तड़प-तड़प कर लोग मरते हैं। इसका प्रमुख कारण है कि वह अपने वर्तमान जीवन की अनिश्चितताओं और खतरों से बड़ा भयभीत रहता है और अन्धकारमय भविष्य को सुरक्षित रखना चाहता है। निःसन्देह उसके मन में परमार्थ की भावना रहती है परन्तु उसका पूर्ण प्रयोग उस भय के कारण नहीं कर पाता है। यही कारण है कि छीना-झपटी, इर्ष्या-द्वेष, सम्पन्नता, विपन्नता, समाजमें फैलती है। इसके निराकरण के लिए इस अर्थव्यवस्था में ऐसा प्रयास किया जाता है कि मनुष्य इन सब खतरों से सदैव सुरक्षित रहे। उसकी सुरक्षा का भार समाज पर रहेगा क्योंकि जब इस प्रकार के खतरे वृहद रूप धारण कर लेते हैं तो उनसे सुरक्षा करना व्यक्ति-विशेष के लिए कठिन हो जाता है। इसलिए समर्पण की भावना से सारे उत्पादन, उपभोग एवं आर्थिक कार्य सम्पादित होते हैं। मनुष्य जो भी काम करेगा उस समय इस बात का ध्यान रखेगा कि वह दूसरों के लिए भी जी रहा है न कि केवल अपने लिए। इसीलिए सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में परिवारीकरण की भावना रहेगी।

(१२) सहयोग की व्यापकता—आज अर्थव्यवस्था में या यों कहें कि सम्पूर्ण समाज के मूल में अपने-अपने घोर स्वार्थ के कारण पारस्परिक सहयोग का अभाव है। इसी कारण समाज में असन्तोष व्याप्त है। समस्या यह है कि मानवीय और अमानवीय उत्पादन के उपकरणों में किस प्रकार से सामंजस्य एवं सन्तुलन स्थापित किया जाय। पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद या अन्य प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाएँ इस कार्य में प्रयत्नशील हैं। परन्तु उनके किसी न किसी क्षेत्र में असहयोग होने के कारण समग्र सहयोग नहीं हो पाता है। सर्वोदय संयोजन का मूलाधार है सर्वाङ्गीण सहयोग अर्थात् आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, यही नहीं बल्कि मानव-जीवन के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्र में भी एक

व्यापक सहयोग की स्थापना हो ताकि व्यक्ति और समाज, आर्थिक एवं आर्थिकेतर भौतिक, आध्यात्मिक, सार्वजनिक, व्यक्तिगत, इन सारे द्वन्द्वों का निराकरण हो जाय। इसीलिए व्यक्ति स्वावलम्बन, परिवार स्वावलम्बन, गाँव स्वावलम्बन, राष्ट्र स्वावलम्बन की प्रक्रिया का विकास सर्वोदय में होता है। व्यक्ति से लेकर विश्व के स्तर तक सभी क्षेत्रों में एक सहयोग हो, सहयोग की एक कड़ी हो, वह कड़ी होती है, स्नेह, प्रेम एवं करुणा की। इसीको मानवीय कड़ी कहते हैं और वह एक ऐसी कड़ी है जो समाज के सभी असहयोगी तत्त्वों को सहयोग में परिवर्तित कर देती है।

(१३) सामाजिक समता—ये सारे कार्य समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए किये जाते हैं और समाज तभी टिकता है और शाश्वत रूप प्राप्त करता है जब उसमें किसी प्रकार का बनावटी भेद न हो। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, मालिक-मजदूर, राजा-प्रजा, अमीर-गरीब इस प्रकार के भेद समाज से निकाल दिया जाय। यही नहीं बल्कि इन भेदों को उत्पन्न करनेवाले जो स्रोत हैं उन्हीं को समाप्त कर दिया जाना और सामाजिक जीवन में भेदमूलक प्रक्रिया के स्थान पर समतामूलक प्रक्रिया का समावेश करा देना इस संयोजन का लक्ष्य है।

(१४) इस युग में राजसत्ता का मानव-जीवन में गहरा प्रभाव है। इसके बिना मनुष्य अपने जीने की कल्पना ही नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में राज सत्ता को इस प्रकार संभाला जाय ताकि वह मानव जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बना सके, यह युग की माँग है। इसके लिए आवश्यक है कि राजसत्ता लोकतांत्रिक एवं विकेन्द्रित हो ताकि प्रत्येक मनुष्य अपनी सारी सम्भावनाओं को विकसित कर सके और अपनी शक्ति का संचय कर सके। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी समता उसे प्राप्त हो सके। यह तभी होगा जब मनुष्य इन चीजों से बाधित न होकर अपने विकास में इनकी पूरी सहायता प्राप्त कर सके। व्यक्ति का सर्वांगीण स्वच्छन्द एवं स्वशासित वातावरण में निखरता है, व्यक्ति की विभूति ऐसी ही स्थिति में स्थायित्व को प्राप्त करती है और उसके तेज एवं पराक्रम प्रकट होते हैं। ऐसे ही वातावरण में गौरवशाली स्वाभिमान वृत्ति, कर्मठता, मानवमूल्यों के प्रति जागरूक व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव होता है। ये सारी उपलब्धियाँ सर्वोदय व्यवस्था में ही सम्भव हैं।

(१५) सर्वोदय संयोजन और उसकी आर्थिक व्यवस्था में केन्द्र-बिन्दु मनुष्य होता है। मनुष्य की मानवता का विकास ही इसका प्रथम एवं

अन्तिम लक्ष्य होता है। समाज एवं समाज की सभी शक्तियाँ भौतिक, आध्यात्मिक सभी मनुष्य के विकास की साधन हैं। प्राकृतिक शक्तियाँ या अन्य सारी शक्तियाँ मानव मात्र के लिए होती हैं, उनका अपना कोई स्वयं का महत्व नहीं होता। इसलिए इस संयोजन में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की कल्पना स्वीकार की जाती है और मानवता के विकास में जो दोष होते हैं वे इसमें नहीं आ पाते हैं। अन्य प्रकार के जो आर्थिक संयोजन हैं वे बहुत से ऐसे भौतिक साधनों को ही लक्ष्य मान लेते हैं जो मानवता के लिए घातक होते हैं। यहीं से अपूर्ण दृष्टि का सूत्रपात होता है क्योंकि वहाँ मानव ओझल हो जाता है। इस दोष का निराकरण मानव को केन्द्र मानकर इस संयोजन में किया जाता है।

संयोजन का पहला कदम है कि हम दुर्भिक्ष में से प्राथमिक सम्पन्नता की ओर बढ़ें। निर्वाह के लिए संयोजन लक्ष्य हो। जो विपिन्न है. उसकी प्राथमिक आवश्यकतायें पूरी होनी चाहिए। भूखे को रोटी, नगे को वस्त्र, परन्तु यह सम्मानपूर्वक प्राप्त हो, भिक्षा के रूप में न प्राप्त हो।

दूसरा कदम विपुलता के लिए संयोजन है। वस्तुओं की कमी से भूख बढ़ती है, असन्तोष बढ़ता है, वितरण में झगड़े होते हैं। अतएव आवश्यक वस्तुओं का विपुलता से उत्पादन बढ़ना चाहिए। इसी को समाजवादी संयोजन भी कहा जाता है।

तीसरा कदम बन्धुत्व के लिए संयोजन है। विपुलता की आकांक्षा में, उपभोग की भावना में सारा समाज वस्तुनिष्ठ हो जाता है। मनुष्य की ओर से सारा ध्यान समाप्त हो जाता है। यह सारा उपक्रम पूँजीवादी, नाजीवादी, समाजवादी तथा साम्यवादी संयोजन की प्रक्रिया में हो रहा है। सभी संयोजन इसी वस्तुनिष्ठा के कारण प्रवाह पतित हो गए हैं। मानव खो गया है। मानवता, उदारता, सहिष्णुता, करुणा, प्रेम तथा अहिंसा के गुण समाप्त होते जा रहे हैं। इसलिए बन्धुत्व का संयोजन ही वास्तविक मानव समाज का लक्ष्य होना चाहिए। मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही हमारा संयोजन चलना चाहिए। इससे हम पथ-भ्रष्ट न हो सकेंगे।

मानव आगे बढ़ना चाहता है—अज्ञान से ज्ञान की ओर, परावलम्बन से स्वावलम्बन की ओर, दीनता से प्रभुत्व की ओर, दुख से सुख की ओर, निराशा से आशा की ओर, विषमता से समता की ओर, अन्याय से न्याय

की ओर, असत्य से [illegible] की ओर, हिंसा से [illegible] असमर्थता से समर्थता की ओर, [illegible] से [illegible] की ओर, [illegible] शान्ति की ओर, बन्धन से [illegible] की ओर, [illegible] से [illegible] की ओर, इन्हीं मूल प्रवृत्तियों का विकास करने का [illegible] सर्वोदय का प्रमुख ध्येय है। यह विकास, केवल एक व्यक्ति का नहीं, केवल एक [illegible] वर्ग का नहीं, केवल [illegible] का नहीं, [illegible] व्यक्तियों का समग्र रूप से हो। इसी [illegible]

सर्वोदय समाज की रचना

सर्वोदय समाज एक ऐसे [illegible] की कल्पना [illegible] है जिसमें :—

१—(क) प्रत्येक मनुष्य शरीर से [illegible], [illegible] से [illegible] [illegible] करने वाला जिसमें [illegible] एवं [illegible] हो, [illegible] का आदर करने वाला, स्वावलम्बी, निर्भय, दूसरों का सहायक, दूसरों की असमर्थता में समर्थता की भावना से [illegible] होगा।

(ख) धर्म—धर्म पुस्तकों और [illegible] में नहीं रहेगा [illegible] समाज में देश में चलेगा। प्रत्येक व्यक्ति [illegible], [illegible] और [illegible] को अपना धर्म मानेगा और सेवा की [illegible] होगा, [illegible] की उपासना होगी। यहां भगवान की [illegible] धर्म होगा। [illegible] और आध्यात्मिकता दोनों का समन्वय होगा। दोनों में [illegible] नहीं होंगे। प्रत्येक व्यक्ति [illegible] एवं [illegible] होगा। [illegible] का [illegible] नहीं होगा केवल कर्तव्य ही धर्म होगा।

(ग) अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर, [illegible], [illegible] शारीरिक श्रमिक, [illegible], का भेदभाव नहीं होगा सर्वसाधारण की [illegible] एवं [illegible], [illegible] और सेवा करना [illegible] का [illegible] रहेगा।

(घ) विज्ञान का [illegible]; विज्ञान का [illegible], [illegible] राजशाही से, शोषण के लिए [illegible] ही से होता है। [illegible] प्रयोग इस व्यवस्था में नहीं होगा। विज्ञान और [illegible] को सामाजिक [illegible] और [illegible], ऐसी व्यवस्था सर्वोदय में होगी। विज्ञान सादा जीवन उच्च विचार के दर्शन में सहायक हो सके।

अंतिम व्यक्ति सुखानुभूति कर सके। इन सब आविष्कारों का लाभ सरलता-पूर्वक उसे प्राप्त हो सके यही विज्ञान की उपादेयता होगी।

२—सबके भले में हमारा भला हो। 'सर्वजनहिताय' हमारी सारी आर्थिक क्रियाएँ एवं व्यवहार समाज में चलेगें। सादगी, अपरिग्रह, शरीर श्रम के द्वारा जो कुछ समाज से हमें उपलब्ध होगा उसका भोग हम सारे समाज को दृष्टि में रख कर करेगें। अपसंचय, शोपण आदि का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं होगा। सारा समाज सुखी और लाभान्वित हो उसी में हम भी सुखी और लाभान्वित होंगे, ऐसी भावना प्रत्येक व्यक्ति के मन में होगी।

३—शिक्षा—शिक्षा जीवनोपयोगी होगी। शिक्षा सभी के लिए सुलभ हो और जीवन की शिक्षा हो। शिक्षा जब हमारे जीवन के भौतिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पहलुओं का विकास करेगी तभी हमारा जीवन सारे समाज के जीवन के साथ मेल खायेगा और सुखी हो सकेगा। इसलिए शिक्षा हमारे जीवन को संवारने, सुधारने, अनुशासन में लेने तथा भौतिक रूप से सुखमय बनाने में पूर्ण सहायक होगी।

शिक्षा केवल शिक्षा के लिए नहीं बल्कि जीवन के लिए होगी। शिक्षा न केवल मनुष्य की नैतिक एवं आध्यात्मिक भावना का विकास करेगी; बल्कि मनुष्य के भौतिक जीवन के लिए जो आवश्यक जानकारी है उसकी भी तैयारी में सहायक होगी। हमारा जीवन भौतिक एवं आध्यात्मिक है, दोनों का उचित संवर्धन और समन्वय हमारे लिए आवश्यक है। केवल कोरा ज्ञान बुद्धिविलास के लिए आवश्यक हो सकता है पर व्यावहारिक जीवन के लिए व्यर्थ एवं निरर्थक है। इसलिए जीवन के प्रारम्भिक काल से ही शिक्षा हमारी तीन शक्तियों—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक के विकास को भौतिकता के संदर्भ में ले जायगी ताकि हम स्वावलम्बी एवं पुरुपार्थी बन सकें। पूरे जीवन की जानकारी, जिसमें छोटी सी बातों से लेकर बड़ी बातों तक की होगी, शिक्षा हमें प्रदान करेगी और हमारा समग्र विकास होगा। हम जीवन की छोटी-छोटी आवश्यकताओं के लिए दूसरों के मुखापेक्षी नहीं होंगे अपितु आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी होंगे। इस प्रकार हम समाज के पोपक सेवक बनेंगे न कि शोपक और उस पर असमर्थ होकर निर्भर करेंगे। इस प्रकार से जीवन की समग्र जानकारी, प्रकृति की समग्र जानकारी, समाज की समग्र जानकारी जब हमें प्राप्त होगी तब हमारी संघर्षात्मक स्थिति, प्रकृति और

समाज के बीच जो असंतुलन, असंतोष तथा संघर्ष है उनका उन्मूलन हो जायगा ।

४—स्वास्थ्य और चिकित्सा—यह सर्व सुलभ होगी । मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों का सहारा लेकर ही स्वस्थ और पुष्ट होता है । प्रकृति हमें यह शक्ति देती है । साथ ही साथ यदि हम उसके नियमों की अवहेलना करते हैं तो दंड भी भुगतना पड़ता है । यदि हम प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं तो रोग मुक्त ही नहीं होंगे बल्कि दीर्घजीवी एवं स्वस्थ भी होंगे । स्वास्थ्य के जो प्राकृतिक नियम हैं उनकी जानकारी और उनका उपयोग, प्रयोग सभी व्यक्ति करें, यह इस समाज की पहली आवश्यकता होगी । बहुत सी छोटी-छोटी बातें हैं जिनका ज्ञान हमें नहीं रहता है, और जिनके कारण हमें कष्ट भोगना पड़ता है । उन सब बातों की जानकारी प्रत्येक मनुष्य को होगी, ताकि उसके जो दूर करने के उपाय हैं वे सबको सुलभ हों । इसलिए प्राकृतिक चिकित्सा को सबसे अधिक महत्व दिया जायगा ।

५—मनुष्य एक जिज्ञासु तथा भावप्रवण प्राणी है वह इसकी अभिव्यक्ति साहित्य, कला और विज्ञान के द्वारा करता है । बहुधा देखा जाता है कि साहित्य, कला एवं विज्ञान एक विपरीत दिशा में जाते हैं, और मानव समाज के लिए घातक सिद्ध होते हैं । सर्वोदय समाज में साहित्य, कला और विज्ञान तीनों लोकहित के लिए आगे बढ़ेंगे, तीनों का लोकहित ही लक्ष्य होगा । इससे एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि जो आज आत्मज्ञान, आत्म चिंतन तथा विज्ञान में दुराव दिखाई दे रहा है वह समाप्त हो जायगा । आज की दुनिया में आत्मज्ञान व विज्ञान के दुराव की बड़ी समस्या है, इस समस्या का समाधान सर्वोदय समाज उसके एक मात्र लक्ष्य, लोकहित, द्वारा कर देगा ।

६—मनुष्य प्रत्येक युग में किसी न किसी धर्म का संबल लेकर चलता रहा है । धर्म मनुष्य जीवन का एक आवश्यक अंग है । सर्वोदय समाज में इस धर्म का जो लक्ष्य है वह पूर्णतया प्रेम और सेवा का है । धर्म के भीतर जो धर्मान्धता समाहित होकर उसे कलंकित करता है वह प्रेम व सेवा के रूप में धर्म को कलंकित होने से बचायेगा । मानव मानव के अंतर को प्रेम और सेवा के द्वारा मिटायेगा; यही मानव जीवन के लक्ष्य का मार्ग है । इसलिए सर्वोदय सभी धर्मों सभी मतों में प्रेम और सेवा के लक्ष्य द्वारा एकता का सृजन करता है । यह प्रेम और सेवा केवल सिद्धान्त

में नहीं बल्कि भौतिक जीवन में हमारे व्यवहार में समाहित हो जायेंगे और हमारे प्रतिदिन के आचार व्यवहार इसी लक्ष्य से संचालित होंगे। यही हमारे जीवन का सच्चा धर्म होगा।

७—मनुष्य विभूति है, यह बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं होगा। जिस दिन से मनुष्य बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु बनेगा, उसी दिन से मानव संस्कृति एवं सभ्यता का ह्रास आरम्भ हो जायगा। यह मनुष्य, मनुष्य है ऐसा विचार प्रत्येक मनुष्य को रखना पड़ेगा, इसका सहज परिणाम होगा कि सारी भौतिक क्रियाएँ मनुष्य के लिए होंगी, मनुष्य के गौरव को बढ़ाने के लिए होंगी, मनुष्य को अपमानित एवं शोषण करने के लिए नहीं होंगी। जिस दिन मनुष्य को यह गौरव प्राप्त होगा उसी दिन सारा समाज सुखी होगा।

८—श्रमनिष्ठ समाज—चूँकि अब तक का समाज सत्ता निष्ठ पदनिष्ठ था, धर्मनिष्ठ रहा, अतएव उसमें शोषण, दमन, अपमान और अन्याय पनपते रहे। इन दोषों से मुक्ति पाने के लिए समाज में क्रान्तियाँ हुईं, संघर्ष हुए, सुधारक, धर्मात्मा सबने इसके लिए प्रयास किया। परन्तु निष्ठा में विपरीत होने के कारण वे शक्तियाँ समाज में आ ही नहीं सकीं जो मनुष्य को विभूति समझतीं और समता, न्याय, करुणा द्वारा मानव समाज को सुखी बनातीं। सभी प्रकार की विषमता सदैव के लिए दूर हो जाय और मनुष्य का जीवन और व्यवहार पवित्रतम हो जाय इसके लिए सर्वोदय अर्थव्यवस्थाने ही एक मात्र समाधान प्रस्तुत किया है। सभी व्यक्ति श्रमनिष्ठ हो जाँय, उत्पादक शरीरश्रम प्रत्येक व्यक्ति के लिए दिनचर्या का स्रोत बन जाय। बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम में शारीरिक श्रम को प्रधानता प्राप्त हो जाय। बिना श्रम के हम जीने के, भोग करने के अधिकारी नहीं हैं, ऐसी निष्ठा और मान्यता जिस दिन प्राप्त होगी उसी दिन मानव मानव में विषमता समाप्त हो जायगी बचपन से ही जो शिक्षा-दीक्षा मिले वह श्रम प्रधान हो। बच्चे के मस्तिष्क में शरीर श्रम और उसकी उत्पादकता के प्रति आरम्भ से ही निष्ठा उत्पन्न की जाय। यह निष्ठा स्थायी बन कर बराबर उसके जीवन में चलती रहेगी। इसी लिये बेसिक शिक्षा की व्यवस्था सर्वोदय में की गयी है। यह बेसिक शिक्षा श्रमनिष्ठ शिक्षा है और शिशु पाठशाला से लेकर उच्चतम कक्षाओं तक उसकी व्यवस्था है। यह श्रमनिष्ठा मूल्य बन कर हमारे जीवन में एक स्थायी स्थान बना लेती है।

६—समाज भेद मूलक नहीं होगा—सर्वोदय समाज में जाति, धर्म, लिंग, कुलीनता, पद आदि को लेकर जो भेद होते हैं उनके लिये कोई स्थान नहीं है। सर्वोदय समाज में इन पर आधारित किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होगा। दुनिया में जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं वे सामाजिक भेदभाव को लेकर ही हुई हैं। सर्वोदय समाज सभी प्रकार के भेद-भाव को मिटाकर एकरस समाज बनेगा। शारीरिक श्रम, परमार्थ, करुणा, सहानुभूति, सत्य अहिंसा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मूल्य होंगे। मानव में कोई भेद-भाव नहीं होगा।

(२) समाज रचना की पद्धति

(१) समाज का निर्माण पुराने समाज में शनैः-शनैः परिवर्तन द्वारा होगा। क्रान्ति का अर्थ परिवर्तन है। यह परिवर्तन तभी स्थायी होता है जब समाज के मूल को समझकर उसको अंकुरित किया जाय ताकि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें हृदय से स्वीकार कर ले। इस परिवर्तन का अर्थ यह नहीं होगा कि सभी प्राचीन समाज की मान्यताओं को जड़ से उखाड़कर फेंक दिया जाय, प्रत्युत उन्हीं प्रचलित मान्यताओं में धीरे-धीरे विश्वास के साथ परिवर्तन लाना और नयी मान्यताओं के प्रति निष्ठा उत्पन्न कर देना चाहिए। प्राचीन मान्यताओं की भूमि में ही नयी मान्यताओं का बीजारोपण कर देना सही अर्थ में परिवर्तन है। इससे यह अर्थ निकलता है कि परिवर्तन, प्रतिक्रिया का रूप लेकर न आवे बल्कि निष्ठा और मान्यता प्राप्त करके सभी के जीवन का मूल्य बन जाय। सर्वोदय में क्रान्ति या परिवर्तन का स्वरूप यही होगा।

(२) यह परिवर्तन हिंसा से नहीं बल्कि अहिंसा की प्रक्रिया से लाया जायगा। दूसरे शब्दों में जो वर्तमान में दोष हैं या इन दोषों के जो जिम्मेदार हैं उनमें या उनके हृदय में परिवर्तन लाकर उनकी सम्मति से वर्तमान दोषों का निराकरण होगा। किसी के मन, किसी के हृदय को चोट न पहुँचायी जायगी। वे सब इस सत्य को या दोष को स्वतः अनुभव करके स्वीकार कर लेंगे और नये मूल्य, नये विचार और नयी पद्धति के लिए वे स्वयं आगे बढ़ें, यही अहिंसात्मक क्रान्ति एवं परिवर्तन का स्वरूप होगा।

(३) इस रचना की पद्धति अन्य पद्धतियों से भिन्न होगी। क्योंकि

अन्य सामाजिक परिवर्तनों में साध्य को ही ध्यान में रखा गया है। अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधन का प्रयोग किया जा सकता है। साध्य के अनुकूल ही साधन हो ऐसा आग्रह दुनिया की क्रान्तियों में नहीं पाया जा सकता है। परन्तु सर्वोदय समाज की रचना में पवित्र और सर्वोत्तम साधन की नितान्त आवश्यकता है। साध्य जितना उत्तम और पवित्र हो उनसे भी अधिक साधन पवित्र हो। यदि साधन पवित्र है तो साध्य तो अवश्य ही पवित्र होगा। इसलिए साधन की पवित्रता पर अधिक बल दिया गया है।

(४) इस समाज में जो दो प्रभावशाली शक्तियाँ आज दुनिया में दिखाई देती हैं एक, अर्थशक्ति दूसरे, राज्यशक्ति, इनके स्वरूप पर भी विशेष बल दिया गया। अर्थशक्ति एवं राज्य शक्ति दोनों साथ-साथ विकेन्द्रित होंगी ताकि प्रत्येक व्यक्ति के विकास में वे सुलभ हो सकें न कि व्यक्ति को इन सब आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं से दब जाना पड़े। आर्थिक एवं राजनैतिक पद्धतियाँ केवल बाढ़ एवं संरक्षण का काम करती हैं ताकि मानव वृक्ष अपनी शक्ति के अनुसार विकसित, पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो सके।

(५) भौतिक जीवन का और जीविका के ढंग का बहुत अधिक प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है। इसलिए मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की तृप्त एवं उसके विकास के हेतु खेती और ग्रामोद्योग की प्रधानता दी जायगी। सबका मूल खेती और ग्रामोद्योग होगा। यही इस समाज रचना की पद्धति होगी।

परिवार, गाँव और विश्व का रूप

परिवार सारे जीवन का केन्द्र-बिन्दु होगा तब गाँव और संसार इन्हीं पारिवारिक गुणों के क्षेत्र से बनेगा। परिवार में नारी की पतिष्ठा पहला चरण होगा। चूल्हा-चक्की और चरखा ये तीन परिवार की क्रान्ति व रचना के अस्त्र होंगे। नारी उस परिवार का केन्द्र-बिन्दु बनकर पूरे समाज को प्रकाश देगी। दूसरे, नारी के बाद बालक भगवान् का रूप ग्रहण करेगा ताकि नया समाज उन सब गुणों एवं पवित्रताओं से पूरित हो सके जो दैवी गुण होते हैं। फिर परिवार की भी भावना गाँवभर में व्याप्त होगी। गाँव का पारिवारीकरण होगा और फिर प्रत्येक गाँव अपनी सारी

आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आवश्यकताओं में स्वयंपूर्ण होगा ; और जब प्रत्येक गाँव स्वाश्रित, स्वावलम्बी, स्वयंपूर्ण एवं सुखी होगा तो सारा संसार सुखी होगा। यही आदर्श परिवार, गाँव एवं संसार का होगा।

(३) व्यक्ति का विकास

(१) व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व निराधार हैं। व्यक्ति में सामाजिकता और समाज में व्यक्तित्व की शक्ति जब तक विकसित होती रहती है तब तक समाज उन्नतिशील होता है और यदि ऐसा नहीं होता तो समाज ह्रासोन्मुख होता है। व्यक्ति की प्रधानता, उसकी स्वतन्त्रता, उसकी नैतिक, शारीरिक, बौद्धिक शक्ति का विकास ही समाज को समृद्ध बनाता है। व्यक्ति के विकास का मापदण्ड ही समाज के विकास का मापदण्ड होता है। पर व्यक्ति का विकास एक शिक्षित एवं विकसित समाज में ही होता है।

(२) व्यक्ति अपना आत्मनिर्माण करेगा उसमें स्वयं आत्मनिर्णय, आत्मविकास का सृजन होगा। प्रतिदिन वह स्वयं आत्मनिरीक्षण करेगा और अपने समय एवं शक्ति के प्रत्येक क्षण एवं कण का सदुपयोग करेगा। व्यक्ति के लिए आत्मपरीक्षण का अवसर भी होगा और इस समाज में इसकी बराबर आवश्यकता भी रहेगी ताकि बाह्य नियमों या नियन्त्रणों को व्यक्ति के ऊपर न लादा जाय। वह स्वाश्रित तथा समर्थ हो।

(३) यद्यपि बड़ेपन एवं छोटेपन का इस समाज में कोई स्थान नहीं होगा परन्तु बड़ा मनुष्य वही माना जायगा जो सबसे बड़ा सेवक होगा। जो दूसरों के लिए जीवित रहेगा। अपने जीवन में समर्पण की भावना रखेगा। वही बड़ा मनुष्य होगा। सेवा ही बड़प्पन का मापदण्ड होगी।

(४) प्रत्येक व्यक्ति का तीर्थ स्थान उसके जीवन के सुधार के केन्द्र होंगे। यहीं से प्रत्येक अपने जीवन को नियमित कर सकेगा और उन सब गुणों से सम्पन्न हो सकेगा जो मानव जीवन के लिए अपेक्षित हैं। तीर्थ का नया मार्ग व नया रूप होगा।

(५) जो समाज में त्योहार या उत्सव होते हैं, उन त्योहारों, उत्सवों में मानवीय गुणों के विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्नशील होगा। दीपावली अन्तर्मुख होगी, होली [illegible], विजयादशमी पक्षातीत राजनीति को सम्पन्न करेगी। [illegible]

दिवस मानव को सब आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक विकृत बन्धनों से मुक्त करने का दिन होगा। इस प्रकार व्यक्ति जो आज समाज में उसके विकृत बन्धनों में फँसा है, उन्मुक्त हो सकेगा और उसका जीवन दर्शन एवं व्यवहार नये मूल्य एवं नये समाज की तरफ अग्रसर होगा।

अन्न वस्त्र के अभाव के भय से मुक्ति

अटलांटिक चार्टर में चार मूलभूत स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है—

(१) विचार की स्वतंत्रता,
(२) जीवन की स्वतत्रता,
(३) अभाव से मुक्ति,
(४) भय से मुक्ति,

इन चार तत्वों पर जब हम विचार करते हैं तो गाँधी जी के विचारों की ओर हमें मुड़ना पड़ता है। ये चारो तत्व इन्हीं के दर्शन में प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे समाज की कल्पना जहाँ लालच और भय के अवसर कम से कम हो हमें करनी है, मानव जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ानी है। मनुष्य के औपचारिक सम्बन्धों के स्थान पर हार्दिक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। आज मनुष्य के भीतर उसके सारे आर्थिक व्यवहार में स्नेह की प्रेरणा नहीं रह गयी है। जितना ही उत्पादन की क्रिया में स्नेह व प्रेरणा होगी; उतना ही मनुष्य में मनोरंजन और संस्कृति का विकास उत्पादन की प्रक्रिया में होगा। आज जो उद्योग और उत्पादन एक ओर सांस्कृतिक और मनोरंजन की प्रवृति दूसरी ओर अलग-अलग पड़ी हुई हैं, यही सबसे बड़ा अन्तर विरोध का कारण बन गया है और इसी से उस समग्रता और संतुलन का जो गाँधी जी की देन है, हमें भान नहीं होता। इसीलिए गाँधी जी ने जब उत्पादन को प्रेममय और स्नेहमूलक बनाने का छोटे-छोटे उद्योगों द्वारा संदेश दिया तो वह आज के वैज्ञानिक युग के व्यक्ति को अटपटा सा प्रतीत होने लगा। सारे विनिमय में, उत्पादन में, उपभोग में एक स्नेह की सुगंध उन्होंने दी। इसी से मनुष्य का विश्वव्यापी, वसुधैव कुटुम्बकम् का स्वरूप बनता है। जैसा कहा जाता है कि शक्ति से किसी को परास्त किया जा सकता है परन्तु प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है। गाँधी जी ने समाज के सामान्य अंतिम व्यक्ति को अपना कार्य क्षेत्र बनाया है।

अंतिम व्यक्ति, अन्तिम भूमि से वे प्रारम्भ करते हैं और सामान्य मनुष्य को विभूति से स्वीकार करते हैं। इसीलिए उनका सारा आर्थिक दर्शन सामान्य व्यक्ति से प्रारम्भ होता है। इस दीन और दरिद्र मनुष्य जिसका एक मात्र गुरु और देवता, भगवान, रोटी है, उसी को गांधी जी ने अन्न वस्त्र से सम्पन्न करना चाहा। लेकिन उनके इस आर्थिक कार्यक्रम में नैतिकता का आधार है। सामान्य व्यक्ति का दिव्य जीवन हो, विपुलता और स्वावलम्बन से संपन्न हो यही गांधी जी की मानवता है। गांधी जी का आर्थिक दर्शन और लोगों से इसलिए भिन्न है। अन्य लोगों ने दर्शन को आकाश की वस्तु मात्र और व्यवहार को धरती की वस्तु माना। दर्शन को अनन्त माना व्यवहार को सीमित और तात्कालिक माना। गांधी जी ने जीने की क्षमता बढ़ाने का प्रयास किया। जितनी ही जीने की शक्ति बढ़ती है उतनी ही दूसरों को अपने जीवन में शामिल करने की शक्ति और संभावना बढ़ती है, इससे संपन्नता और परिपूर्णता जीवन में आती है। गांधी जी ने संपन्न समाज की जो कल्पना की है वह वैभव सम्पन्न समाज की कल्पना से भिन्न है। वैभव संपन्न समाज में वैभव या अतिप्रचुरता जीवन को संपन्न नहीं बनाती, जब अमीर यह सोचता है कि वह अपनी संपन्नता बना रखे तब यह स्पष्ट होता है कि उसके जीवन में आनन्द और रुचि नहीं है। यह आनन्द और रुचि तब पैदा होता है जब मनुष्य दूसरों को अपने जीवन में सम्मिलित करता है। जीवन स्तर का पैमाना स्वयं जीवन ही है। गांधी जी ने करुणा और त्याग को संपन्न स्तर का माप दंड माना है। जितना ही व्यक्ति विपत्ति और संपत्ति, संघर्ष और भय को बांटता है उतना ही स्तर ऊंचा होता है। जितना ही मनुष्य में उदारता है, दूसरों के लिए जीने की आकांक्षा है, उतना ही उसका जीवन संपन्न है।

गांधी जी संपूर्ण आर्थिक संगठन अहिंसा के आधार पर करते हैं। अहिंसक में पर्याप्तता और स्वनिर्भरता के कारण हमारा जीवन अधिक व्यापक होता है। इसके लिए कुछ भौतिक गुणों की आवश्यकता होती और वह वह स्थिति है जिसमें मनुष्य न तो बहुत दीन और न समृद्ध हो। भौतिक स्थितियाँ तीन प्रकार की होती (१) विपन्नता, दरिद्रता की स्थिति है, जो अवांछनीय है। (२) पर्याप्तता की स्थिति है, जिसके अंतर्गत सुखभोग, आहार कुछ परिमित और पर्याप्त भोग, इनकी कल्पना है। वास्तव में यही आदर्श स्थिति है पर्याप्त भोजन का अर्थ है, वस्तु का अपव्यय न करना। दूसरे किसी वस्तु की आकांक्षा न करना, उचित भोग

करना। किसी प्रकार की संग्रह और लोलुपता की भावना न होना। इससे मनुष्य वस्तुओं के पीछे लोभी नहीं बनेगा और दूसरे के लिए त्याग करने हेतु उद्यत रहेगा। युक्त उपभोग में वह आवश्यक युक्त श्रम भी करेगा इससे मनुष्य का आत्म सम्मान बढ़ेगा। मनुष्य का जीवन बहुत अधिक व्यापक होगा। गाँधी जी ने इसीलिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अभाव को बाँटने से प्रारम्भ किया; स्वयं प्रेरित गरीबी, न्यूनतम आवश्यकता, इस प्रकार के समाज के लिए यही सभ्यता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं दारिद्रय इसलिए अपनाता है कि सबके लिए ये वस्तुयें सुलभ हों। इसके लिए हम सर्व सुलभ यन्त्रों, अहिंसक संगठनों द्वारा प्रयास करें। अपनी सारी शक्ति लगाते चलें ताकि ये वस्तुयें सबको मिल जायँ और तब तक अपने हृदय की व्यथा; अपनी करुणा को हम अपने आचरण से प्रगट करें, यही समाज परिवर्तन, हृदय परिवर्तन द्वारा अहिंसक समाज रचना की मूलभित्ति है। इसलिए हमारा सारा संयोजन दारिद्रय के समविभाजन से प्रारम्भ होना चाहिए। इसीलिए गाँधी जी के भगवान, पूज्य, दरिद्र नारायण हैं। (३) तीसरी स्थिति विपुलता की है। इस विपुलता के अर्थ होने चाहिए कि जितना हम चाहते हैं उससे अधिक हो। इससे होना यह चाहिए कि हमारी संग्रह की आकांक्षा समाप्त हो जाय। परन्तु व्यवहार में हम इसके विपरीत पाते हैं। जिसके पास जितना अधिक है वह और चाहता है। इसलिए गाँधी जी ने इस प्रकार की विपुलता का विसर्जन चाहा और ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक अमीर व्यक्ति को अपनी मर्जी से गरीब को अपनी अमीरी में सम्मिलित करना चाहिए यह मान्यता दी। अकिंचन और दरिद्र व्यक्ति को अपनी अमीरी में सम्मिलत करना यही मानव जीवन का आशय है। अहिंसक समाज में स्वयं प्रेरित सम-विभाजन ही आवश्यक है।

अहिंसक समाज में जिस प्रकार से स्वयं प्रेरित सम-विभाजन की, त्याग की बात आती है, उसी प्रकार से जितनी हमारी संस्थायें या क्रियायें हैं उनमें भी ये भाव आने चाहिए। परिश्रम और आराम दोनों में सबका समान हिस्सा होना चाहिए; जब समान हिस्सा होगा तो श्रमिक और मालिक की संस्थायें नहीं होंगी और आज जो काम और आराम में दुराव है उसी के कारण हिंसक संस्थायें खड़ी हो गयी हैं और एक दूसरे को दबाने और नष्ट करने का प्रयास कर रही हैं। गाँधी जी ने इसीलिए चर्खा चलाना श्रम-यज्ञ कहा। इस श्रम यज्ञ को उन्होंने समाज की आवश्यकता

के साथ जोड़ का सजीव व्यवहार बना दिया। कष्ट एवं श्रम की आवश्यकता सारे मानव की है, इसलिए एक व्यापक रूप में इस एक को कुछ-न-कुछ काम करने की बात गांधी जी ने प्रतिपादित कर दिया। इसी को मानवता का एक चिह्न माना।

जैसा कि संस्थावादी अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि आज का मनुष्य संस्थात्मक है न कि शुद्ध आर्थिक; इससे संस्थाएँ अधिक व्यापक, अधिक विशाल और शक्तिशाली बन जाती हैं; और मनुष्य का व्यवहार संस्थाओं से बँध जाता है। गांधी जी ने संस्थाओं को भी अहिंसक व्यवहार की ओर प्रेरित किया है। ऐसी संस्थाएँ व्यवस्थापकों द्वारा इस प्रकार जकड़ ली जाती हैं कि एक प्रकार से व्यवस्थापक शाही कायम हो जाती है। इस प्रकार से एक नये प्रकार की तानाशाही कायम होती है। जब सत्ता और सम्पत्ति केन्द्रित हो जाती है तब मनुष्यता समाप्त हो जाती है। गांधी जी ने इसीलिए संस्थायुक्त मनुष्य की कल्पना की है। विकेन्द्रीकरण पर अधिक बल दिया। व्यवस्था इस प्रकार की होगी कि उस क्षेत्र के प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के सुख-दुःख में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करेंगे। यही है व्यवस्था के क्षेत्र में अहिंसा का रूप।

अहिंसक समाज की रचना में यन्त्रों का विशेष महत्व है। यंत्रीकरण यदि मर्यादित नहीं होता तो उसका रूप विकृत होकर हिंसक समाज की ओर बढ़ता है। इसकी तीन स्थितियाँ हैं पहली यंत्रीकरण, दूसरी अभिनवीकरण, तीसरी स्वयं चालन की स्थिति। यंत्रीकरण का संदेश है श्रमबचत, इसके आगे जब अभिनवीकरण आया तो इसने यंत्रशक्ति और श्रमशक्ति के अपव्यय को रोकने का संदेश दिया। अब आटोमेशन की स्थिति आ रही है। इससे यंत्र विज्ञान की एक नयी सत्ता मनुष्य के ऊपर स्थापित हो रही है। इस क्रम से सब मानव समाज कंपित हो रहा है। एक तरफ व्यवस्थापक तानाशाह, दूसरी तरफ यंत्र तानाशाह से मनुष्य छिन्न भिन्न; यंत्रीकरण शक्तियों की अधिक प्रतिष्ठा बढ़ रही है। इसका सहज परिणाम यह होगा कि वे सब मानवीय व्यवहार जो करुणा मूलक हैं, मानवता के पोषक हैं, सभी समाप्त हो जायेंगे। गांधी जी ने इसीलिए यंत्र विज्ञान को गांव में विकेन्द्रित करने की कल्पना की है। प्रत्येक व्यक्ति के हाथों में उसके जीवन को सुख देने की सब शक्ति होगी। विकेन्द्रित ग्रामोद्योग के माध्यम से विकेन्द्रित लोक तंत्र गांधी जी की अहिंसक व्यवस्था और यंत्र का विकास है। इसीलिए गांधी जी कहते थे कि संस्थायुक्त हिंसक व्यवस्था और यंत्र के युग

के विरोधी प्रतीत होते हैं। मनुष्य की स्व-प्रेरणा, स्व-प्रवृत्ति, कलात्मक पौरुष, कारीगरी की शक्ति, सांस्कृतिक संभावनायें, अपनी-अपनी विशेषतायें विकसित हों और उनमें मानवता और करूणा की सुगंध भी हो, तभी मनुष्य का यह भौतिक जीवन सुखमय होगा। उसकी सभी इन्द्रियों की शक्तियाँ पूर्ण रूपेण विकसित होनी चाहिए। सभी भौतिक कार्यों में उसका सहयोग आवश्यक है, इसलिए जब भी गाँधी जी किसी कार्य का संयोजन करते हैं तो उसका आधार सामान्य आवश्यकताओं को ही मानते हैं। उसमें पारस्परिकता और कौटुम्बिकता होती है।

गाँधी जी ने उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण में मनुष्य को और उसकी मानवता को खोजाने से रोका है। उत्पादक परिश्रम् समाजोपयोगी, उद्योग जीवन को चलानेवाले साधन कला मानव संस्कृति सबको मनुष्य की भूमिका से एक स्थल से उन्हों ने बांधा है। मनुष्य और उसका कुटुम्ब ग्रामकुटुम्ब और विश्वकुटुम्ब को उन्हों ने एक सूत्र से बांध दिया है। मनुष्य केन्द्र है। उसकी गुणात्मक मूल प्रवृत्तियाँ—कुटुम्ब ग्राम और विश्व एक ही प्रकार के सात्विक व्यवहार से चलती हैं। इसीलिए आज जो नगरों के पेशों के रिस्ते हैं जिसमें हर एक डाक्टर सभी को रोगी के रूप में देखना चहता है, वकील मुवक्किल के रूप में देखना चाहता है। इस सम्बन्ध को बदलना आवश्यक है। यह जो पेशे की त्रिपी लगाकर मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न होता है उसका निराकरण हो, सैनिक और नागरिक में अन्तर न हो, समाज में सेवक और सेव्य में अन्तर न हो। इससे व्यावसायिक संबन्ध टूटते हैं और मानवीय सम्बन्ध जुड़ते हैं। गाँधी जी एकान्तिक किसी प्रकार का संयोजन नहीं स्वीकार करते। उत्पादन की पद्धति, वितरण की पद्धति, उत्पादन के साधन और उपकरण, उपभोग और विनिमय सब में एक सीधा सम्बन्ध चाहते हैं। इसलिए उन्होंने कारखानेदारी, व्यापार वादिता, आदि से मनुष्य को मुक्त करने के लिए कृषि केन्द्रित, अन्न केन्द्रित, वस्त्र केन्द्रित अर्थव्यवस्था का पोषण किया है। उत्पादक और उपभोक्ता में दुराव न हो यही गाँधी जी का स्वदेशी अर्थशास्त्र है। वे इस चीज को मानते हैं कि दुनिया में जो देश अन्न संपन्न होगा वह सुखी होगा; क्योंकि अन्न जीवनदायिनी आवश्यकता है। जितना ही अन्न सर्वसुलभ होगा उतना ही संघर्ष समाज से समाप्त होगा। आज जो समाज में उत्पादक किसान और मजदूर हैं उनमें संघर्ष का कारण अन्न है। मजदूर को सस्ता अनाज चाहिए और किसान को उसके परिश्रम

कि प्रतिफल के रूप में अनाज महंगा होना चाहिए। आज जो अर्थव्यवस्था है उसमें श्रम की अपेक्षा कच्चामाल महंगा होता है; कच्चेमाल की अपेक्षा पक्कामाल महंगा होता है। इसलिए किसान अन्न की तात्कालिक लाभ से तुलना करता है और अन्न न पैदा कर तंबाकू पैदा करता है। यही प्रवृत्ति आज कारखाने की होती है। कारखाने का मालिक मनुष्य को बेकार करके यंत्र से कार्य लेता है। एक ओर अन्न जैसी जीवनदायिनी वस्तु की उत्पादन की प्रेरणा क्षीण होती है और दूसरी ओर मानव जैसी विभूति की उपेक्षा होती है। इसे गांधी जी ने अपने ग्रामोद्योग, ग्रामस्वराज्य से समाप्त करने का संदेश दिया है। अन्न, भूमि, अन्न के उत्पादन के उपकरण—बैल आदि का ग्रामीकरण होगा। ये बाजार में नहीं बिकेंगे। भूख की और वस्त्र की बड़ी भारी समस्या है—भूख का उत्तर अन्न है जिसका क्रय-विक्रय नहीं होगा और जो सर्वसुलभ होगा। वस्त्र भी प्रत्येक मनुष्य द्वारा निर्मित होगा और बाजार की वस्तु नहीं होगा। इसलिए अन्न और वस्त्र केन्द्रित यह संयोजन मानव केन्द्रित संयोजन होगा। गांधी जी का सारा आर्थिक दर्शन इसीलिए ग्रामस्वराज्य पर केन्द्रित है।

गांधी-वचन

शाकाहार

मेरे जीवन में शाकाहार का मोल त्याग के आदर्शों के कारण रहा है और मैं उसे व्यक्तिगत जीवन में स्वीकार कर ही अपना पेट पूरा भर सका। शाकाहारी उतनी जल्दी मानसिक सन्तुलन नहीं खोता, जितना मांसाहारी खो देता है। शाकाहार मनुष्य को सहनशील और दीर्घजीवी बनाता है। शाकाहार एक स्वाभाविक वृत्ति है।

× × ×

स्वास्थ्य

शरीर में ही सब कुछ है। जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। शरीर का नीरोग और स्वस्थ होना किन्तु शरीर होने का परिणाम

है। शरीर को हवा, पानी, खुराक, नियमित रूप से मिलती रहे और वह विना आलस्य के ठीक तौर से काम करता रहे तो अस्वस्थ होने का कोई कारण नहीं हो सकता। अगर स्वास्थ्य ठीक रखना हो तो नियमित और सादा आहार करे और नशीली चीजों से परहेज करे। बीमारी तो मनुष्य के लिए शर्म की बात होनी चाहिए। यदि तन और मन दोनों स्वस्थ हुए तभी मनुष्य स्वस्थ कहा जा सकता है। प्रकृति के खिलाफ व्यवहार करने वाले ही अधिक बीमार पड़ते हैं। मनुष्य की अपेक्षा पशु-पक्षी कम बीमार पड़ते हैं।

× × ×

आहार

आहार शरीर के लिए है, न कि शरीर आहार के लिए। शरीर को कायम रखने के लिए ही भोजन करना आवश्यक है। पशु-पक्षी न स्वाद के लिए भोजन करते हैं, न इतना खा लेते हैं कि पेट फटने लगे। वे अपने भोजन को पकाते नहीं—प्रकृति जैसा देती है वैसा ही कर लेते हैं, संसार में भूख से पीड़ित होकर उतने व्यक्ति नहीं मरते जितने अधिक भोजन करने के कुपरिणामों से मरते हैं। चोरी करना एक बीमारी है और इसका कारण बुरा आहार भी हो सकता है। मनुष्य की शारीरिक बनावट देख कर यही प्रतीत होता है कि प्रकृति ने मनुष्य को शाकाहारी बनाया है। मनुष्य और जीवों के शारीरिक अवयवों में बहुत कम अन्तर है। आहार मानव जीवन का रक्षक है। इसलिए उसका निर्णय करते समय विवेक रखने की जरूरत है। आहार मानव जीवन की दैनिक आवश्यकताओं में से है पर उसका नियंत्रण अनिवार्य है।

यदि आहार में विवेक नहीं रहा तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या है। आहार सन्तुलित और विवेक पूर्ण हो तो शरीर में कोई रोग हो ही नहीं सकता है। जब तक आहार में स्वाद की प्रधानता है तब तक उसमें सात्विकता आ ही नहीं सकती है। देश जब तक अपनी आहार सम्बन्धी आवश्यकताओं में आत्मनिर्भर नहीं हो लेता तब तक और कोई बात करने के योग्य नहीं माना जा सकता है।

———

पंचदश-परिच्छेद

वितरण की समानता

गांधी जी मद्रास का दौरा कर रहे थे, उन दिनों रचनात्मक कार्यकर्ता सम्मेलन में उनसे पूछा गया, "आर्थिक समानता से आपका ठीक-ठीक अर्थ क्या है ?"

उत्तर में गांधी जी ने कहा, "मेरी कल्पना की आर्थिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि हरएक को अक्षरशः उतनी मात्रा में कोई चीज मिले। उसका मतलब इतना ही है कि हरएक को अपनी आवश्यकता के लिए काफी मिल जाना चाहिए। मिसाल के लिए, ठंडक के मौसम में ठंड से बचने के लिए मुझे दो शाल लगते हैं, लेकिन मेरे साथ रहने वाले मेरे पौत्र कनु को गरम कपड़ों की कोई जरूरत नहीं होती। मुझे बकरी का दूध, संतरे और दूसरे फल लगते हैं। मुझे कनु से ईर्ष्या होती है, लेकिन उसका कोई मतलब नहीं। कनु नौजवान है और मैं तो ७६ साल का बूढ़ा हूँ। भोजन का मेरा मासिक खर्च कनु से बहुत ज्यादा है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम में कोई आर्थिक असमानता है। चींटी से हाथी को हजार गुनी ज्यादा खुराक चाहिए, परन्तु यह असमानता का चिह्न नहीं है। इस प्रकार आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ यह है। सबको अपनी-अपनी जरूरत के अनुसार मिले। मार्क्स की व्याख्या भी यही है। यदि अकेला आदमी भी उतना ही मांगे जितना स्त्री और चार बच्चोंवाला व्यक्ति मांगे तो यह आर्थिक समानता का सिद्धांत भंग होगा।"[1]

---

१. हरिजन ११-२-४६ पृ० ११

आज सभी लोग आर्थिक समानता लाने की बात करते हैं। समाजवादी, साम्यवादी एवं अन्य विचार के मानने वाले भी सबकी भलाई की बात करते हैं। गांधी जी ने भी आर्थिक समानता की बात की है पर गांधी जी की आर्थिक समानता को प्राप्त करने के मार्ग एवं अन्य लोगों के मार्ग में अन्तर है। श्री प्यारेलाल के 'गांधी जी का साम्यवाद' नामक लेख का विचार उल्लेखनीय है। श्री प्यारेलाल के इस प्रश्न के उत्तर में कि आर्थिक समानता के ध्येय को हासिल करने के लिए आपके तरीके और साम्यवादी या समाजवादी तरीके में क्या फर्क है? गांधी जी ने कहा है, "साम्यवादियों और समाजवादियों का कहना है कि आज वे आर्थिक समानता को जन्म देने के लिए कुछ नहीं कर सकते। वे उसके लिए प्रचार भर कर सकते हैं। इसके लिए लोगों में द्वेष या वैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है। उनका कहना है कि राजसत्ता पाने पर वे लोगों से समानता के सिद्धान्त पर अमल करवायेगें। मेरी योजना के अनुसार राज्य प्रजा की इच्छा को पूरा करेगा न कि लोगों को आज्ञा देगा या अपनी आज्ञा जबरन उन पर लादेगा। मैं घृणा से नहीं प्रेम की शक्ति से लोगों को अपनी बात समझाऊँगा और अहिंसा के द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूँगा। मैं सारे समाज को अपने मत का बनाने तक रुकूँगा नहीं बल्कि अपने पर ही यह प्रयोग शुरू कर दूँगा। इसमें जरा भी शक नहीं कि मैं ५० मोटरों का तो क्या १० बीघे जमीन का भी मालिक होऊँ तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समानता को जन्म नहीं दे सकता। उसके लिए मुझे गरीब बन जाना होगा। यही मैं पिछले ५० सालों से या उससे भी ज्यादा समय से करता आया हूँ। इसीलिए मैं पक्का कम्युनिस्ट होने का दावा करता हूँ।"[1]

गांधी जी ने ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें वितरण में अधिकतम समानता होगी। सबको आवश्यकता भर चीजें प्राप्त होंगी। आज समाज में धन का असमान वितरण है। किसी के पास आवश्यकता से अधिक धन है तो किसी को बहुत कम चीजें प्राप्त हो पाती हैं। आज संघर्ष का मूल कारण यह है कि समाज में आर्थिक असमानता है। व्यक्ति व्यक्ति में असमानता है, राष्ट्र राष्ट्र में असमानता है। सभी जगह वितरण में महान अन्तर दीखता है। इस असमान वितरण को दूर करने के लिए

---

१. हरिजन सेवक ११–३–४६ पृ० ६३–६४।

विभिन्न प्रकार के प्रयास किये गये हैं। परन्तु गांधी जी ने जो प्रयास इस क्षेत्र में किया है वह इतिहास में नया अध्याय जोड़ता है। आज तक इस क्षेत्र में जो काम किये गये थे वे कानून एवं हिंसा पर आधारित थे। १९१७ में साम्यवादी क्रान्ति करके बड़े पैमाने पर समानता लाने का सबसे बड़ा एवं संगठित प्रयास किया गया। आज भी इस दिशा में समानता लाने के लिए हम प्रयत्नशील हैं। परन्तु गांधी जी का प्रयास अपने ढंग का अनूठा रहा है। गांधी जी ने अहिंसात्मक ढंग से कार्य करने का विचार सामने रखा। उन्होंने असहयोग, सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह के मार्ग से ही समान वितरण लाने का पूरा प्रयास किया। गांधी जी ने कहा है, "यह पूछा जा सकता है कि क्या इतिहास में किसी भी समय मानव स्वभाव में ऐसा परिवर्तन हुआ पाया जाता है। निःसन्देह ऐसे परिवर्तन व्यक्तियों में तो हुए ही हैं। शायद सारे समाज में ऐसे परिवर्तन होने का उदाहरण न दिया जा सके। परन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि अब तक बड़े पैमाने पर अहिंसा का कभी प्रयोग नहीं हुआ।"[1] इस प्रकार गांधी जी ने मानव इतिहास में एक नया आदर्श कायम करने का प्रयास किया। उनका पूरा विश्वास था कि अहिंसात्मक ढंग से यह काम किया जा सकता है। पर इसके लिए त्याग की भावना होनी चाहिए। उनकी मान्यता थी कि जो काम भूत में असम्भव मान लिया गया वही काम पूर्ण सम्भव हो रहा है। फिर अहिंसा तो निश्चित रूप से समाज का गुण है। अहिंसा के बल पर बड़े-बड़े धार्मिक कार्य किये गये हैं। गांधी जी ने भी अनेक ऐसे कार्य अहिंसा के माध्यम से करके दिखा दिया जो कि अभी तक असम्भव था।

इस सम्बन्ध में गांधीजी की मृत्यु के बाद विनोबाजी ने जो कार्य किया है वह भी उल्लेखनीय है। विनोबाजी भी समाज में आर्थिक समानता लाने के लिए गांधीजी द्वारा बताये मार्ग से काम कर रहे हैं। विनोबाजी भूदान, ग्रामदान एवं सम्पत्तिदान से आर्थिक समानता लाने का प्रयास कर रहे हैं। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि विनोबाजी अपने कार्य में आंशिक रूप से सफल हो रहे हैं। अहिंसा, प्रेम एवं सत्य के आग्रह से सामाजिक न्याय के नाम पर इतने भूमिदान से काम करने का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है। भले ही इस दान से समाज में

---

१. हरिजन २६–८–'४० ।

आर्थिक समानता न आ सके फिर भी यह इतिहास में अपने ढंग का अतुलनीय कार्य है। आज तक इतिहास में ऐसा कार्य नहीं किया गया था। सारांश में कहा जा सकता है कि गाँधी जी ने आर्थिक समानता के लिए जो मार्ग बताया है एवं जितनी सफलता पायी है इससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह एक अच्छा साधन है। अपने ढंग का नया साधन है।

गाँधी जी ने कहा है कि सभी व्यक्तियों को समाज को ध्यान में रखकर के ही काम करना चाहिए। पड़ोसी की सेवा की भावना से ही काम करना चाहिए। हमें जितने की जरुरत हो उससे अधिक पास में नहीं रखना चाहिए।

विभिन्न आर्थिक पद्धतियों का सूक्ष्म परिचय

मैं पहले बता चुका हूँ कि पूँजीवाद ने निराशा का वातावरण उत्पन्न कर दिया। समझा गया था कि सामन्त युग के बाद यह युग सर्वांगीण मुक्ति प्रदान करके भौतिक कल्याण की कुन्जी मानव को आविष्कार के रूप में प्रदान करने जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रेरणा तथा सुख और लाभ की इच्छा से स्वर्गीय आनन्द का निर्माण करेगा। परन्तु परिणाम विपरीत हो गया। पूंजीवाद स्वयं संकट में पड़ गया। समाज में दो वर्ग हो गये। एक तो साधनों का स्वामी, दूसरे श्रम का स्वामी, जिसे मजदूर कहते हैं। साधनहीन मजदूर को १६ घंटे काम करना पड़ता। सब नगरों की ओर बढ़े क्योंकि वहीं वाष्प का इंजन काम देता था; और वहीं उद्योग केन्द्रित थे। मजदूरों की संख्या बढ़ जाने से मालिकों ने माँग और-पूर्ति नियम का लाभ उठाया। कम मजदूरी देकर अधिकांश लाभांश प्राप्त करने में मालिक समर्थ हुये। कम मजदूरी मिलने के कारण मजदूरों की आवश्यकतायें पूरी न होतीं अतएव उन्होंने अपनी औरतों को भी काम पर लगाना प्रारम्भ किया और लाभ की दृष्टि से परिस्थिति पूँजीपतियों के अनुकूल हो गई। वह कम मजदूरी देकर उनकी औरतों से भी काम लेने लगा। मजदूरी की दर में कमी हो गई। मजदूर पुनः अपनी आय की वृद्धि के लिये अपने बच्चों को भी काम पर ले जाने लगे। इससे पूँजीपति और सस्ते में श्रमिक पाने लगा और कम मजदूरी देकर अपने लाभ को बढ़ाने में समर्थ हुआ। पुरुष स्त्री तथा बच्चे सब काम में रत

हो गये । नगरों की गन्दी गलियों में मजदूर परिवार गरीबी का जीवन बिताने लगे । अनेकों प्रकार की बीमारियों तथा रोगों से वे ग्रस्त हो गये । अधिक संख्या में मरने लगे । परन्तु अधिक संख्या में बच्चे भी होने लगे ।

मजदूरों की इस दयनीय परिस्थिति ने उन्हें बाध्य किया कि वे एक सूत्र में बंध जायँ । मजदूरों के नेताओं ने मजदूर संगठन बना लिया । इसी के द्वारा मजदूरों की माँगें सरकार के सामने रखी जाने लगीं । पहले तो सरकार पर पूँजीपतियों का दबाव रहा परन्तु समय की गति के कारण मजदूरों की माँगें सरकार को माननी पड़ीं । पूँजीपतियों ने जब अपने स्वार्थ की पूर्ण सिद्धि में बाधा देखी तो उन्होंने अधिक नवीनतम मशीनों का आविष्कार तथा प्रयोग आरम्भ किया और कम-से-कम मजदूरों को रखना लाभप्रद समझा । साथ ही साथ उत्पादकों ने आपस में एक संघ बना लिया जिससे वे मजदूर संघ का सामना कर सकें । अब पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के दो विशाल संघ बन गये । कम मजदूर अधिक मशीन का प्रयोग प्रारम्भ हुआ । इसके परिणामस्वरूप समाज में क्रयशक्ति की कमी पड़ने लगी क्योंकि कम लोगों को ही काम मिल रहा और लोग बेकार होने लगे । समाज में इतना अधिक बना हुआ सामान कौन क्रय कर सकता है ? लोगों के पास रुपया रहा नहीं है परन्तु पूँजीपतियों के पास बहुत सामान बिना बिके पड़ा हुआ है । इस परिस्थिति को अर्थशास्त्र की भाषा में मंदी कहते हैं । मशीन के आविष्कार की धुन में पूँजीपति उत्पादक वस्तुओं (Capital goods) में अपनी शक्ति लगाने लगता है; क्योंकि वह स्वयं चालित मशीनों के प्रयोग से मजदूर को काम से अलग करना चाहता है । उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में बड़ी पूँजी लगती है, साथ ही इन उत्पादक वस्तुओं की माँग उपभोग के सामानों की माँग पर निर्भर है । यदि बेकारी के कारण उपभोग के सामानों की माँग कम हो गयी तो पूँजी के सामानों की माँग भी कम हो जायगी । वे बिना बिके पड़े रह जायेंगे । ये ही आर्थिक संकट के सबसे बड़े कारण प्रस्तुत करते हैं । व्यापार की दृष्टि से नवीन परिवर्तन करनी पड़ती है । नयी मशीनों की खोज के फलस्वरूप बहुत बड़ी लगी हुई पूँजी बेकार हो जाती है । ये पूँजी के सामान पूँजीपति को स्वयं बहुत बड़े संकट में डाल देते हैं । उत्पादन में शिथिलता आ जाती है । जब बना हुआ सामान ही नहीं बिक पाता तो फिर उत्पादन क्यों किया जाय ? अतएव उत्पादन बिलकुल बन्द हो जाता है जिससे

सबके सब बेकार हो जाते हैं। समाज को पूँजीवाद इस दुःखद परिस्थिति में डाल देता है। व्यापार चक्र में सारी आर्थिक व्यवस्था घूमने लगती है। इसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। इससे समाज के बेकार लोगों में घोर असंतोष उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह होती है कि बड़ा पूँजीपति छोटे पूंजीपतियों को धीरे-धीरे समाप्त भी कर देता है और थोड़े से पूंजीपति सारी आर्थिक व्यवस्था का संचालन करने लगते हैं। इससे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होने लगता है और यह भी पूंजीवाद को समाप्त करने में सहायक होता है। पूंजीपति अपनी पूंजी लगाने के लिए अन्य उद्योगों को ढूँढ़ता है और विविध प्रकार के नाश और विलासिता की वस्तुओं का जैसे अस्त्र-शस्त्र, अफीम, कोकीन, संखियाँ, गाँजा, शराब आदि का उत्पादन करता है और अपनी पूँजी को इन स्थानों पर परिवर्तित कर देता है। जब समाज में अधिकतर जनता आधापेट भोजन तथा तन भर वस्त्र नहीं प्राप्त कर सकती ऐसी परिस्थिति में यह उत्पादन विधि किस प्रकार नैतिक कही जा सकती है।

पूँजीवाद अनेक रूपों में आगे बढ़ता है। एक तो खेतिहर पूंजीवाद जिसमें कुछ के पास हजारों बीघा भूमि और कुछ भूमिहीन होते हैं। दूसरे औद्योगिक पूंजीवाद जिसके अन्तर्गत देशी पूँजीवाद तथा विदेशी पूंजीवाद है। तीसरे नौकरी का पूंजीवाद है जिसमें कुछ को ऊँचे पुरस्कार, कुछ को बहुत कम वेतन प्राप्त होता है। चौथे व्यापारिक पूंजीवाद है। पाँचवें बुद्धि का पूंजीवाद है। पूँजीवाद के कतिपय दोषों को संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि ये शोपण पर आधारित हैं, इनका उद्देश्य लाभ ही है। सारी मान्यतायें धन की ही होती हैं। स्वार्थपरता के प्रभाव से समाज सेवा का पूर्ण अभाव पाया जाता है। चोरबाजारी, नकली चीजें आदि हानिकर चीजों का विक्रय करना ही पूँजीवाद का सर्वश्रेष्ठ कार्य माना जाता है। बहुत मात्रा में प्रतिस्पर्धा के कारण चीजें उत्पादित करके समुद्रों में फेंकना तथा जलाना, देश के प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग करना, आर्थिक संकट तथा मंदी का प्रकोप, साम्राज्यवाद का फैलाव इसलिए कि कच्चे माल का बाजार प्राप्त हो तथा तैयार माल के विक्रय का बाजार प्राप्त हो। करोड़ों व्यक्तियों को असमर्थ बना देना जिससे वे बेकार होकर दरिद्रता में ही घुट-घुट कर जीवन व्यतीत करें, समाज में भयानक विषमता का प्रादुर्भाव होता है। आर्थिक दासता बढ़ती जाती है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य गिरता जाता

है। मजदूरों को गन्दे अँधेरे स्थानों पर कार्य करना पड़ता है। गन्दी गलियों में रहना पड़ता है। वे प्रकाश, हवा, पानी की कमी के कारण अस्वस्थ हो जाते हैं। जुआखोरी, वेश्यावृत्ति तथा व्यभिचार में ही उन्हें आनन्द मिलता है। नैतिक पतन तथा दुर्बलता का प्रसार बढ़ता है। चोरी, डकैती, हत्यायें बढ़ती हैं क्योंकि एक ओर देश में धन का बोलबाला होता है तो दूसरी ओर भुखमरी का। साम्राज्यवाद, होड़, अस्त्रशस्त्र को बढ़ावा दिया जाता है जिससे अधिक माल व्यापार बढ़े। बड़े-बड़े भीषण युद्ध विकराल रूप धारण करते हैं। आज इसी का प्रकोप है जिससे प्रतीत होता है मानवता तथा सभ्यता कहीं समाप्त न हो जाय।

समाजवाद

पूँजीवाद के दोषों के फलस्वरूप समाजवाद का आविर्भाव हुआ, क्योंकि परिवर्तन आवश्यक था। आचार्य नरेन्द्रदेव जी के शब्दों में "समाजवाद का ध्येय वर्गविहीन समाज की स्थापना है। वह वर्तमान समाज का इस प्रकार का संगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थोंवाले शोषक तथा शोषित, पीड़क तथा पीड़ित वर्गों का अन्त हो जाय। समाज सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का ऐसा समूह बन जाय जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सब मिलकर सामूहिक रूप से बराबर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सकें।" समाजवाद, भूमि तथा पूँजी पर समाज का आधिपत्य चाहता है। संक्षेप में समाजवाद में व्यक्तियों की अपेक्षा समष्टि समाज को प्रधानता दी है। प्रतियोगिता का उन्मूलन, निजी उद्योगों का अन्त, पूँजीपति तथा भूमिपति का विनाश इसका लक्ष्य माना है। समाजवाद का मूल सिद्धान्त यही माना गया है कि समाज का व्यक्ति से अधिक महत्व है। समाज में सबको उन्नति के अवसरों में समानता होनी चाहिए। व्यक्तिगत लाभ तथा हानिकारक स्पर्धा को समूल नष्ट करना ही आर्थिक तथा सामाजिक शान्ति का द्योतक है। समाजवाद शताब्दियों से चला आ रहा है। प्लेटो के युग में समाज को इस विचार की एक झलक देखने को मिलती थी। उनका साम्यवाद कितना पुरातन समाजवाद है। उन्हें

ओविन तथा फेरियर ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति में इसका विकास किया। लुई ब्लाँक तथा लासेली ने फ्रांस के प्रजातंत्र में इसे बल दिया। फिर क्रान्तिकारी युग आया जिसका प्रतिपादन महापण्डित कार्लमार्क्स ने किया। उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, वर्गसंघर्ष का सिद्धान्त, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तंत्र और उसके फलस्वरूप शोषणविहीन, वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना की विचारधारा का प्रतिपादन किया। मार्क्स तथा एंगिल्स के घोषणा-पत्र में भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त, उत्तराधिकार का उन्मूलन, ऋण, यातायात, उद्योग, व्यापार आदि का राष्ट्रीयकरण, मजदूरों को समान स्वतंत्रता; नगर तथा ग्राम के भेद को कम करने तथा राष्ट्रीय पाठशालाओं में प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की गई। यह घोषणा-पत्र एक क्रान्तिकारी भावना का सृजन करता है। रूस में समाजवाद का प्रारम्भ सबसे पहले हुआ और दिन प्रतिदिन विभिन्न देशों में इस विचारधारा का आरम्भ हो गया है। आज समाजवाद पूँजीवाद के समस्त दोषों का निराकरण करता है। सामाजिक भावना, परमार्थ की भावना को बढ़ाना चाहती है तथा राजनैतिक आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना चाहती है और व्यक्तिगत स्वामित्व को उठा देना चाहती है। एक नया संदेश लेकर समाजवाद आया है। इसके विभिन्न स्वरूप हैं। कुछ विकासवादी स्वरूप हैं, कुछ क्रान्तिकारी।

समाजवाद के स्वरूप

(१) राज समाजवाद या समूहवाद या समष्टिवाद—यह राज्य को केन्द्रबिन्दु मानकर केन्द्रीय प्रजातांत्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम उत्पादन तथा श्रेष्ठतम वितरण की व्यवस्था करना चाहता है। भूमि तथा उद्योगों पर राज का स्वामित्व तथा प्रबन्ध होगा और उसके द्वारा उत्पादन तथा समान वितरण किया जायगा। धीरे-धीरे जनमत को अपने पक्ष में करके शासन तंत्र पर अधिकार किया जा सकता है और इसी शासन यंत्र द्वारा पूँजीवाद का अन्त करके समष्टिवाद की स्थापना की जायगी। प्रचार तथा विचार परिवर्तनमें इनका विश्वास है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जायगा। राष्ट्रीय वेतन तथा पारिश्रमिक

की एक न्यूनतम सीमा निश्चित की जायगी। राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। अमीरों को भारी कर लगेगा और गरीबों को कर भार से मुक्ति मिलेगी। अतिरिक्त सम्पत्ति का प्रयोग सामान्य हित में किया जायगा। सामाजिक हित की भावना का विकास किया जायगा। उद्योगों का संचालन सामाजिक आवश्यकता तथा हित का ध्यान रख कर किया जायगा।

(२) फेबियनिज्म—यह बुद्धिपरिवर्तन द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहता है। सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक निबन्धों तथा खोजों द्वारा जनता की बुद्धि बदलना तथा विचार में परिवर्तन लाना इसका उद्देश्य है। श्रेणीसंघर्ष, क्रान्ति, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में इतना विश्वास नहीं है। ये उत्पत्ति के साधनों पर राष्ट्र का तथा उपभोग के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार चाहते हैं। लोकतान्त्रिक राज्य के माध्यम से, संविधानिक पद्धति से समाज की रचना करना इनका उद्देश्य है। इस समाज रचना का आधार सहयोग, सहकारिता तथा अप्रतियोगिता है। अपने उपभोग पर नियंत्रण रखना होगा। एक घर, कुर्सी, चूल्हा आदि वस्तुयें सबके सुख के लिए आवश्यक होंगी। सामाजिक उपयोगिता के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निश्चित होगा। लाभ, सूद तथा लगान, अन्यायपूर्वक अनुपार्जित आय का यह वाद विरोध करता है और राष्ट्रवादिता में विश्वास करता है। सहकारिता आन्दोलन को ब्रिटेन में इससे बड़ा प्रोत्साहन मिला। यह ब्रिटेन की बौद्धिक शक्ति की देन है। १८८४ ई० में इस फेबियन सोसाइटी की स्थापना हुई। जार्ज बर्नार्ड शा, ग्राहम वालस, वेब, कोल आदि विद्वान इसके सदस्य थे। ये हेनरी जार्ज के सिद्धान्तों, कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों तथा जान स्टुअर्ट के समूहवादी सिद्धान्तों से पूर्ण प्रभावित थे।

(३) श्रमसंघवाद—(Syndicalism) पहिले इस सिद्धान्त का प्रचुर [illegible] था। १९ वीं शताब्दी में फ्रान्स में इस सिद्धान्त का जन्म हुआ। श्रम संगठन नये समाज की नींव है। राज्य को पूंजीपतियों की संस्था मानता है। राज्य की सेना [illegible] की भावना [illegible] है। [illegible] सरकारी कर्मचारी इस बात को नहीं [illegible] सार्वजनिक [illegible] हो जाता है। [illegible] राज्य का उन्मूलन होना चाहिए। उद्योगों पर श्रमिकों का अधिकार होगा। ये श्रम संघों द्वारा उद्योगों का प्रबन्ध

करेंगी। उपभोग को नियमित करेंगी तथा सामान्य सामाजिक हितों को क्रियात्मक स्वरूप देंगी। समाज संगठन की इकाई मजदूर सभायें होंगी। ये केन्द्रीय अधिकारों का विकेन्द्रीकरण चाहते हैं। श्रम संघों का संघात्मक समाज होगा। ये वर्गसंघर्ष में विश्वास करते हैं। श्रमसंघों द्वारा समाज की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति की जायगी। यह सिद्धान्त अराजकतावाद, समाजवाद तथा मजदूर समाजवाद का संमिश्रण है। वैधानिक तरीके में इनका विश्वास नहीं है। ये प्रत्यक्ष उपाय में विश्वास करते हैं जैसे हड़ताल, वहिष्कार, लेविल तथा माल हानि में।

(४) गिल्ड समाजवाद—यह ब्रिटेन की उपज है। १६०६ में ए० जे० पेन्टी ने इस विचार की व्याख्या की है। औद्योगिक क्षेत्र में स्वशासन की स्थापना करना आवश्यक है। मध्य युग के कारीगरों की यह संस्था आज भी स्थापित होनी चाहिए। हाब्सन, ओरेज, कोल इत्यादि इस सिद्धान्त के बड़े व्यवहारिक पोषक हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में विषमता, शोषण आदि का राज्य होता है। उद्योगों पर राज्य का अधिकार न होगा वल्कि इन गिल्डस का अधिकार होगा। पेशेवर या धन्धात्मक लोकतंत्र के आधार पर समाज का निर्माण होगा। वेतन प्रथा का अन्त हो जायगा। हर एक आदमी सबका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता अतएव पेशेवाले ही अपने पेशे का प्रतिनिधित्व करें। सामान्य हितों जैसे रक्षा, शिक्षा, कर, कानून आदि पर राष्ट्रीय अधिकार होगा। इसका भार राज्य के कंधे पर होगा। स्थानीय हित जैसे पुलिस, पार्क, पानी, बिजली, स्वच्छता इसका भार नगरपालिकाओं के ऊपर होगा। उत्पत्ति की प्रत्येक समस्यायें जैसे मजदूरी, घंटा, काम आदि का प्रबन्ध कारखानें की समिति करेगी। उत्पादकों की समिति से सलाह करने के लिए उपभोक्ताओं की भी समिति होगी और यह उत्पादन व्यय तथा मूल्य का निर्धारण करेगी।

(५) अराजकतावाद– समाजवाद के स्वतन्त्र संघटन का सिद्धान्त है। मनुष्य को उत्पादक की हैसियत से पूँजीवाद से मुक्ति दिलाना, व्यक्ति को नागरिक की हैसियत से राज्य के वन्धन से मुक्ति दिलाना, मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में धार्मिक स्वतन्त्रता दिलाना, ऐच्छिक और स्वायत्त समुदायों द्वारा निर्मित अराजकतावादी समाज की स्थापना करना जिसमें व्यवस्था तो सर्वत्र हो परन्तु विवशता कहीं भी न हो, यही इसका आदर्श

है। क्रोपाटकिन ने इसे जीवन का वह सिद्धान्त तथा आचार बताया है जिसमें समाज शासन से शून्य समझा जाता है। ऐसे समाज में व्यवस्था उन प्रादेशिक एवं व्यावसायिक समुदायों के आपस में किये गये स्वतन्त्र समझौतों द्वारा प्राप्त किया जाता है जो उत्पादन, उपभोग व अन्य प्राणी की अनेकों आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त होते हैं, न कि किसी कानून और सत्ता के आदेश द्वारा। समाज की कुल वस्तुओं पर सबका अधिकार है और यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष आवश्यक पदार्थों के उत्पादन में अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान देते हैं तो सब में हिस्सा बँटाने का उन्हें अधिकार है। विषमता, बहिष्कार, भय तथा दुराचार शासन की देन है, परन्तु एकता, प्रेम तथा स्वतन्त्रता अराजकतावाद की देन है। इसमें दो विचारधारायें हैं। प्रथम दार्शनिक विचारधारा जिसमें टालस्टाय आदि हैं। इनके अनुसार आवश्यकताओं को कम-से-कम करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना, दूसरों की सेवा करना आवश्यक है। इससे व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता आती है, अतएव इसकी वृद्धि आवश्यक है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होनी चाहिए। द्वितीय विचारधारा क्रान्तिकारी अराजकतावाद की है, जिसमें बाकुनिन, क्रोपाटकिन आदि हैं। ये व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को मानते हैं परन्तु सामाजिक स्वतन्त्रता को प्राथमिकता देते हैं। वर्तमान सरकार चाहे वह मजदूरों की हो पार्लियामेंट क्यों न हो अनावश्यक है। राज्य कुछ के एकाधिकार की स्थापना करता है। शक्ति की मादकता में अनेकों शोषण, विषमताओं का प्रसार होता है। धर्मान्धता तथा भयभीति बन जाती है। भ्रातृभाव केवल स्वतन्त्र समाज संगठन से उत्पन्न होता है। भारी युद्ध करने में राज्य असमर्थ है। स्वतन्त्र व्यावसायिक तथा प्रादेशिक आधार पर बने ऐच्छिक संगठनों द्वारा सार्वजनिक कार्य चलेंगे। क्रियात्मक तथा प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण होगा। धर्म, पूँजीवाद तथा राज्य ये तीनों मानव पतन के कारण हैं। इनका सर्वनाश आवश्यक है। ये लोग हिंसात्मक क्रान्तिकारियों की भाँति राज्य को [illegible] नष्ट करना चाहते हैं।

(९) लोकतान्त्रिक समाजवाद—इस वाद में विश्वास रखने वाले व्यक्ति की अपेक्षा समूह और समाज के हित को अधिक महत्व देते हैं। उत्पादन का आधार सामाजिक हित होता है। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ण तृप्ति कर पाता है और व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायक होता है।

पूँजीवादी के शोषण, वर्गसंघर्ष, असमानता, नैतिक पतन, अन्याय तथा अमानुषिक व्यवहार का अन्त होता है। उत्पादन, विनिमय तथा वितरण सब पर समाज का अधिकार होता है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होता है। प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार कार्य करने का अवसर, सन्तुलित उत्पादन, उपभोग का नियमन तथा कार्य के अनुसार उचित पुरस्कार देने का संकल्प होता है। देश में सम्पत्ति का समुचित वितरण होता है। आयकी विषमता न्यूनतम होती है। अधिकतम तथा न्यूनतम पुरस्कार की सीमा निर्धारित कर दी जाती है। वह व्यवस्था जो कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूँजी केन्द्रित करती है उसका अन्त हो जाता है। उद्योगों का अभिनवीकरण होता है और मजदूरों का औद्योगिक प्रबन्ध में सक्रिय सहयोग होता है। प्राकृतिक साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है। ग्रामोद्योग तथा लघु कुटीर उद्योनों के संवर्धन की व्यवस्था की जाती है। उत्पादन साधनों का प्रयोग समाज के कल्याण के लिए किया जाता है। वितरण का मानवीय आधार होता है। यह सब में सामाजिक भावना तथा मूल्य का सृजन करता है। इससे एक सब के लिए तथा सब एक के लिये की भावना का प्रसार होता है यह वैधानिक ढंग से जनमत-परिवर्तन करता है तथा राज्य को सामाजिक कल्याण के लिए प्रयोग करता है।

(७) साम्यवाद—कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ने अनेकों रूप प्राप्त किया है। वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता मार्क्स माने जाते हैं। इनके विचारों की निष्पन्नता का क्रम इस प्रकार है:—(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (२) इतिहास की आर्थिक व्याख्या (३) वर्गसंघर्ष (४) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त तथा शोषण का सिद्धान्त (५) सर्वहारा वर्ग तथा अधिनायक तंत्र (६) क्रान्तिकारी संक्रान्ति काल (७) अंतिम सोपान राज्यविहीन, वर्गविहीन तथा शोषणविहीन समाज की स्थापना। कार्लमार्क्स ने जर्मनी के प्राचीन दर्शन, ब्रिटेन के पुरातन अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवाद का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। आर्थिक ढाँचा समाज के राजनैतिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा वैचारिक सब पहलुओं का निर्णायक होता है। इसकी पुष्टि आदिम साम्यवादी समाज, दासमूलक समाज, सामन्तवादी समाज, पूँजीवादी समाज तथा समाजवादी समाज की व्याख्या से कार्लमार्क्स ने की है। हीगल तथा मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक दर्शन का मूलमंत्र यही बताया कि सत्य या विकास दो विरोधी तत्त्वों या प्रवृत्तियों के संघर्ष से हस्तगत होने वाली वस्तुयें हैं। समाज में

एक प्रवृत्ति चलती है और जब वह बलवती होने लगती है तो समाज में उसकी एक विरोधी प्रवृत्ति जन्म लेने लगती है। दोनों का आगे चलकर संश्लेषण होता है और दोनों के मेल से एक नई प्रवृत्ति का जन्म होता है जो दोनों के गुणों को प्राप्त कर लेती है और श्रेयस्कर होती है। हीगल तथा मार्क्स की व्याख्या में अन्तर अवश्य है। कार्लमार्क्स ने वर्गसंघर्ष की स्पष्ट विवेचना की है और पूँजीवाद के नाश का नक्शा खींचा है। पूँजीवाद के नाश के उपरान्त समाज में नये मूल्य तथा नई व्यवस्था की स्थापना होगी। सब साधनों का सामाजीकरण होगा। अभाव, अन्याय तथा अज्ञान का सर्वनाश होगा। उसमें सामाजिक भावना का प्रसार होगा। सबको अपनी योग्यतानुसार कार्य करना पड़ेगा और आवश्यकतानुसार पुरस्कार प्राप्त होगा। सबकी शक्तियों का उचित विकास होगा।

साम्यवाद तथा समाजवाद में भेद

यहाँ समाजवाद की मूल प्रवृत्तियों का विवेचन आवश्यक हो जाता है। इसमें उत्पादन तथा वितरण के सब साधनों पर राज्य का स्वामित्व होगा। निजी उद्यम की पूर्ण समाप्ति हो जायगी तथा वैयक्तिक लाभ के स्थान पर सार्वजनिक सेवा या सामूहिक आवश्यकता का मापदण्ड स्थान लेगा। हार्नशा के अनुसार प्रथम भेद यह है कि समाजवाद सार्वजनिक उत्पत्ति के साधनों के क्षेत्र को छोड़कर सब साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर देगा। परन्तु साम्यवाद सब प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति, यहाँ तक कि मानवीय अर्थात् श्रम की व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी अन्त कर देगा। स्वामित्व के विसर्जन के उपरान्त वितरण के क्षेत्र में जहाँ पूँजीवाद, व्यक्ति को उसके कार्य से कम पुरस्कार देता है, समाजवाद उसकी सेवाओं के अनुकूल पुरस्कार देगा; परन्तु साम्यवाद प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार पुरस्कृत करेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करेगा। विनिमय के क्षेत्रों में समाजवाद मुद्रा को मान्यता प्रदान करता है और उसे प्रयोग में लाता है। परन्तु साम्यवाद मुद्रा के प्रयोग और उसकी मान्यता को नहीं मानता। राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद अपने आदर्श की सिद्धि के लिए राज्य को महान साधन मानता है। राज्य एक स्थायी संस्था है और राज्य समाजवाद में तो राज्य सारी समाजवादी पद्धति का केन्द्र है, परन्तु साम्यवाद, राज्य

को शोषण, अन्याय तथा दासता का यन्त्र मानता है। वर्गसंघर्ष विहीन समाज में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी। साम्यवाद, वर्गशोषण तथा राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है। सामाजिक क्षेत्र में समाजवाद कुछ सीमा के भीतर अधिकार, पद, आय तथा विशेष सुविधाओं के अन्तर को मानता है परन्तु साम्यवाद पूर्ण समता में विश्वास करता है और किसी भी प्रकार के भेद तथा अन्तर को नहीं मानता। समाजवाद विकासवादी है। साम्यवाद क्रान्तिकारी है। समाजवाद वैधानिक तथा लोक तांत्रिक पद्धति स्वीकार करता है, साम्यवाद हिंसात्मक तथा खूनी तरीका स्वीकार करता है। समाजवाद अपने विरोधियों को तर्क तथा शान्तिमय व्यवहार से अपने अनुकूल बनाने की निरन्तर चेष्टा करता है, परन्तु साम्यवाद अपने विरोधियों को समूल नष्ट करने में विश्वास कराता है। समाजवाद सुधारवादी तथा शान्तिमय पद्धतियों का अनुयायी है और साम्यवाद फौजी तथा विनाशकारी पद्धतियों का प्रणेता। समाजवाद लोकतांत्रिक है। साम्यवाद संक्रान्तिकाल में सर्वहारा के अधिनायकत्व में विश्वास रखता है। जब साम्यवाद शोषकों का पूर्ण विनाश कर डालेगा तब वर्गविहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी और उस समय जो जनतंत्र होगा उसके मूल्य दर्शन तथा आचार 'आज के जनतंत्र से श्रेयस्कर तथा भिन्न होंगे।

सहकारिता

पूंजीवाद अपने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा प्रेरणा के मूल्य पर अधिकतम उत्पादन का निर्माण करता रहा परन्तु समाज में अनेकों विकारों का प्रसार कर सब प्रकार के मूल्यों को भ्रष्ट करता गया उसके निराकरण के लिए समाजवाद आया, जो सामाजिकता के समक्ष व्यक्तिगत स्वतंत्र्य तथा प्रेरणा को हड़प गया, दोनों में दोषमय पक्ष आ गये। दोनों के गुणों का समन्वय सहकारिता करती है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिकता दोनों का पूर्ण संतुलन हो जाता है। इसका सुनहला पथ "सब एक के लिए और एक सारे समाज के लिए" विकास का प्रदर्शक है। यह भी एक आर्थिक पद्धति है जो समाज तथा व्यक्ति को पूर्ण विकसित करने का दावा रखती है। विभिन्न देशों जैसे, ब्रिटेन में उपभोक्ता सहकारी स्टोर्स, जर्मनी में सहकारी साख समितियां, फ्रांस में उत्पादक

सहकारी समितियाँ, भारतवर्ष में बहुधन्धी सहकारी समितियाँ, इटली में श्रमजीवी सहकारी समितियाँ डेनमार्क में किसानों की सहकारी समितियाँ चल रही हैं। इनमें स्वेच्छा, सहकारिता, प्रेम, सेवा आदि की भावनाएँ व्याप्त होती हैं। सहकारी कृषि सुधार समितियाँ, सहकारी संयुक्त कृषि समितियाँ, सहकारी सामूहिक कृषि समितियाँ आदि-आदि अनेक रूप में समाज को विकसित करने में सहायक हो रही हैं।

अविकसित आर्थिक व्यवस्था

बहुत से देशों में पूर्ण विकसित आर्थिक व्यवस्था के सब आवश्यक साधन उपलब्ध होते हैं परन्तु आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि किसी कारण से वे देश उन साधनों का पूर्ण प्रयोग औद्योगिक विकास में नहीं कर पाते। परतन्त्रता के कारण उस देश का औद्योगिक विकास नहीं हो पाता। निपुण श्रम, आवश्यक पूंजी की कमी के कारण भी विकास नहीं हो पाता। बहुत से देशों में प्राचीन परम्परा की रूढ़ियाँ विकास में बाधक होती हैं। इसीलिए इन अविकसित देशों को अपने विकास के लिए संरक्षण नीति अपनाना पड़ता है। इन देशों को विकसित करने के लिए इनकी मानव शक्ति तथा प्राकृतिक साधनों का लेखा प्राप्त होना चाहिए। विकास की जो योजना प्रस्तुत की जाय उसके उद्देश्य तथा लक्ष्य पूर्णतया स्पष्ट हों और अपनी शक्ति के भीतर हों। इस योजना को चलाने के लिए एक प्रभावशाली तथा विश्वासपूर्ण आयोग हो; जिसमें सबके प्रतिनिधि हों तथा जिन्हें योजना के विविध पक्षों का पूर्ण ज्ञान हो।

अविकसित आर्थिक व्यवस्था की योजना के अन्तर्गत आर्थिक विकास का तीव्रता से प्रयास होना चाहिये। दूसरे, साधारण जन के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का पूर्ण संकल्प हो। जनता में कार्य करने तथा अपने जीवन को उत्तम बनाने का उत्साह उत्पन्न किया जाय। यदि मशीनों की उपलब्धता न हो सके तो मानव शक्ति का ही पूर्ण प्रयोग किया जाय। विदेशी मशीन तथा पूंजी की विशेष निर्भरता न रहे यदि हम अपने देश की श्रमशक्ति का प्रयोग करते हैं तो इससे विकास भी होगा और आत्मनिर्भरता भी उत्पन्न होगी। मशीन का प्रयोग वहीं नहीं करना चाहिए जहाँ मशीन लोगों को बेकार करती है। अविकसित देशों में श्रमशक्ति अधिक होती है, सस्ती होती है तथा उसे काम भी देना होता है, अतएव

उसीका अधिकतम प्रयोग होना चाहिये। इससे लोगों की कार्य करने की अभिरुचि भी विकसित होगी और जीवनमान भी ऊँचा हो सकेगा।

विकास के लिए साधनों का एकत्रीकरण आवश्यक है। लोगों को उपभोग के साथ-साथ बचत करने की ओर अग्रसर करना चाहिए और विकास के लिए त्याग-भावना को जगाना चाहिए। साथ-ही-साथ घाटे का अर्थ प्रबन्धन (Deficit financing) का भी प्रयोग करना चाहिए परन्तु उत्पादन को इतना अधिक बढ़ा दिया जाय कि यह अधिक मुद्रा किसी भी प्रकार से आर्थिक व्यवस्था के स्थायित्व को भयावह न सिद्ध हो। अविकसित आर्थिक व्यवस्था में यदि शिक्षा-दीक्षा से उपभोग करने की शक्ति वृद्धि हो गई तो आय की प्राप्ति के साथ-साथ उपभोग की वस्तुओं की माँग में तेजी से वृद्धि होगी और दाम सतह शीघ्रता से ऊँची हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में बचत की आशा नहीं रखी जा सकती और योजना में दाम सतह की ऊँचाई के कारण परिवर्तन करना पड़ता है। प्रश्न यह खड़ा होता है कि ऐसी परिस्थिति में बचत को बढ़ावा दिया जाय या घाटे के अर्थ प्रबन्धन को। लोगों का मत है कि व्यय पर नियंत्रण करके बचत की ओर अग्रसर किया जाय। एक परिस्थिति की कल्पना और होती है। अविकसित आर्थिक व्यवस्था में जनता की आय बढ़ती है परन्तु जीवनमान निम्न होने के कारण उनमें उपभोग करने की शक्ति प्रबल नहीं होती। इससे दाम सतह की वृद्धि की समस्या नहीं खड़ी होती; और अधिकतम बचत हो सकती है। परन्तु यह परिस्थिति योजना के लक्ष्य में बाधक होती है। यदि विकास के साथ-साथ लोगों के जीवनमान को ऊपर न उठाया जाय और लोगों में उपभोग शक्ति की वृद्धि न की जायगी तो सारी योजना व्यर्थ हो जायगी। जनसंख्या की वृद्धि होती है परन्तु उसके उपभोग के साधनों की कमी होती है। इससे इस आबादी की गुणात्मक शक्ति निर्बल हो जाती है। आबादी की क्षमता, उत्पादकता और शक्ति का विकास करना आवश्यक है।

आबादी की वृद्धि के साथ-साथ इसी एक पेशे जैसे कृषि पर बहुत बड़ा प्रतिशत अपनी जीविका अर्जन करता है। पेशे में वृद्धि आवश्यक है। औद्योगिक देशों में प्रति व्यक्ति आय की औसत कृषक देशों की अपेक्षा अधिक होती है। औद्योगिक देश में उद्योगों के विकाश के साथ-साथ पूरक (Tertiary) उद्यम क्षेत्र का विकास हो जाता है जिसमें लोगों को कार्य भी मिलता और आय में भी वृद्धि होती है। इस क्षेत्र

के अन्तर्गत बैंकिंग, यातायात, आदि आते हैं; जो उद्योगों के पोषण करने में सहायक होते हैं। कृषि-प्रधान देशों में ऐसी सम्भावना कम ही है। यदि इस पूरक क्षेत्र में ही उद्यम की वृद्धि होती है और औद्योगिक क्षेत्र के उद्यम में इससे कम अनुपात में वृद्धि होती है तो यह अवस्था भी आर्थिक विकास को विकृत कर देती है। अतएव लोगों को एक पेशे की मनोवृत्ति से अनेकों पेशों की ओर ले जाने के लिए अविकसित देश में प्रारम्भ से ही प्रयास होना चाहिए परन्तु यह प्रयास उद्योगों तथा अन्य पूरक उद्योगों में एक आयोजित सन्तुलित उद्यम प्रदान करने की ओर होना चाहिए। प्रत्येक कार्य में जितने अनुपात में मनुष्य सन्तुलित स्थायी आर्थिक व्यवस्था में होना चाहिए; उतने ही उसमें रहें। इससे विविध पेशों तथा कला और क्षमता की वृद्धि होगी। जनता का जीवनमान ऊँचा उठेगा। कृषि तथा अन्य प्राथमिक उद्योगों पर जनसंख्या का एक छोटा अंश ही निर्भर रहे। उन्हीं लोगों को जो भूमि का प्रयोग सुधरे तरीकों के आधार पर करके अधिकतम उत्पादन कर सकते हैं, कृषि कार्य सौंपा जाना चाहिए अन्य को दूसरे पेशों में भेज देना चाहिए।

अविकसित देशों में उद्योगों का विशेष महत्व है। ये उद्योग तीन प्रकार के होते हैं (१) उत्पादक उद्योग (२) उपभोग उद्योग तथा (३) ग्रामोद्योग। ग्रामोद्योग अधिक कार्य देने की दृष्टि से इस व्यवस्था में अच्छा माना जाता है। परन्तु इस उद्योग द्वारा मशीनों के पुर्जे जापान तथा स्विटजरलैंड की भाँति यदि बनाए जावें और तत्कालीन उद्योगों में इनको मिलाकर मशीनें बनाई जावें तो यह अधिक लाभ-प्रद कार्य सिद्ध होगा। चूँकि अविकसित देश में लोगों का जीवनमान ऊँचा उठाना होता है और लोगों को अपने उपभोग का सामान प्रस्तुत करना होता है, अतएव उपभोग-उद्योगों को बढ़ावा देना आवश्यक है। लेकिन इन उद्योगों का विकास तब तक नहीं सम्भव है जब तक कि उत्पादक उद्योगों का भी विकास साथ-साथ न किया जाय। ये उत्पादक-उद्योग देश में विकसित उपभोग-उद्योगों की आवश्यकता अनुकूल बनाये जावें जिससे इनके तैयार माल का उपभोग उद्योगों में पूर्ण प्रयुक्त हो सके। उद्योगों के विकास के साथ-साथ यातायात, संवादवाहन, बैंकिंग, शिक्षा आदि का भी उचित विकास होना चाहिए जो इस औद्योगिक विकास के अनुकूल हो हो और उसमें सहायक हो सकें। इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि सामाजिक सेवाओं पर प्रारम्भिक अवस्था में उतना

व्यय न किया जाय जितना कि उद्योगों की व्यवस्था तथा स्थापना पर किया जाय। इस औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में जनता को बहुत त्याग और तपस्या करनी पड़ती है। विकास के लिए देश के प्रत्येक क्षेत्र से सहायता मिलनी चाहिए। निपुण श्रमिक, यान्त्रिक श्रमिक, व्यवस्था, पूँजी आदि की सहायता देश का प्राणी-प्राणी इस विकास में अर्पित करे तभी शीघ्र विकास सम्भव है। यान्त्रिक श्रमिकों को विकसित देशों में शिक्षण दिलाकर अपने देश की आवश्यकतानुसार उत्पादन विधि में सुधार करने का प्रयास कराना चाहिए। उत्पादन वृद्धि तथा उद्यम में एकसाम्य होना चाहिए।

अविकसित देश में पूँजी की समस्या बड़ी जटिल होती है। पूँजी की कमी होती है और पूँजी के सृजन के दर में भी कमी होती है। पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति साख मुद्रा से, विदेशी सहायता से, कर्ज से तथा 'कर' से की जाती है। पूँजी का सृजन मजदूरी की उत्पादकता तथा मजदूरी द्वारा मोटे तौर पर होती है। अविकसित देश में उत्पादकता की न्यूनतम सीमा होती है, अतएव सम्पत्ति की विशेष वृद्धि नहीं हो पाती। 'कर' लगाकर पूँजी प्राप्त करने की विधि भी पूर्ण सफल नहीं हो सकती। व्यक्तिगत क्षेत्र को भी बढ़ावा देना आवश्यक होता है। अतएव 'कर' को बढ़ावा देने के लिए लगाया जाना चाहिये न कि उचित वितरण को प्रधान उद्देश्य रखकर 'कर' लगाया जाय। जहाँ तक लोगों की बचत की समस्या है, वह भी राष्ट्रीय भावना तथा विकास की भावना को प्रसारित करके, कराई जानी चाहिये। इसके लिए आवश्यक नियंत्रण भी लगाये जाने चाहिए। घाटे के अर्थ प्रबन्धन की विधि का भी प्रयोग करना चाहिये, परन्तु उसके दोषों से सदैव सतर्क रहना चाहिये। इन सब बातों का पूर्ण ध्यान रखकर अविकसित देश की आर्थिक नीति औद्योगिक नीति तथा वित्त नीति का संचालन होना चाहिये। इस आर्थिक व्यवस्था का शिशुवत् पालन-पोषण होना चाहिए तभी इसमें शक्ति आती है।

इसकी प्रमुख समस्यायें यही होती हैं कि देश का औद्योगीकरण करके अधिकतम उत्पादन किया जाय, विविध पेशों का विकास किया जाय, अधिकतम रोजगार की वृद्धि की जाय, लोगों का जीवनमान ऊँचा उठाया जाय, सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग सब लोग कर सकें, पूँजी के विकास के साथ-साथ लोगों की क्षमता में भी वृद्धि की जाय।

———

नव समाज रचना

श्रम की लोकशाही

नया समाज स्वयं एक पहेली है। नया का यह तात्पर्य है कि कोई ऐसा समाज जो आज से भिन्न हो। परन्तु आज से भिन्न समाज अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। इसलिए नव समाज से अर्थ हम यही मानते हैं जो आज के समाज से सुन्दर हो। इससे पुनः एक प्रश्न उत्पन्न होता है यदि आज का समाज बहुत ही भद्दा है तो नव समाज इससे कम भद्दा हो। अब हमारे सामने प्रश्न है कि नव समाज का पैमाना क्या हो? आज से अच्छा, यह समाज का सापेक्ष रूप हुआ। एक सर्वगुण सम्पन्न, सुन्दरतम, सुसंस्कृत, सभ्य समाज एक समाज का निरपेक्ष रूप हुआ। परन्तु संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ, इतनी परिवर्तित हुई हैं और देश काल की विभिन्नता से प्रभावित हुई हैं कि उनका कोई निरपेक्ष पैमाना हमें नहीं दिखलाई देता, फिर नव समाज क्या प्राकृतिक समाज होगा! क्या रूसो की कल्पना का प्राकृतिक समाज होगा!

कुछ लोगों के मतानुसार मनुष्य के सहज स्वभाव में ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, हिंसा, स्वार्थ आदि विकार हैं। तो क्या इसे ही निरपेक्ष सहज मानव समाज मान लिया जाय या आज जिस स्थिति में हम समाज को पा रहे हैं उसी को स्वाभाविक समाज मान लें? यह एक समाज की कल्पना हो सकती है परन्तु यह एक निराशावादी दृष्टिकोण ही है। और इसको प्रमाणित समाज नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्य के विकार प्रमाण नहीं माने जा सकते, तर्क के लिए हम चाहें इन्हें कितना व्यावहारिक मान लें लेकिन यह कम-से-कम मानव समाज का मूल्य नहीं बन सकता, क्योंकि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है।

दूसरे मत के अनुसार मनुष्य स्वयं प्रेम, ममता, मानवता, सद्भावना आदि गुणों का पुंज है, विकार तो क्षणिक और बाह्य और परिस्थिति दोष के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिए मनुष्य के इन स्वाभाविक गुणों को हम नये समाज का पैमाना मान सकते हैं। इन पैमानों को मान कर ही विश्व के अंचलों में प्रत्येक युग में प्रयत्न हुए हैं। इसमें कोई दो मत नहीं

हैं। परन्तु देश, काल, और उपकरणों की भिन्नता के कारण मनुष्य नव समाज की कल्पना साकार न कर सका। एक नये मूल्य को समक्ष रख कर समस्त विकारों का संचार करने का संकल्प लेकर नव समाज के चिंतन करने वाले मनीषी आगे बढ़ते रहे हैं। यही कारण है कि कभी भौतिक मूल्य, कभी आध्यात्मिक मूल्य, कभी यथार्थ मूल्य, कभी आदर्श मूल्य, कभी व्यक्तिवादी मूल्य, कभी समाजवादी मूल्य, कभी धर्मवादी मूल्य, कभी राष्ट्रवादी मूल्य, कभी मानववादी मूल्य, समाज में श्रेष्ठतम स्थान प्राप्ति कर पुनः तिरोहित हो गये। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य इन्हीं मूल्यों को लेकर नव समाज की रचना के लिए विह्वल रहा है।

प्रथम आदिम समाज रहा। उसमें न तो वैज्ञानिक, न तो यान्त्रिक न तो तान्त्रिक, न तो सांस्कृतिक विकास पाया जाता था। शरीर से जो बलवान होता वही निर्बलों को दास बनाता और उनसे अपने भौतिक जीवन को समृद्ध बनाने का कार्य कराता। उत्पादन दास करता उपभोग स्वामी करता। भय, शोषण इस समाज की बुनियाद में था। प्रकृति की जाज्वल्यमान शक्तियाँ—आँधी, तूफान, सागर, नदियाँ, सूरज, अग्नि, बादल, आदि—मनुष्य को भयभीत करतीं। उनसे त्राण देने के लिए—पण्डा, पुरोहित, पादरी, मसीहा का रूप लेकर एक दूसरा वर्ग आया। पेट पर बलवान सामन्त ने, मस्तिष्क पर धर्म के पादरी ने अपना आधिपत्य जमा लिया। इन्हीं दोनों के प्रयास ने निरीह, भयभीत मानव की व्यवस्था के नाम पर राजतन्त्र के लिए बाध्य किया। इनकी संख्या अधिक थी अतएव इनके शोषण का व्यापक रूप भी प्रकट होने लगा। अधिक संख्यक मनुष्य असमर्थता के पाश में जकड़ा हुआ था। राजतन्त्र की समस्त जंजीरों ने पग-पग पर इसे बाँध रखा था। राजाओं और सामन्तों ने शिक्षा, दीक्षा, धर्म, कर्म, विचार, व्यवहार सभी को अपनी शक्ति के लिए एकत्रित कर लिया था।

शनैः शनैः क्रान्तिकारी चिन्तकों के त्याग, बलिदान, तपस्या के प्रहार से ये जंजीरें निर्बल हुईं। एक मुक्त समाज की ओर मनुष्य अग्रसर हुआ। राजतंत्र ढहने लगा, लोकतन्त्र का श्रीगणेश हुआ। संख्या के आधिक्य का तंत्र प्रारम्भ हुआ। राजशक्ति तो साधारण मनुष्य के हाथ में आने लगी। इसी समय विज्ञान की शक्ति का प्रवाह आने लगा। सारी आर्थिक शक्ति केन्द्रित होने लगी। राजशक्ति विकेन्द्रित हुई तो आर्थिक शक्ति केन्द्रित होकर सामान्य मनुष्य को पुनः मजबूर बनाने में समर्थ हुई।

सामाजिक रूढ़ियाँ, धार्मिक मान्यताएँ अभी ज्यों-की-त्यों बनी हुई थीं कि इसी मध्य आर्थिक दासता का प्रवेश हुआ। इस दासता की शृंखला तोड़ने के लिए पुनः दूसरा प्रयास हुआ। इसमें सामान्य मनुष्य को आर्थिक स्वतंत्रता तो प्राप्त हुई परन्तु व्यवस्था के तंत्र ने वह हरण किया गया। एक से मुक्ति मिलती है तो दूसरे से जकड़न, यही सामान्य मनुष्य का दुर्भाग्य है। लोकतन्त्र ने उसे राजनैतिक स्वतंत्रता तो दी परन्तु सामाजिक, धार्मिक, तथा आर्थिक स्वतन्त्रता न उपलब्ध हो सकी। उसके सपनों का नव समाज अधूरा ही रह गया। साम्यवाद ने आर्थिक मुक्ति दी तो अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताओं को समेट लिया। आज भी बहुसंख्यक सामान्य जन तथा कथित लोकतन्त्र तथा सामान्य जन के अधिनायकवादी तंत्र में विवशता तथा असमर्थता की छटपटाहट में पड़ा है।

करुणा के अवतार कार्ल मार्क्स ने एक नव समाज की कल्पना हमारे सामने रखी है—ऐसा समाज जो राज्य विहीन हो, वर्ग विहीन हो तथा शोषण विहीन हो। प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक भावना का प्रसार हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रथम, राज्य मानव के विकास में बाधक है। राज्य तथा उसके नियमों में मानव के विकास, मानव की नैतिकता के विकास के लिए कोई शक्ति नहीं है। इस तंत्र ने मनुष्य को पंगु बनाया है, उसे अनैतिक बनाया है, धर्म का हनन किया है। इसलिए राज्य नहीं रहेगा। मनुष्य स्वशासित होगा, स्वनियमित, स्वमर्यादित होगा। द्वितीय, मनुष्य के भौतिक जीवन के महत्व को हम समझ पाते हैं। यह भौतिक जीवन यंत्र-विज्ञान के सहारे चलता है। यह यन्त्र मनुष्य को स्वार्थी तथा दास बनाता है। सामान्य मनुष्य के पेट पर अधिकार करके शोषण तथा धर्म का हनन करता है। इसलिए राजतन्त्र तथा यन्त्र, दोनों को सामान्य जन के भीतर समाहित करना होगा। दोनों का सामान्य जन से पृथक् सारे दुःख तथा विवशता का कारण है।

राजनैतिक शक्ति, स्वतंत्रता मत पत्र, शासन की बागडोरों से प्रत्येक नागरिक तक आ गयी। कोई भी [illegible] तथा [illegible] नागरिक [illegible] उपभोग न करे। परन्तु आर्थिक शक्ति सामान्य नागरिक से दूर [illegible] बड़े-बड़े नगरों के पूँजीपति तथा व्यवसायपति [illegible] के हाथ [illegible] गयी। लोकशक्ति तो विकेन्द्रित हुई, [illegible] व्यवस्था के नाम पर [illegible] इसमें किरकिरी के भय से [illegible]। परन्तु विज्ञान तथा यंत्र की शक्ति विकेन्द्रित न हो सकी। सम्पत्ति तथा विज्ञान यंत्र में यही [illegible] हो

गया। जिससे सामान्य जन सुखी न हो सका तथा नव समाज जिसमें "सर्व भवन्तु सुखिनः" की कल्पना थी साकार न हो सका। आज का लोकतंत्र इसीलिए विवश होकर मनुष्य की विवशता न दूर कर सका। साम्यवाद राजतन्त्र और विज्ञान यन्त्र दोनों को व्यवहार में केन्द्रित करके मनुष्य को इसलिये विवशता में रखे रह गया कि वह भी ऐसा करने को विवश है। स्वामी दास, राजा-प्रजा, मालिक-मजदूर से अब मैनेजर मजदूर के सम्बन्ध में हम पहुँचने में समर्थ हुए।

इसलिये सामान्य मनुष्य के स्वत्व की रक्षा के लिए राजशक्ति तथा यंत्रशक्ति को विकेन्द्रित करना आवश्यक है। दोनों को एक ही दिशा में एक अनुरूप बनाना अनिवार्य है। भौतिक आर्थिक जीवन चलाने के साधन प्रत्येक की शक्ति के भीतर हों। अपनी मूलभूत आवश्यकताओं अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि, शिक्षा तथा मनोरंजन के लिए वह अपने ऊपर ही निर्भर हो। तभी स्वशासित व स्वावलम्बी बन कर, राजशक्ति तथा यांत्रिक अर्थशक्ति सामान्य जन में एक ही स्थान पर अपने में पा सकेगा और राज्य विहीन, वर्ग विहीन, तथा शोषण विहीन समाज की कल्पना साकार करने में समर्थ हो सकेगा। इसलिए व्यवस्था तथा शासन की इकाईयाँ, उत्पादन तथा उद्योग की यन्त्र के इकाईयों का विकेन्द्रित तथा छोटी होना आवश्यक है। इससे अब तक के दो वर्ग सम्बन्ध सिमट कर एक हो जायेंगे। समाज एक रस हो जायगा।

इसकी प्राप्ति के उपरान्त सामाजिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति सरल तथा सहज हो सकेगी। राजनैतिक लोकतन्त्र, वैज्ञानिक एवं यांत्रिक लोकतंत्र की प्राप्ति से मूल्यों में परिवर्तन होगा। सभी मानव जन्म से मृत्यु तक समान है। सभी सृष्टि की विभूत हैं। सभी में एक आत्मा है। सभी जन्म लेने के पहले तथा मरने के उपरान्त समान हैं तो इन दोनों के मध्य की विषमता अतार्किक तथा असंभव है। सामाजिक रूढ़ियाँ तथा धार्मिक परम्परायें अपने आप लुप्त होने लगती हैं। छोटे-बड़े, कुलीन-अकुलीन, काला-गोरा, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, उच्चवर्ग-निम्न वर्ग, राजा-प्रजा, आस्तिक-नास्तिक के ये झूठे भेद तिरोहित हो जाते हैं। समाज का प्रत्येक मनुष्य एक नयी मान्यता एक नये मूल्य का समर्थक हो जाता है। सभी में स्वाभिमान स्वकर्तृत्व, स्वशक्ति, स्वनियन्त्रण का जागरण होता है। सभी में मानवीय भावना का उदय होता है। दूसरों के लिए जीवित रहने का दर्शन समाज में व्याप्त होने लगता है। असमानता तथा

विषमता की श्रृंखलाएँ स्वतः निर्बल होकर समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार से सामाजिक तथा धार्मिक लोकतन्त्र भी साकार हो उठता है।

इसी भूमिका में से एक नये प्रकार का वर्ग उत्पन्न होता है जिसे बुद्धि जीवी तथा श्रम जीवी की संज्ञा से उद्बोधित किया जाता है। एक दूसरी संज्ञा से एक प्रकार का वर्ग बनता है जिसे उत्पादक तथा उपभोक्ता वर्ग भी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य उत्पादक तथा उपभोक्ता होता है परन्तु इसमें विचित्रता यह होती है कि एक वर्ग २४ घंटे उत्पादन तथा श्रम करता है परन्तु पूर्ण उपभोग नहीं करता, दूसरा २४ घंटे उपभोग तथा आराम करता है परन्तु उत्पादन नहीं करता। पहले के वर्गों का यह नया अवतार नया नया संस्करण है। समाज में उत्पादनकर्ता मजदूर किसान अप्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है। उपभोक्ता प्रतिष्ठित माना जाता है। पुनः ऊँच-नीच का वर्ग बन जाता है। यदि हम आदिम समाज से इस बात का अन्वेषण करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि शारीरिक श्रम की उपेक्षा के कारण ही शोषण तथा वर्ग बनते गये। शरीर श्रम की महत्ता तथा पवित्रता समाज ने स्वीकार नहीं किया। शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर की प्रतिष्ठा कार्लमार्क्स ने स्थापित करने का प्रयास किया परन्तु साम्यवाद में भी मजदूर से उत्तम मैनेजर माना गया। इसी से वर्ग विहीन, शोषण विहीन समाज न बन सका। शरीर श्रम मनुष्य को जीवित रखने के लिये आवश्यक है। हमारा अस्तित्व ही बिना श्रम के खतरनाक बन जाता है। हम रोग तथा अकाल मृत्यु से ग्रसित होते हैं। साथ ही साथ बिना इस श्रम के उत्पादन सम्भव ही नहीं। इस अनिवार्यता तथा आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए इसे समता का मूलाधार मानना चाहिए। सभी लोग शरीर श्रम को पवित्र तथा महत्वपूर्ण मानें। अपनी दिनचर्या का प्रधान अंग समझें, तभी वे उत्पादक बन सकेंगे और उत्पादक का महत्व बढ़ सकेगा। श्रम तथा उत्पादक की प्रतिष्ठा ही एक नये समाज तथा नये [illegible] का निर्माण कर सकेगी। मजदूर किसान समाज में प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त कर सकेंगे। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक लोकतंत्र का [illegible] सभी अंगों में परिलक्षित हो सकेगा। [illegible] बुद्धि प्रधान मानसिक तथा श्रम प्रधान [illegible] [illegible] होगा। इसी में से नए उत्पादन, नए उपभोग तथा नए जीवन की सृष्टि [illegible]

प्रस्फुटित होगी। लोकतन्त्र में लोक मानस और लोकनीति का सम्वर्द्धन होगा।

इसका सहज परिणाम यह होगा कि सच्चा लोकतन्त्र साकार हो सकेगा। सामान्य जीवन का सहज ज्ञान सभी को होगा। आज के लोकतन्त्र में एक भद्दा रूप यह प्रकट होता है कि बहुसंख्यक के नाम पर पुल बनाने की इंजीनियरिंग में वकील तथा डाक्टरों की राय ली जाती है और यदि किसी का आपरेशन करना है या कोई अस्वस्थ है तो उसकी दवा के लिए वकील तथा इंजीनियर की राय ली जाती है। यह भद्दापन विशेषीकरण के एकाधिकार के कारण उत्पन्न हो रहा है। आज इसका स्वरूप इतना बढ़ गया है कि तकनीकी अधिनायकवाद का भय हमारे सामने है। इसके निराकरण के लिए यह आवश्यक शरीर सम्बन्धी ज्ञान, सामान्य जीविका तथा जीवन सम्बन्धी ज्ञान सभी को उपलब्ध हों। राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि होगी तथा व्यक्ति की स्वाभिमान शक्ति तथा स्वतन्त्रता शक्ति में विकास होगा। आज व्यक्ति पद लोलुपता तथा धन लिप्सा की ओर बढ़ रहा है और एक मिथ्या अहंकार तथा प्रतिष्ठा की खोज कर रहा है, इसकी समाप्ति होगी। जो व्यक्ति प्रतिष्ठा के लिए पद नहीं पाते वे धन द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं और किसी न किसी प्रकार से चाहे सत्ता से चाहे सम्पत्ति से समाज को त्रस्त तथा भयभीत करने का उपक्रम रचते हैं। यह होड़ समाप्त करने के लिये सामान्य जीवन की कला को, उत्पादक जीवन की श्रेष्ठता को प्रत्येक व्यक्ति में सन्निहित करना आवश्यक होगा। बचपन से सभी बच्चों में शिक्षा-दीक्षा द्वारा संस्कार डाल कर तथा समाज में आदर्श उपस्थित करके सभी प्रौढ़ों को एक नये मूल्य की ओर मोड़ना आवश्यक है। इस लिए कतिपय मनीषी नयी शिक्षा को क्रान्ति का वाहन मानते हैं और नयी लोकतांत्रिक समग्रता की व्यवस्था चूल्हे, चक्की, चर्खे, हल, कुदाल, हँसुआ, हथौड़ा से प्रारम्भ करते हैं। प्रत्येक मानव के एक हाथ में गीता, बाइबिल और कुरान और दूसरे हाथ में कुदाल की कल्पना नये समाज के लिये आवश्यक है। इसी से मानव विभूति अपने जीवन की समग्रता, प्रतिष्ठा, जीवन के उपकरणों तथा व्यवस्थाओं के साथ प्राप्त कर सकेगा राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक लोकशाही को साकार कराने में श्रम की लोकशाही समर्थ होकर नया समाज का निर्माण करेगी।

शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम का पुरस्कार

अब तक समाज में सम्पत्ति के वितरण के लिए जो आधारभूत सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें बहुत अधिक विचित्रता और विभिन्नता है। फासिस्ट जर्मनी में यहूदियों और जर्मन में जो पुरस्कार निर्धारण किया गया था उसका आधार जाति रखा था। यदि एक ही कार्य यहूदी एवं जर्मन दोनों करते हैं तो जर्मन को उसकी जाति की श्रेष्ठता के कारण अधिक पुरस्कार मिलता था। उसी प्रकार का व्यवहार अंग्रेजों ने अपने उपनिवेशों में—जैसे भारत में किया था। एक ही कार्य के लिए किसी अंग्रेज को ज्यादा पुरस्कार दिया जाता था और हिन्दुस्तानी को कम। इसका आधार उन्होंने राष्ट्रीयता माना था। इटली में यह प्रचलित था कि किसी वंश विशेष के लोगों को सामान्य वंश के लोगों से अधिक पुरस्कार दिया जाता रहा है। राजतन्त्र में राजवंश के लोगों को सामान्य लोगों से अधिक पुरस्कार इसलिए दिया जाता था कि वे एक श्रेष्ठ शासन करनेवाले वंश के थे। आगे चलकर पूँजीवाद में उत्पादन का बहुत बड़ा भाग उनको दिया जाता है जो पूँजी के स्वामी होते हैं। खेतिहर देश में भूमि के स्वामी को अधिक पुरस्कार दिया जाता है। पूँजी एवं सम्पत्ति के स्वामित्व को ही श्रेष्ठता देकर पूँजीवादी समाज में पुरस्कृत किया जाता है। आगे चलकर साम्यवादी समाज में पद को प्रतिष्ठा दी गयी। जो बड़े पदों पर हैं उन्हें अधिक पुरस्कार दिया जाता है। साथ ही साथ लोकतान्त्रिक समाजवाद या लोकतन्त्र में लोगों को उनके उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर अधिक पुरस्कार दिया जाता है। कहीं-कहीं योग्यता को इसका मापदण्ड बनाया जाता है। इस प्रकार से प्रचलित परिस्थिति में वंश, जाति, राष्ट्र, पद, उत्तरदायित्व, योग्यता और दुर्लभता को ध्यान में रखकर सम्पत्ति का वितरण होता है या हो रहा है। लोकतन्त्र और साम्यवाद के विकसित हो जाने के कारण पिछली प्रतिष्ठाएँ जो पुरस्कार के लिए निश्चित थीं, समाप्त प्राय हो गयी हैं, परन्तु जो पद्धतियाँ आज प्रचलित हैं वे भी पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि उनका कोई वैज्ञानिक स्वरूप नहीं है और यदि नहीं मनुष्य में सम्पत्ति का उचित वितरण हो तो साथ-साथ यह बहुत आवश्यक है कि उसकी तह में मानवीय दृष्टिकोण हो। वैज्ञानिक दृष्टि रखकर आज जो पुरस्कार वितरण के नियम निश्चित किये गये उनमें भी पूर्णता नहीं है, क्योंकि उत्तरदायित्व, दुर्लभता, योग्यता, निपुणता के जो आधार हैं उनसे

जो मूल वस्तु है वह बौद्धिक निपुणता तथा योग्यता की बात है। बुद्धि की निपुणता तथा योग्यता भिन्न-भिन्न हुआ करती है और सभी में यह शक्ति कुछ न कुछ है। आज समाज में जो समता और शान्ति नहीं आ रही है उसके पीछे सबसे बड़ा कारण शरीर और बुद्धि में द्वन्द्व है। बुद्धि की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा शरीर से कई गुना अधिक दी जाती है। यह अवश्य है कि किसी भी कार्य में बुद्धि आवश्यक होती है। लेकिन इसके कारण बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है और शरीर हीन है ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए। वास्तव में तो वस्तुओं के उत्पादन में, यन्त्रों के उत्पादन में शरीर श्रम नितान्त आवश्यक है। बिना इसके उत्पादन सम्भव नहीं। सर्वोदय अर्थव्यवस्था, शरीर-श्रम के उत्पादन और शरीरश्रम करनेवाले उत्पादक को ही श्रेष्ठता प्रदान करती है। इसीलिए शरीरश्रम का पुरस्कार भी अधिक होना चाहिए।

साम्यवाद जिस तरफ हमें ले जा रहा है उसके मूल में भी शरीरश्रम का महत्व है। सभी सिद्धान्तों को, व्यवस्थाओं को, श्रम को केन्द्र में रखकर साम्यवादियों ने निर्मित किया है। सर्वोदय अर्थशास्त्र, साम्यवादियों की तरह श्रमिक को केवल स्वामी और उसे एकमात्र तानाशाह अधिकतम पुरस्कार प्राप्त करने के लिए ही नहीं मानता; बल्कि शरीरश्रम को उससे ऊँची प्रतिष्ठा प्रदान करता है। उसके महत्व, उसकी उपयोगिता, उपादेयता के साथ-साथ उसे मनुष्य के संस्कार का और मानवता का बहुत बड़ा रूप मानता है। इसीलिए जो कुछ भी उत्पादन है वह शरीर-श्रम करने वालों को ही मिलना चाहिए; प्रधानता व श्रेष्टता उसी की होगी। अन्य प्रकार के लोगों को या अन्य प्रकार के कार्यों के लिए उतना पुरस्कार नहीं दिया जा सकता।

अब सवाल उठता है कि बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम का सम्बन्ध क्या है? प्रतिक्रियावादी लोग मानते हैं कि बुद्धि शरीर से श्रेष्ठ है और बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम से अधिक प्रतिष्ठावाला है। इसीलिए इसे ही अधिक प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए। लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि बुद्धि स्वस्थ शरीर में ही रहती है। प्रत्येक शारीरिक श्रम करने वाले के पास बुद्धि का रहना स्वाभाविक है। लेकिन शरीर में ही बुद्धि रह सकती बुद्धि में शरीर नहीं। इसीलिए प्राणी, विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार शरीर प्रधान होगा। आर्थिक रूप से भी शरीर प्रधान और बुद्धि गौण है। बहुत अधिक बुद्धिमान, शरीर से निर्बल होकर उत्पादन नहीं कर सकता है। बुद्धि

निर्णय में तभी तक उपयोगी है जब तक शरीर प्राप्त करती है। शरीर की धर्मशास्त्र में भी महत्ता है। धार्मिक कार्य करने की शक्ति, उचित कार्य के लिए शरीर महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक साधन है।

यह सभी स्वीकार करते हैं कि उत्पादन के लिए शरीर श्रम आवश्यक है। यन्त्रों के मानव जीवन में दाखिल हो जाने से शनैः शनैः हम यह मानने लगे हैं कि शरीर श्रम की कोई विशेष उपादेयता नहीं है। पहले की स्थिति में जब मनुष्य आदिम अवस्था में था तो वह सारा काम अपने शरीर के अंगों से ही करता था, लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य ने आविष्कार किया त्यों-त्यों शरीर श्रम अधिक उत्पादक होने लगा। पहले के यन्त्र ऐसे थे जो शरीर श्रम को इस योग्य बना देते थे कि अधिक से अधिक उत्पादन सम्भव हो सके। वे यन्त्र मानव शक्ति से ही सञ्चालित होते थे। फिर दूसरा युग आया, जब मनुष्य ने उन यन्त्रों का प्रयोग पशुबल से करना शुरू किया। उससे उसकी थकावट कम होती थी और अधिक घण्टे काम कर सकता था तथा अधिक उत्पादन कर सकता था। फिर तीसरी स्थिति आयी जिसमें मनुष्य ने ऐसे यन्त्र बनाये जो भाप की शक्ति से चल सकते थे। उसमें मनुष्य का शरीर श्रम तो लगता है लेकिन उतना अवसाद और थकावट उसमें नहीं है। उत्पादन मात्रा में वृद्धि हो गयी। चौथी स्थिति तब प्रारम्भ होती जब मनुष्य ने कोयले एवं तेल की शक्तियों से सञ्चालित ऐसे यन्त्रों का आविष्कार किया जिनमें मनुष्य की आवश्यकता कम होने लगी। इसका नाम अभिनवीकरण दिया गया। इस स्थिति में मनुष्य का श्रम तो लगता था लेकिन कम, साथ ही साथ कम थकावट से उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है। पांचवीं स्थिति में स्वयंचालित मशीनों का युग आया जो बिजली की शक्ति से यन्त्रों का संचालन करता है। इसमें मानव श्रम बहुत कम लगता है। बहुत कम मनुष्य और प्रायः बहुत कम श्रम से काम होने लगता है। सारा कार्य बिजली की मशीन से होने लगा है। ये पाँच परिस्थितियाँ हैं।

जब हम इन परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं तो दो तथ्य हमारे सामने स्पष्ट रूप से आते हैं। शरीर श्रम की अनिवार्यता; क्योंकि मनुष्य उत्पादन के कार्यों में भले ही अपने शरीर श्रम का कम इस्तेमाल करे परन्तु इन मशीनों के निर्माण में कच्चे माल की प्राप्ति में और उन्हें पक्का माल बनाने में और उन्हें मशीन का रूप देने में मनुष्य का शारीरिक श्रम एवं

कठोर श्रम अनिवार्य होता है। फिर उन मशीनों के प्रयोग के लिए जो स्थान बनाने पड़ते हैं उन सब में मानव का कठोर श्रम लगता है। बिना इसके यह सब सम्भव नहीं। इसलिए आज की विद्युत से स्वचालित यन्त्रों को हम यह नहीं मान सकते हैं कि बिना शरीर श्रम के ये सारे कार्य सम्भव है।

दूसरा तर्क यह भी हमें समझना चाहिए कि इन पाँचो परिस्थितियों में जो शारीरिक श्रम का पुरस्कार था उसमें परिवर्तन इस रूप में हो रहा है कि पहले की स्थितियों में कार्य का पूरा पुरस्कार शारीरिक श्रम करने वाले को ही प्राप्त होता था, क्योंकि अपने शरीर एवं बुद्धि से वह उत्पादन के सभी यन्त्रों का आविष्कारक एवं स्वामी और प्रयोगकर्ता भी था। शरीर श्रम एवं बौद्धिक श्रम में कोई विशेषीकरण का भेद न था। आगे चलकर वैज्ञानिक प्रगति के कारण वैज्ञानिक आविष्कर्ता, इन्जीनियर आदि विशेषज्ञों की एक दिशा हुई और शरीर श्रम करनेवाले की दूसरी दिशा हुई। जब यह भेद बढ़ा तब बुद्धि व शरीर के पुरस्कार में द्वन्द्व खड़ा हुआ। बौद्धिक श्रम करनेवाले तकनीकज्ञ और शरीर श्रम करने वाले का अन्तर आया। परन्तु यह पुरस्कार का अन्तर शारीरिक श्रम एवं बौद्धिक श्रम की कसौटी, शरीर श्रम से बनायी हुयी मशीन के ढाँचे और उसमें लाई गई गति, कार्यक्षमता के तरीके का ही भेद रहा है। दोनों इन्जीनियर और श्रमिक मशीन के स्थूल काय एवं मशीन की गति की भाँति एक दूसरे से गुँथे हैं। मजदूर शरीरमूलक बुद्धिनिष्ठ श्रम करता है। इन्जीनियर बुद्धि मूलक शरीर निष्ठ श्रम करता है। इसलिए इनदोनों के पारिश्रमिक में विशेष अन्तर पाया जाना उतना अन्तर्विरोध का परिचायक नहीं है जितना व्यवस्था के नाम पर सामान्य कार्य करने वाले बाबू, सुपरवाइजर, मैनेजर देखरेख करनेवाले का है। आज इस अर्थव्यवस्था में और अन्य व्यवस्थाओं में जो गतिरोध है उसका प्रमुख उपकरण बौद्धिक श्रम है। इन दोनों पुरस्कारों में जो इतनी विषमता है वह अनुचित है। इससे एक सामाजिक मूल्य क्षीण हो रहा है जिसमें शरीर श्रम करनेवाले उत्पादक वर्ग किसान एवं मजदूर को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। आज इन दोनों वर्गों को समाज में प्रतिष्ठा नहीं है। इस अप्रतिष्ठा का प्रमुख कारण यही है कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग का उन्हें पूरा अधिकार नही है। इसीलिए आज की प्रतिष्ठा का पैमाना उपभोक्ता बन गया है। जो जितना ही अधिक

उपभोग करता है उसे उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। जब समाज उपभोक्ता प्रधान होता है तो उसमें आय के वितरण की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं विलासितामय बनाती है। इस उपभोग प्रधान समाज के लिए जरूरी है कि उसके पास क्रयशक्ति अधिक से अधिक हो। दूसरे शब्दों में वह उत्पादन के अधिक से अधिक भाग का स्वामी बने, साथ ही साथ उसे कम से कम शारीरिक श्रम करना पड़े। ये दोनों प्रवृत्तियाँ बौद्धिक श्रम के लिए अधिक पुरस्कार की योजना प्रदान करती हैं। इस स्थिति में शरीर श्रम की अवहेलना होती है जब कि न्यायपूर्ण समाज में ऐसा नहीं होना चाहिए।

शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम के नाम से जो विषमता आज समाज में व्याप्त है उसका सबसे बड़ा कारण चातुर्यगीरीवाला बौद्धिक श्रम है। दूसरे शब्दों में उत्पादन में व्यवस्था के नाम पर जो तथाकथित बौद्धिक श्रम प्रयोग में आता है, जैसा पहले बताया गया है कि इसके अन्तर्गत कार्यालयी व्यवस्था, निरीक्षण की व्यवस्था, विज्ञापन की व्यवस्था, बाजार की व्यवस्था आदि हैं। इसका यह परिणाम हुआ कि शारीरिक श्रम अप्रतिष्ठित और बौद्धिक श्रम प्रतिष्ठित होने लगा। समाज में आलस्य, काम न करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। ऐसे कार्य जो अनुत्पादक हैं उनमें कार्यक्षमता जोड़कर समाज ने मान्यता प्रदान की है। इसी को सफेद पोश कार्य कहते हैं। यह मनुष्य को उत्पादन मूलक स्थिति से उपभोक्ता मूलक स्थिति में ले जाता है। इससे स्पष्ट रूप से दो वर्ग (१) श्रमजीवी (२) बुद्धिजीवियों का होना है। यह निर्विवाद है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिए श्रम एवं बुद्धि दोनों आवश्यक हैं। प्रकृति ने इन दोनों शक्तियों को कम या अधिक रूप में सबको दिया है। ऐसी स्थिति में दोनों में यह दुराव प्रतिष्ठा एवं तिरस्कार के रूप में अस्वाभाविक है। व्यवस्था या बुद्धिजीवी, उत्पादन कार्य में सहायक हो सकता है। उत्पादन में प्रमुख स्थान शारीरिक श्रम का होता है। अतः प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार भी श्रम जीवी को ही मिलना चाहिए। आज समाज में दाम एवं नाम अर्थात पुरस्कार एवं प्रतिष्ठा श्रम के साथ जितनी मात्रा में जुड़ेंगे उतनी ही मात्रा में उत्पादन तथा उत्पादकशक्ति का विकास होगा। इसीलिए समाज में पुरस्कार के या उत्पादित आय के वितरण के लिए एक ही कसौटी होनी चाहिए, अर्थात् श्रम की

अधिकतम पुरस्कार मिले जो शरीर से उत्पादक कार्य करने में प्रमुख रूप से सहायक हो।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप से शरीर श्रम को प्रतिष्ठा प्रदान कर समाज में उत्पादक की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहती है। निःसन्देह बौद्धिक श्रम आवश्यक है परन्तु यह अनिवार्य रूप से प्रमुख स्थान नहीं ले सकता है। अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं में बहुत अधिक प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार बुद्धिवादी को दिया गया, इससे श्रमिक का शोषण प्रारम्भ हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तकनीकी विकास के साथ साथ श्रमिकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ा है और तकनीकी प्रयोग से श्रमिकों की कार्यक्षमता एवं उत्पादकता भी बढ़ी है और पहले की अपेक्षा उनके पुरस्कार में भी वृद्धि हुई है, रहन सहन भी ऊँचा हुआ है। यहाँ तक कि साम्यवादी देशों में उनकी तानाशाही भी कायम हुई है। यह सब होते हुए भी बौद्धिक श्रम के पुरस्कार की अपेक्षा उन्हें कम पुरस्कार एवं सुविधायें प्राप्त हैं। उनका जीवन स्तर बौद्धिक श्रम करने वालों की अपेक्षा कम ऊँचा उठा है। उनके लिए काम (उद्यम) की सम्भावनाओं में कम वृद्धि हुई है। सबसे बड़ी घातक बात यह हुई है कि उनकी प्रतिष्ठा गिरी है। उनका कार्य हेय समझा जाने लगा है। जब किसी समाज में कोई काम हेय समझा जाता है तब स्वाभाविक है कि समाज में आय एवं सुविधायें उसे कम से कम प्राप्त होती हैं। शारीरिक श्रम के द्वारा ही, पृथ्वी से खनिज पदार्थ आदि की प्राप्ति होती है। इन सब कार्यों में सबसे बड़ा हाथ शारीरिक श्रम का होता है। पुनः उत्पादन की प्रक्रिया बाजार की प्रक्रिया तथा उपभोक्ता तक पहुँचाने में भी ऐसे अनेक कार्य हैं जिनमें शारीरिक श्रम के बिना कुछ सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में सामाजिक मूल्य को शारीरिक श्रम के विरोध में रखना घोर अपराध कहा जा सकता है। आज जब पुरस्कार द्वारा कार्य की प्रतिष्ठा होती है और उसी के द्वारा उत्पादन कार्य को प्रेरणा मिलती है, ऐसी स्थिति में शारीरिक श्रम को अधिकतम पुरस्कार बहुत ही जरूरी है। मार्क्स ने दूर तक सोच कर सभी वस्तुओं के उत्पादन का स्वामित्व; मूल्य का कारण शरीर श्रम करने वाले मजदूर को माना। लेकिन यह सब होते हुए भी मजदूर शब्द घृणास्पद ही बना रहा। मजदूर या शरीर श्रम को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिली। सर्वोदय अर्थव्यवस्था ने इसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान किया है, न केवल पुरस्कार ही बढ़ा बल्कि शारीरिक श्रम करना

प्रत्येक व्यक्ति का पवित्रतम कार्य बन कर दिनचर्या में दाखिल कर लिया गया। इसीलिए इस अर्थव्यवस्था ने पुरस्कार के साथ-साथ श्रम की प्रतिष्ठा भी प्रदान की है। इसलिए यह निर्विवाद है कि शारीरिक श्रम का पुरस्कार एवं उसकी प्रतिष्ठा बौद्धिक श्रम से अधिक होनी चाहिए।

आज का समाज चाहे उसका आधार पूँजीवादी हो चाहे साम्यवादी दोनों में इस बात की मान्यता है कि काम करनेवाले से अधिक, काम कराने की व्यवस्था करनेवाले को अधिकार, प्रतिष्ठा और पुरस्कार दिया जाता है। इसके पीछे मूलभूत कारण क्या हैं इसे समझना आवश्यक है। पूँजीवादी व्यवस्था में दो विरोधी स्वार्थ दिखाई देते हैं, एक पूँजी का दूसरा श्रम का। पूँजी का निर्माण भी श्रम से ही होता है, इसमें किसी का विरोध नहीं है। हाँ! यह विवादग्रस्त अवश्य है कि उसका निर्माण किस प्रकार से होता है। मार्क्स ने जो पद्धति हमारे समक्ष रखी है उसमें सहमति एवं असहमति हो सकती है, परन्तु इसमें तो कोई विरोध नहीं है कि श्रम से ही पूँजी का निर्माण होता है। इसीलिए एक भय, मन में रहता है कि जो श्रम, निर्माता है, उसको यदि गौरव मिल जाता है या उसको भान हो जाता है तो अवश्य अपने अधिकारों की माँग बढ़ कर सकता है। इसीलिए सामाजिक और राजकीय स्वीकृति प्राप्त जो साधनों का स्वामी है जिसे हम पूँजीपति कहते हैं, वह अपने और श्रमिक के बीच एक तथाकथित बुद्धिजीवियों को खड़ा कर देता है और व्यवस्था के नाम पर उन्हें अधिक प्रतिष्ठा, सुविधा आदि देता है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार यह होता है कि श्रमिक सीधे इन बुद्धिजीवियों से टकराता है और साथ ही साथ ये व्यवस्थापक ऊँची दीवार बनकर उनके सामने इस प्रकार खड़े होते हैं कि पूँजीपति ओझल हो जाता है और सीधे लड़ाई श्रमिक और व्यवस्थापकों की होती है। पूँजीपति प्रत्यक्ष रूप से मजदूरों के सामने नहीं आता। वह तो इन व्यवस्थापकों के पीछे अपनी सार्थकता की पुष्टि करता है। कार्लमार्क्स ने इन व्यवस्थापकों और बुद्धिजीवियों के रूप को दूसरे ही ढंग से व्यक्त किया है। परन्तु यहाँ शरीरश्रम करनेवाला श्रमिक इस बात का दुर्भाग्य ही मानता है कि उसने शिक्षा-दीक्षा नहीं प्राप्त की इसीलिए उसे अप्रतिष्ठा, न्यून पुरस्कार मिल रहा है। उसे यदि शरीरश्रम से छुटकारा पाना है तो उसे बुद्धिजीवियों की श्रेणी में पढ़-लिख कर आना चाहिए। इसलिए उसके मन में भी एकहीन भावना आती है

और इस हीन भावना से वह अपने अधिकार के ज्ञान से च्युत हो जाता है और भाग्य को कोसता तथा शरीरश्रम से घृणा करता है। साथ ही साथ यह मान लेता है कि शरीरश्रम निम्नतम कार्य है इसीलिए यह कम पुरस्कार उचित ही है, बुद्धिजीवियों का कार्य इससे श्रेष्ठ है; और यह हमारी कमजोरी है। ये मान्यतायें मजदूरों के मानस में घर कर लेती हैं और शरीरश्रम ऐसी उत्तम वस्तु भी घृणा का कारण बन जाती है। मजदूरों के अधिनायकवाद के नाम पर चलनेवाले साम्यवादी मजदूर राज्य में भी व्यवस्था का जाल बिछ जाता है।

वहाँ भी मजदूरों के राज्य के नाम से क्रान्ति होती है, उनको घोषणा-पत्रों में सम्मान मिलता है। परन्तु इस नाम पर राज्य तो चलता है मजदूरों के लिए और फिर मजदूरों पर राज्य के रूप में राज्य चलने लगता है। वहाँ पर पूँजीपति नहीं होते, परन्तु पूँजीपति के स्थान पर दल का डिक्टेटर और दल होता है, जो व्यवस्था के नाम पर कुछ व्यवस्थापकों की नियुक्ति कर देता है जो केवल बौद्धिक श्रम एवं क्षमता का नारा लगाते हैं और मजदूरों पर शासन करते हैं। उन्हें अधिक प्रतिष्ठा, अधिक आराम, अधिक पुरस्कार दिया जाता है। पूरा समाज मजदूरों का माना जाता है। लेकिन प्रतिष्ठा, सुविधा एवं पुरस्कार मजदूरों की अपेक्षा बुद्धिजीवियों को मिलते हैं। यह एक विडम्बना ही है। वहाँ भी कोई मजदूर बनना नहीं चाहता, व्यवस्थापक बनना चाहता है। वहाँ भी शरीरश्रम से घृणा का वातावरण उत्पन्न होता है।

इस प्रकार से शरीरश्रम के प्रति घृणा, शरीरश्रम से हीनता का भाव सार्वभौमिक रूप ले चुका है। परन्तु यह निर्विवाद है कि बिना इनके उत्पादन कभी भी सम्भव नहीं है। स्वयंचालित मशीनों के युग में भी आखिर इन स्वचालित मशीनों के बनाने, कच्चा माल प्राप्त करने आदि में तो शरीरश्रम जरूरी होगा ही। यदि शरीरश्रम की प्रतिष्ठा उठ जाती है तो क्या उत्पादन सम्भव होगा? यहीं पर यह प्रश्न खड़ा होता कि यह स्पष्ट है कि क्या बिना शरीरश्रम के कार्य सम्भव है? ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिए जो चीज सम्भव नहीं और जो इसलिए भी सम्भव नहीं कि बिना शरीरश्रम के यह शरीर का अस्तित्व ही नहीं रह सकता तो उसे उपेक्षित रखना, प्रतिष्ठा, सुविधा, एवं पुरस्कार से वंचित रखना समाज के लिए एवं मनुष्य के लिए घातक हो सकता है।

इसीलिए इस पर नये दृष्टिकोण एवं सही दृष्टिकोण से विचार करना जरूरी है। सवाल यह है कि यह नया दृष्टिकोण क्या हो ? क्या इसका उत्तर आज की कोई प्रचलित आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था दे रही है ? ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि इसका उत्तर इन दोनों प्रचलित पद्धतियों में नहीं है। यही कारण है कि आज दुनिया में सभी जगह अन्याय, शोषण, अभाव और अज्ञान छाया हुआ है। स्वार्थ, लोलुपता व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों आधारों पर प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी है। इसीलिए उस नये समाज की जिसमें मानव के लिए समता का जीवन साकार हो सके कोई विकल्प नहीं दिखाई देता, सिवाय इसके कि सर्वोदय दृष्टिकोण को अपनायें। इसमें शरीरश्रम हमारे जीवन में दिनचर्या बन जाता है और इसको सामाजिक प्रतिष्ठा पूर्णतया प्राप्त होती है। गांधी जी ने शरीरश्रम को श्रेष्ठता ही नहीं प्रदान की अपितु उसे मनुष्य के जीवन के लिए पवित्रतम कर्म और श्रेष्ठतम स्वरूप माना है। इसीलिए उसे समाज का नियामक, विधाता मानकर इसी को सबसे अधिक पुरस्कार का, सम्मान का, सुविधा का पात्र माना है।

गांधी-वचन

समाजवाद

समाजवाद तो हमारे देश की प्राचीन देन है। समाजवाद ही नहीं, साम्यवाद भी ईशोपनिषद् की देन है। समाजवाद सुन्दर शब्द है क्योंकि इसके अनुसार समाज के सभी सदस्य बराबर हैं—न कोई ऊँच न नीच। समाजवाद के सिद्धान्तानुसार राजा और किसान धनाढ्य और गरीब मालिक और नौकर सब समान स्तर के हैं। समाजवाद के नियमानुसार द्वैत है ही नहीं—सबमें एकता-भाव है। सच्चा समाजवाद वही हो जिसमें वाद न हो। मैं तो अपने आपको समाजवादी ही कहता हूँ। मुझे यह शब्द पसन्द है। पर मेरा समाजवाद वही नहीं है जिसका समाजवादी उपदेश दिये फिरते हैं। मैं प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण

में विश्वास करता हूँ। अहिंसा के द्वारा पूँजीपतियों में ट्रस्टीशिप की भावना भरी जा सकती है। मैं अहिंसक रूप में आर्थिक दबाव डाल कर उनके विचार बदल दूँगा। बिना राज्य के नियन्त्रण के भी राष्ट्रीयकरण इस तरह हो सकता है कि मजदूरों के फायदे के लिए भी मिल चलाई जा सकती है। समाजवाद के बारे में मेरा विचार है कि हम सब बराबर या समान रूप में पैदा हुए हैं और हमें समान अवसर प्राप्त होने चाहिए, परन्तु मैं इतना तो कहूँगा कि सभी व्यक्तियों में समानक्षमता नहीं होती। मैं सभी तरह के काम करने वालों में दर्जे की समानता लाना चाहता हूँ। अहिंसात्मक समानता की मुख्य चाबी है आर्थिक आजादी। आज जो जबरदस्त आर्थिक विषमता है, उससे तो रामराज्य नहीं हो सकता। मुट्ठीभर लोग धनाढ्य हों और समूह भूखों मरे, यह रामराज्य का द्योतक नहीं है। भारत की पूँजी थोड़े से लोगों में सीमित न रह कर सात लाख गाँवों में बँट जानी चाहिए।

समान वितरण का सच्चा अर्थ यही है कि हर व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक आवश्यकताओं की चीजें मिल जायँ इससे अधिक कुछ नहीं। जो अर्थव्यवस्था लोगों के नैतिक कल्याण को नष्ट करे वह पापपूर्ण है। यदि वाद के चक्कर में न पड़कर केवल समाज के हित के लिए काम किये जायँ तो वह सर्वोत्तम समाजवाद है।

गांधी जी के सपनों का भारत

गांधी जी की हृदय की पुकार होती है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि "भारत की हर चीज मुझे आकर्षित करती है। सर्वोच्च आकांक्षायें रखने वाले किसी व्यक्ति को अपने विकास के लिए जो कुछ चाहिए, वह सब उसे भारत में मिल सकता है।"[1]

"भारत अपने मूल स्वरूप में कर्मभूमि है, भोग भूमि नहीं"[2]

शारीरिक सुख सुविधाओं की सतत् खोज और उनकी संख्या में तेजी से हो रही वृद्धि ऐसा ही एक दोष है और मैं साहस पूर्वक यह घोषणा करता हूँ कि जिन सुख सुविधाओं के वे गुलाम बनते जा रहे

१—यंग इण्डिया—२१-२-२९
२— ,, ५-२-२५

हैं उनके बोझ से यदि उन्हें कुचल नहीं जाना है तो योरोपीय लोगों को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। सम्भव है यह मेरा निष्कर्ष गलत हो, लेकिन यह मैं निश्चय पूर्वक जानता हूँ कि भारत के लिए इस सुनहले मायामृग के पीछे दौड़ने का अर्थ आत्मनाश के सिवा और कुछ न होगा। हमें अपने हृदयों पर एक पाश्चात्य तत्व वेत्ता का यह बोधवाक्य अंकित कर लेना चाहिए—'सादा जीवन और उच्च चिन्तन।'[1]

मैं ऐसे संविधान की रचना करवाने का प्रयत्न करूँगा, जो भारत को हर तरह की गुलामी और परावलम्बन से मुक्त कर दे। ......मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है—जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्व है। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा जिसमें ऊँचे और नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा और जिसमें विविध सम्प्रदायों में पूरा मेल जोल होगा। ऐसे भारत में अस्पृश्यता या शराब और दूसरी नशीली चीजों के अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।.......न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे......यह है मेरे सपनों का भारत।........'[2]

स्वराज्य एक पवित्र शब्द है; वह एक वैदिक शब्द है जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्मसंयम है। वे ही नागरिक हों जिन्होंने अपने शारीरिक श्रम के द्वारा राज्य की कुछ सेवा की हो। मेरे...... हमारे.......सपनों के स्वराज्य में जाति या धर्म के भेदों का कोई स्थान नहीं हो सकता। उस पर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। वह स्वराज्य सबके लिए सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लँगड़े, अन्धे और भूख से मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनत कश मजदूर भी अवश्य आते हैं।

मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन, की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही तुम्हें सुलभ होनी चाहिए, इसमें फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता। लेकिन हमारा यह अर्थ नहीं कि हमारे पास उनके जैसे महल

१—यंग इंडिया—१०-४-३१
२— „ १०-९-३१

होने चाहिए। सुखी जीवन के लिए महलों की कोई आवश्यकता नहीं। हमें महलों में रख दिया जाये तो हम घबड़ा जायें। लेकिन तुम्हें जीवन की सामान्य सुविधायें अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है। मुझे इस बात में बिल्कुल भी सन्देह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जब तक वह तुम्हें ये सारी सुविधायें देने की पूरी व्यवस्था नहीं कर देता।

अपनी सम्पति का उपभोग इस तरह करो कि पड़ोसी की सम्पति को कोई हानि न पहुँचे।

अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता। सब लिख पढ़ सकते हैं। बीमारी और रोग कम से कम हो जायँ ऐसी व्यवस्था की जाती है। कोई कंगाल नहीं होता और मजदूरी करना चाहने वाले को काम अवश्य मिल जाता है। ऐसी शासन व्यवस्था में जुआ, शराब खोरी, और दुराचार को या वर्ग-विद्वेष को कोई स्थान नहीं होता। अमीर लोग अपने धन का उपभोग बुद्धिपूर्वक उपयोगी कार्यों में करेंगे, अपनी शान-शौकत बढ़ाने या शारीरिक सुखों की वृद्धि में उसका अपव्यय नहीं करेंगे। उसमें ऐसा नहीं हो सकता, होना नहीं चाहिए कि, चन्द अमीर तो रत्नजटित महलों में रहें और लाखों-करोड़ों ऐसी मनहूस झोपड़ियों में, जिनमें हवा और प्रकाश का प्रवेश न हो।

सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, जो हमें यह सिखा गए हैं कि 'सब भूमि गोपाल की है'।....... आधुनिक भाषा में गोपाल यानी जनता। पूँजीवाले से उनकी पूँजी हिंसापूर्वक छीनी जाय, इसके बजाय यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिए जायँ तो वही काम हो सकता है। चरखा हिंसक अपहरण की जगह ले सकने वाला अत्यन्त प्रभावकारी साधन है। जमीन और हमारी सम्पत्ति उसकी है जो उसके लिए काम करे। दुःख इस बात का है कि किसान और मजदूर या तो इस सरल सत्य को जानते नहीं है या यों कहें कि उन्हें इसे जानने नहीं दिया गया है।

हममें विदेशों के दान के बजाय हमारी धरती जो कुछ पैदा कर सकती हो उस पर ही अपना निर्वाह कर सकने की योग्यता और साहस होना चाहिए। अन्यथा हर एक स्वतन्त्र देश की तरह रहने के हकदार हम न होंगे। यही बात विदेशी विचारधाराओं के लिए भी लागू

होती है। मैं उन्हें उसी हद तक स्वीकार करूँगा जिस हद तक मैं उन्हें हजम कर सकता हूँ और उनमें परिस्थितियों के अनुरूप फर्क कर सकता हूँ। लेकिन मैं उनमें बह जाने से इन्कार करूँगा।

उद्योगवाद का अभिशाप—दुनिया में ऐसे विवेकी पुरुषों की संख्या लगातार बढ़ रही है, जो इस सभ्यता को—जिसके एक छोर पर तो भौतिक समृद्धि की कभी तृप्त न होनेवाली आकांक्षा है और दूसरे छोर पर उसके फलस्वरूप पैदा होने वाला युद्ध है—अविश्वास की निगाह से देखते हैं। पश्चिमी सभ्यता शहरी सभ्यता है। इङ्गलैण्ड, इटली, अमेरिका अपनी व्यवस्थाओं का शहरीकरण कर सकते हैं परन्तु भारत जैसे बड़े देश को जिसकी आबादी बहुत ज्यादा बड़ी है और ग्राम-जीवन की ऐसी पुरानी परम्परा में पोषित हुई है जो उसकी आवश्यकताओं को बराबर पूरा करवाती आयी है पश्चिमी नमूने की नकल करने की कोई जरूरत नहीं है।

बड़े पैमाने पर होने वाला सामूहिक उत्पादन ही दुनिया की मौजूदा संकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय कि यन्त्र मानव समाज की सारी आवश्यकतायें पूरी कर सकते हैं तो भी उसका यह परिणाम तो होगा ही कि उत्पादन कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित हो जायगा और इसलिए वितरण की योजना के लिए हमें द्राविड़ी प्राणायाम करना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि जिन क्षेत्रों में वस्तुओं की आवश्यकता है वहीं उनका उत्पादन हो और वहीं वितरण हो तो वितरण का नियन्त्रण अपने आप हो जाता है। उसमें धोखा-धड़ी के लिए कम गुञ्जाइश होती है और सट्टे के लिए तो बिल्कुल ही नहीं।

जब उत्पादन और उपभोग दोनों किसी सीमित क्षेत्र में होते हैं तो उत्पादन को अनिश्चित हद तक और किसी भी मूल्य पर बढ़ाने का लोभ फिर नहीं रह जाता। उस हालत में हमारी मौजूदा अर्थ-व्यवस्था से जो अनेक कठिनाईयाँ और समस्यायें पैदा होती हैं वे भी नहीं रह जायँगी।

यंत्रों का भी स्थान है—यंत्रों ने अपना स्थान भी प्राप्त कर लिया है। लेकिन मनुष्यों के लिए जिस प्रकार की मेहनत करना अनिवार्य होना चाहिए, उसी प्रकार की मेहनत का स्थान उन्हें ग्रहण न कर लेना चाहिए। घर में चलाने लायक यंत्रों में सुधार किए जायँ तो मैं उसका स्वागत करूँगा। लेकिन मैं यह भी समझता हूँ कि जब तक लाखों किसानों को उनके घर में कोई दूसरा धंधा करने के लिए न दिया

जाय, तब तक हाथ-मेहनत से चरखा चलाने के बदले किसी दूसरी शक्ति से कपड़े का कारखाना लगाना गुनाह है।

यंत्रों के ऊपर विजयसे चमत्कृत होने से मैं इन्कार करता हूँ और मारक यंत्रों के मैं एक दम खिलाफ हूँ, उसमें किसी तरह का समझौता स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन ऐसे सादे औजारों, साधनों या यंत्रों का, जो व्यक्ति की मेहनत बचायें और झोपड़ियों में रहने वाले लाखों-करोड़ों लोगों का बोझा कम करें, मैं जरूर स्वागत करूँगा।

हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में फैले हुए ग्राम वासी-रूपी करोड़ों जीवित यंत्रों के विरुद्ध इन जड़ यंत्रों को प्रतिद्वंद्विता में नहीं लाना चाहिए। यंत्रों का सदुपयोग तो यह कहा जायगा कि उससे मनुष्य के प्रयत्न को सहारा मिले और उसे वह आसान बना दे। यंत्रों के मौजूदा उपयोग का झुकाव तो इस ओर ही बढ़ाता जा रहा है कि कुछ इनेगिने लोगों के हाथ में खूब सम्पति पहुंचायी जाय और जिन करोड़ों स्त्री-पुरुषों के मुँह से रोटी छीन ली जाती है, उन बेचारों की जरा भी परवाह न की जाय।

बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा और बाजार की समस्यायें खड़ी होंगी त्यों-त्यों गाँवों का प्रकट या अप्रकट शोषण होगा। इसीलिए हमें अपनी शक्ति इसी प्रयत्न पर केन्द्रित करनी चाहिए कि गाँव स्वयं पूर्ण बनें और वस्तुओं का निर्माण और उत्पादन अपने उपयोग के लिए करें। यदि उत्पादन की यह पद्धति स्वीकार कर ली जाय तो फिर गाँव वाले ऐसे आधुनिक यंत्रों और औजारों का, जिन्हें वे बना सकते हों और जिनका उपयोग उन्हें आर्थिक दृष्टि से पुसा सकता हो, उपयोग खुशी से करें। उस पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अलबत्ता, उनका उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए नहीं होना चाहिए। मैं अधिक उत्पादन नहीं चाहता, बल्कि अधिक लोगों द्वारा उत्पादन चाहता हूँ।

मैं नहीं मानता कि औद्योगीकरण हर हालत में किसी भी देश के लिए जरूरी ही है। भारत के लिए तो वह उससे भी कम जरूरी है। मेरा विश्वास है कि आजाद भारत दुःख से कराहती हुई दुनिया के प्रति अपने कर्त्तव्य का ऋण, अपने गाँवों का विकास करके और दुनिया के

साथ मित्रता का व्यवहार करके और इस तरह सादा परन्तु उदात्त जीवन अपना कर, चुका सकता है।

लेकिन साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि कुछ प्रमुख उद्योग जरूर होने चाहिए। आराम कुर्सी वाले या हिंसा वाले समाज वाद में मेरा विश्वास नहीं है। इसलिए इन प्रमुख उद्योगों को गिनाये बिना ही मैं कह देता हूँ कि जहाँ कहीं भी लोगों को काफी बड़ी संख्या में मिल कर काम करना पड़ता है वहाँ मैं राज्य की मालिकी की हिमायत करूँगा। अमीरों से उनकी सम्पति बलपूर्वक नहीं छिनूँगा बल्कि उक्त उद्योगों पर राज्य की मालिकी कायम करने की प्रक्रिया में उनका सहयोग माँगूँगा। अमीर हों या कंगाल, समाज में कोई भी वर्ग अछूत या पतित नहीं हैं। अमीर और गरीब दोनों एक ही रोग के दो रूप हैं। यह सभ्यता स्वयं एक बड़ा भारी रोग है।

वर्गयुद्ध—मैं आम लोगों को यह नहीं सिखाता कि वे पूँजीपतियों को अपना दुश्मन मानें। मैं तो उन्हें यह सिखाता हूँ कि वे आपही अपने दुश्मन हैं। मेरे सपने के रामराज्य में राजा और रंक सबके अधिकार सुरक्षित होंगे। मैंने यह कभी नहीं कहा कि शोषकों और शोषितों में सहयोग होना चाहिए। जब तक शोषण और शोषण करने की इच्छा कायम है तब तक सहयोग नहीं हो सकता। पूँजीपति और जमींदार और जनता के हितों में कोई बुनियादी या अकाट्य विरोध नहीं हैं। हर प्रकार का शोषण, शोषित के सहयोग पर आधारित है, फिर वह सहयोग स्वेच्छा से दिया जाता हो, या लाचारी से। यदि लोग शोषक की आज्ञा न मानें तो शोषण हो ही नहीं सकता। जरूरत इस बात की नहीं है कि पूँजीपति और जमींदार खतम हो जायें, उनमें और आम लोगों में आज जो सम्बन्ध है उसे बदल कर ज्यादा स्वस्थ और शुद्ध सम्बन्ध बनाने की जरूरत है। मैं जमींदार का नाश नहीं करना चाहता लेकिन मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि जमींदार अनिवार्य है। मैं जमींदारों और दूसरे पूँजीपतियों का अहिंसा के द्वारा हृदय परिवर्तन करना चाहता हूँ, इसलिए वर्गयुद्ध भी अनिवार्यता मैं स्वीकार नहीं करता। जमीन पर मेहनत करने वाले किसान और मजदूर ज्यों ही अपनी ताकत पहिचान लेंगे त्यों ही जमींदारी की बुराई का बुरापन दूर हो जायगा। अगर ये लोग यह कह दें कि उन्हें सभ्य जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार अपने बच्चों के भोजन, वस्त्र,

शिक्षण आदि के लिए जब तक काफी मजदूरी नहीं दी जायगी, तब तक वे जमीन को जोतेंगे—बोयेंगे ही नहीं तो जमींदार बेचारा कर ही क्या सकता है? सच तो यह है कि मेहनत करने वाला जो कुछ पैदा करता है उसका मालिक वही है। अगर मेहनत करने वाले बुद्धि पूर्वक एक हो जायँ तो वे एक ऐसी ताकत बन जायँगे जिसका मुकावला कोई नहीं कर सकता।

ज्यों ही मजदूर वर्ग को अपनी ताकत का भान होगा और अपनी ताकत जानते हुए भी वह इमानदारी का व्यवहार करेगा त्यों ही अमीर लोग भी इमानदारी का व्यवहार करने लगेंगे। अमीर, धन को अपने पास मजदूरों की धरोहर के ही रूप में रखेंगे। कारण, श्रम धन से श्रेष्ठ है।

हड़ताल—जब तक मजदूर देश की राजनीतिक स्थिति को समझ न लें और सबकी भलाई के लिए काम करने को तैयार न हों तब तक मजदूरों का राजनीतिक उपयोग करना बहुत ही खतरनाक बात होगी। इसलिए सबसे बड़ी राजनीतिक सहायता मजदूर यही कर सकते हैं, कि वे अपनी स्थिति सुधार लें, अधिक जानकार हो जायँ, अपने अधिकारों का आग्रह रखें और जिस माल के तैयार करने में उनका इतना महत्वपूर्ण हाथ होता है उसके उचित उपयोग की भी मालिकों से माँग करें। मजदूर अपना दरजा बढ़ायें। अतः अभी तो हड़तालें मजदूरों की हालत के सीधे सुधार के लिए ही होनी चाहिए और जब उनमें देश भक्ति की भावना पैदा हो जाय, तब अपने तैयार किए हुए माल की कीमतों के नियन्त्रण के लिए भी हड़ताल की जा सकती है। सफल हड़ताल की निम्नलिखित शर्तें हों—

(१) हड़ताल का करण न्यायपूर्ण होना चाहिए।

(२) हड़तालियों में व्यावहारिक एक मत होना चाहिये।

(३) हड़ताल न करने वालों के विरुद्ध हिंसा काम में नहीं लेनी चाहिये।

(४) हड़तालियों में यह शक्ति होनी चाहिये कि संघ के कोष का अग्रिम लिये बिना वे हड़ताल के दिनों में अपना पालन-पोषण कर सकें। इसके लिए उन्हें किसी उपयोगी और उत्पादक अस्थायी धन्धे में लगाना चाहिए।

(५) जब हड़तालियों की जगह लेने के लिए दूसरे मजदूर काफी हों तो हड़ताल बेकार है तो त्याग पत्र ही उसका एक मात्र उपाय है।

जो हड़ताल माली हालत की बेहतरी के लिए की जाती है, उसमें कभी अन्तिम ध्येय के तौर पर राजनीतिक मकसद की मिलावट नहीं होनी चाहिए। ऐसा करने में राजनीतिक तरक्की कभी नहीं हो सकती, बल्कि होता यह है कि अक्सर हड़तालियों को ही इसका नतीजा भुगतना पड़ता है। राजनैतिक हड़तालों से गरीबों को दुःख झेलना पड़ता है। ऐसी हड़तालें तो तभी करना चाहिए जब इन्साफ कराने के दूसरे उचित सब साधन असफल साबित हो चुके हों। राजनीतिक हड़तालों की अपनी अलग जगह है और उनको आर्थिक हड़तालों के साथ न तो मिलाना चाहिए और न दोनों का आपस में वैसा कोई रिश्ता रखा जाना चाहिए।

मजदूर हिंसा का मार्ग न चुनें—योरोप में किसी को भी सन्तोष नहीं है। वहाँ मजदूर पूँजीपति का विश्वास नहीं करता और पूँजीपति को मजदूर में विश्वास नहीं है। पूँजी और श्रम में चल रहे संघर्ष के बारे में आम तौर पर यह कहा जाता है कि गलती अकसर पूँजीपतियों से ही होती है। लेकिन जब मजदूरों को अपनी ताकत का पूरा भान हो जायगा तब मैं जानता हूँ कि वे लोग पूँजीपतियों से भी ज्यादा अत्याचार कर सकते हैं। यदि मजदूर शुद्ध न्याय का आधार लेकर लड़ें और उसे पाने के लिए खुद कष्ट सहन करें तो वे अपनी हर कोशिश में न सिर्फ सफल होंगे बल्कि अपने मालिकों के हृदय परिवर्तन कर डालेंगे; उद्योगों का विकास करेंगे अन्त में मालिक और मजदूर, दोनों एक ही परिवार के सदस्यों की भांति रहने लगेंगे। मजदूरों की हालत सुधारने के लिए निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश हो :—

(१) श्रम का समय इतना ही होना चाहिए कि मजदूरों को आराम करने के लिए भी काफी समय बचा रहे।

(२) उन्हें अपने शिक्षण की सुविधायें मिलनी चाहिए।

(३) उनके बच्चों की आवश्यक शिक्षा के लिए तथा वस्त्र और पर्याप्त दूध के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) मजदूरों के लिए साफ सुथरे घर होने चाहिए।

(५) उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वे बुढ़ापे में अपने निर्वाह के लिए काफी रकम बचा सकें।

मालिक कमसे कम वेतन अधिक से अधिक काम, मजदूर कम से कम काम, अधिक से अधिक वेतन की इच्छा रखते हैं। यह वास्तव में शुद्ध सम्बन्ध नहीं हैं। यह सर्वत्र अनुभव रहा है कि सामान्यतः मालिक की तुलना में मजदूर लोग अपने कर्त्तव्य ज्यादा ईमानदारी के साथ और ज्यादा परिणामकारी ढंग से पूरे करते हैं। मजदूरों की साधन-सम्पत्ति सचमुच इतनी विशाल है कि पूँजीपतियों की उतनी कभी हो नहीं सकती। अगर मजदूर इस बात को पूरी तरह समझ लें कि पूंजी श्रम का सहारा पाये बिना कुछ नहीं कर सकती, तो उन्हें अपना उचित स्थान तुरन्त ही प्राप्त हो जायगा। दुर्भाग्यवश हमारा मन पूँजी की मोहिनी से मूढ़ हो गया है और हम यह मानने लगे हैं कि दुनिया में पूँजी ही सब कुछ है। इस मोहिनी के प्रभाव में हम एक बुनियादी सत्य को आसानी से नहीं समझ पाते कि मजदूरों के पास जो पूंजी और शक्ति है वह पूंजीपतियों के पास कभी हो ही नहीं सकती।

बेकारी का प्रश्न—जब तक एक भी सशक्त आदमी ऐसा हो जिसे काम न मिलता हो या भोजन न मिलता हो, तब तक आराम करने या भरपेट भोजन करने में शर्म महसूस होनी चाहिए।

ऐसे देश की कल्पना कीजिए जहाँ लोग प्रतिदिन औसतन पाँच ही घण्टे काम करते हों और वह भी स्वेच्छा से नहीं बल्कि परिस्थितियों की लाचारी के कारण, बस आपको भारत की सही तसवीर मिल जायगी। शहरी जीवन में पायी जानेवाली व्यस्त दौड़ादौड़ को या कारखानों के मजदूरों को शरीर को चूर कर देनेवाली थकावटों या चायबगानों में दिखाई पड़नेवाली गुलामी को दूर कर देना चाहिए। ये तो भारत की आबादी के समुद्र की कुछ बूँदें ही हैं। अगर कंकालमात्र रह गए भूखे भारतीयों की तसवीर देखनी हो तो उस ८० प्रतिशत आबादी की बात सोचनी चाहिए, जो अपने खेतों में काम करती है। जिसके पास साल में करीब चार महीने तक कोई धन्धा नहीं होता और इसलिए जो लगभग भुखमरी की जिन्दगी जीती है। यह उसकी सामान्य स्थिति है। इस विवश बेकारी में बार-बार पड़नेवाले अकाल काफी बड़ी वृद्धि करते हैं। हम दिन-दिन अधिकाधिक गरीब होते जा रहे हैं इसका कारण यह है कि हमने अपने सात लाख गाँवों की उपेक्षा की है। उन्हें कंगाल करके हम स्वयं कंगाल हो रहे हैं। हमारी बदौलत ये कंगाल हुए हैं। हमारे पास तमाम ऐश-आराम की चीजें हैं। मोटरें हैं, सोने के लिए गद्दे हैं

और अन्य सुविधायें हैं, परन्तु सच पूछा जाय तो हमको इनमें से एक भी चीज का अधिकार नहीं हैं।

हिन्दुस्तानी सभ्यता पश्चिमी सभ्यता से निराली है। जहाँ जमीन ज्यादा और लोग कम और जहाँ जमीन कम और लोग ज्यादा, उसमें तो फर्क होना ही चाहिए। मशीनें या कलें उन अमेरिकावालों के लिए जरूरी होंगी ही जहाँ लोग कम और काम ज्यादा है किन्तु हिन्दुस्तान जहाँ एक काम के लिए अनेक लोग खाली हैं, मशीनरी की जरूरत नहीं और न इस प्रकार भूखों मारकर समय बचाना ही ठीक है। बहुत से अर्थशास्त्रज्ञ ऐसा मानते हैं कि आबादी बढ़ गई है और भरण-पोषण के लिए जमीन बहुत कम है। परन्तु मैं इसे नहीं मानता। हम यदि उद्योग करें तो दूना पैदा कर सकते हैं। हम सच्चा उद्योग करें। देहातियों के साथ सम्पर्क बढ़ावें। उनके सच्चे सेवक बनें। हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे उद्योगों से करोड़ों रुपये का धन पैदा कर सकते हैं। उसमें पैसे की विशेष आवश्यकता नहीं, जरूरत है लोगों की मेहनत की। घरों में आटा पीस लेने से दो फायदे हैं पहला तो शुद्ध शक्तियुक्त भोजन खाने को मिलता है जिससे हम दीर्घजीवी हो सकते हैं और दूसरे उस बहाने हमारी बहिनों का व्यायाम हो जाता है जिससे वे स्वास्थ्य लाभ करती हैं। धन भी बचे और स्वास्थ्य लाभ भी हो। आमके आम और गुठली के दाम भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार चावल, तेल, गुड़ के साथ भी हमें करना चाहिए। हाथ का कुटा चावल, घानी का तेल गुड़ का प्रयोग स्वास्थ्यवर्धक है तथा हमारा काम भी बढ़ाता है। मधु-मक्खी पालन करें अपने मलमूत्र को खाद में परिवर्तित करें। यदि यह कार्य केवल चन्द लोग ही करें और बाकी उन पर निर्भर रहें तो वे अवश्य भूखे मरेंगे। किन्तु यदि मिलकर करेंगे तो करोड़ों रुपयों का फायदा हो सकता है।

पश्चिम के बेकार मजदूर को गरम कपड़ा, जूते, मोजे, सब चाहिए परन्तु गर्म देश के लिए ये चीजें उतनी जरूरी नहीं हैं। देश में भयानक गरीबी और बेकारी देखकर मुझे रोना आता है। इसके लिए हमारी अपनी उपेक्षा और अज्ञान ही जिम्मेदार है। शरीर श्रम करने में जो गौरव है उसे हम नहीं जानते। ईश्वर ने हर एक को काम करने की और अपनी रोज की रोटी से ज्यादा कमाने की क्षमता दी है। ईमान की कमाई करने की इच्छा रखनेवाले को चाहिए कि वह किसी भी काम को

नीचा न माने। जरूरत इस बात की है कि ईश्वर ने हमें जो हाथ-पाँव दिए हैं, हम उनका उपयोग करने के लिए तैयार रहें।

मजदूर का कौशल ही उसकी ऊँची पूंजी है। जिस प्रकार पूंजीपति अपनी पूंजी को मजदूरों के सहयोग के बिना फलप्रद नहीं बना सकता, उसी तरह मजदूर भी अपनी मेहनत को पूँजी के सहयोग के बिना फलप्रद नहीं बना सकते। इसलिए इन्हें एक दूसरे को वैसा ही समान आदर देना चाहिए। मजदूर अपना संगठन करें, अपनी बुद्धि का विकास करें, एक से अधिक धन्धों में निपुणता प्राप्त करें, ज्यों ही वे ऐसा करेंगे, त्यों ही अपना सिर ऊँचा रखकर चलने में समर्थ हो जायेंगे और अपनी जीविका के बारे में फिर उन्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

दरिद्र नारायण—का अर्थ है गरीबों का या गरीबों के हृदय में प्रकट होनेवाला ईश्वर। गरीबों के लिए रोटी ही अध्यात्म है भूख से पीड़ित उन लाखों करोड़ों लोगों पर किसी और चीज का प्रभाव पड़ ही नहीं सकता। लेकिन उनके पास आप रोटी लेकर जाइए वे आपको ही भगवान् की तरह पूजेंगे। जिन लाखों लोगों को दो जून खाने को भी नसीब नहीं होता उनसे मैं ईश्वर की बात कैसे कहूँ? उनके सामने तो ईश्वर रोटी और मक्खन के रूप में ही प्रकट हो सकता है। भारत के किसानों को रोटी अपनी जमीन से मिल रही थी। मैंने उन्हें चरखा दिया ताकि उन्हें थोड़ा मक्खन भी मिल सके। आज यहाँ मैं लँगोटी पहिनकर आया हूँ तो इसका कारण यही है कि मैं उन लाखों आधे भूखे, आधे नंगे और भूखे मानव प्राणियों का एक मात्र प्रतिनिधि बनकर आया हूँ।

रोज की जरूरत जितना ही रोज पैदा करने का ईश्वर का नियम हम नहीं जानते, या जानते हुए भी उसे पालते नहीं। इसी से जगत् में असमानता और उसमें से पैदा होनेवाले दुःख हम भुगतते हैं। अमीरों के यहाँ बहुत-सी चीजें भरी पड़ी होती हैं, बिगड़ जाती हैं, खो जाती हैं जब कि उन्हीं चीजों की कमी के कारण करोड़ों लोग भटकते हैं, भूखों मरते हैं, ठंड से ठिठुर जाते हैं। सब अगर अपनी जरूरत की चीजों का ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न महसूस हो और सबको सन्तोष हो। करोड़पति अरबपति होना चाहता है और कंगाल करोड़पति। कंगाल को भरपेट प्राप्त हो यह समाज का फर्ज है। अगर अमीर अपना बहुत ज्यादा छोड़े तो कंगाल को अपनी जरूरत पूरी हो जाय और दोनों को सन्तोष हो। ज्यों ही हम परिग्रह घटाते हैं त्योंही हम सुखी होने लगते

है। जो चीज लाखों लोगों को नहीं मिल सकती उसे लेने से हम भी दृढ़तापूर्वक इनकार करें।

शरीर श्रम—महान् प्रकृति की इच्छा तो यही है कि हम अपनी रोटी पसीना बहा कर कमायें। इसलिये जो आदमी अपना एक मिनट भी बेकारी में बिताता है वह उस हद तक अपने पड़ोसियों पर बोझ बनता है। और ऐसा करना अहिंसा के बिल्कुल पहिले ही नियम का उल्लंघन करना है।

रोटी के लिए हर एक मनुष्य को मजदूरी करना चाहिए शरीर को झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है। टालस्टाय ने टी० एन० बोन्दरेव्हकी की इस बात को रोशन किया। भगवत गीता में भी है, यज्ञ किए बिना जो खाता है वह चोरी का अन्न खाता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ रोटी के लिए परिश्रम। बाईबिल में हैं—अपनी रोटी तू अपना पसीना बहा कर कमा और खा। सभी को अंगों की कसरत करनी पड़ती है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत क्यों न करें? अगर सब रोटी के लिए मजदूरी करें तो ऊँच नीच का भेद न रहे। खेती करे, बुनाई, कताई आदि करे। अपनी टट्टी खुद साफ करे और भूमि में गाड़ दे। सभी को अपने कर्म का पालन करना चाहिए। सभी का अधिकार कर्म में है फल में कदापि नहीं।

जीवन की आवश्यकताओं को पाने का हर एक आदमी को समान अधिकार है। हम अपने हाथ पाँव से मेहनत करें और जो हमें हमारी मेहनत के फल से वञ्चित करे उसके साथ हम असहयोग करें।

यदि सब लोग अपने ही परिश्रम की कमाई खायें तो दुनियाँ में अन्न की कमी न रहे और सबको अवकाश का काफी समय भी मिले। न कोई राव होगा और न कोई रंक, न कोई ऊँच होगा, न कोई नीच, न कोई बीमारी होगी, न कोई कष्ट तथा क्लेश। ऐसा करने पर हमारी आवश्यकतायें बहुत कम हो जायेंगी। तब हम जीने के लिए खायेंगे न कि खाने के लिए जीयेंगे। बुद्धि पूर्वक किया हुआ शरीर श्रम समाज सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

शरीर की आवश्यकतायें शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल बौद्धिक और मानसिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही संतोष के लिए है। उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगा जाना

चाहिए। आदर्श राज्य में डाक्टर, वकील आदि केवल समाज के लाभ के लिए काम करेंगे, अपने लिए नहीं।

देहात में लौट जाने का अर्थ यह है कि शरीर श्रम के धर्म को हम स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं। शरीर श्रम के नियम का विवश होकर पालन करने से दरिद्रता, रोग और असंतोष उत्पन्न होते हैं। यह दासत्व की दशा है। शरीर श्रम के नियम का स्वेच्छापूर्वक पालन करने से संतोष और स्वास्थ्य मिलता है। ग्रामोद्योग संघ स्वेच्छा पूर्ण शरीर श्रम का ही एक प्रयोग है। मुफ्त भोजन से राष्ट्र का पतन होता है, सुस्ती, बेकारी, दम्भ और अपराधों को प्रोत्साहन मिलता है। नियम यह होना चाहिए कि "मेहनत नहीं तो खाना भी नहीं।"

स्वस्थ व्यक्ति को कभी भी बिना मेहनत के भोजन नहीं देना चाहिए। अन्धे, लँगड़े, लूजे को राष्ट्र की ओर से भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए।

मनुष्य के शरीर को जैसे जैसे ज्यादा देते जायँ वैसे वैसे ज्यादा माँगता जाता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग की सीमा बाँधना उचित है। सुख दुःख तो मन के कारण हैं। अमीर अपनी अमीरी की वजह से सुखी नहीं है, गरीब अपनी गरीबी के कारण दुखी नहीं है। अमीरी दुखी तथा गरीब सुखी देखने में आता है। इसलिए हजारों वर्ष जो झोपड़े थे या हल थे उन्हें हमने कायम रखा। हमारे पूर्वजों ने यन्त्र वगैर के झंझट में पड़ना उचित न समझा क्योंकि उन्हें यह भय था कि वे इससे गुलाम बन जायँगे। हाथ पैर से जो काम हो सके वही वे करते रहे। हाथ पैर के इस्तेमाल करने में सच्चा सुख है, उसी में तन्दुरुस्ती है। शहर में लोग सुखी नहीं होंगे। उनमें धूर्तों की टोलियाँ, वेश्याओं की गलियाँ पैदा होंगी गरीब, अमीरों से लूटे जायँगे। इसीलिए उन्होंने गाँवों से ही संतोष माना। राजाओं से बढ़ कर सन्त फकीरों का सम्मान किया। राष्ट्र में वकील, डाक्टर तथा अदालतें थीं परन्तु उनमें लूट नहीं थी। आम प्रजा तो सबसे स्वतन्त्र रह कर अपने खेतों का मालिकी हक भोगती थी—खेती करके अपना निर्वाह करती थी। उसके पास सच्चा स्वराज्य था। भंगी तथा राजा के कार्य यदि आस्था से किए जायँ तो एक समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति 'सर्व भूत-हिताय' कार्य करेगा।

संरक्षकता का सिद्धान्त—(ट्रस्टीशिप)—जमींदार राजा-महाराजा अपने लाभ और सम्पत्ति के बावजूद उन लोगों के समकक्ष बन जायँ जो मेहनत करके रोटी कमाते हैं। प्रत्येक सम्पत्ति वाला यह समझे कि सब सम्पत्ति उसी की नहीं है बल्कि सारे राष्ट्र की है। राज्य, जिसका जन्म ही हिंसा की कोख से हुआ है, लोगों की सम्पत्ति लेने में हिंसा का प्रयोग अवश्य करेगा। लोग स्वेच्छा से ट्रस्टियों की तरह जब व्यवहार करने लगते हैं तो राज्य या हिंसा की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा व्यवहार लोग नहीं करते तो राज्य कम हिंसा का प्रयोग करके उनकी सम्पत्ति ले ले। राजकीय मालिकी कम से कम हो।

अहिंसक अर्थ व्यवस्था—हम सब एक तरह के चोर हैं। अगर मैं ऐसी चीज लेता और रखता हूँ जिसकी मुझे अपने किसी तात्कालिक उपयोग के लिए जरूरत नहीं है, तो मैं उसकी किसी दूसरे से चोरी ही करता हूँ। प्रकृति का यह बुनियादी नियम है कि वह रोज केवल उतना ही पैदा करती है जितना हमें चाहिए। यदि प्रत्येक आदमी जितना उसे चाहिए उतना ही ले, ज्यादा न ले, तो दुनिया में गरीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे। भारत में दिन में एक बार सूखी रोटी तथा नमक खाकर ही लोग रह जाते हैं। हमारे पास जो कुछ भी है उस पर हमें और आपको तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक हम लोगों के पास पहिनने के लिए कपड़ा और खाने के लिए अन्न नहीं हो जाता। हमें अपनी जरूरतों का नियमन करना चाहिए और स्वेच्छा पूर्वक अमुक अभाव भी सहना चाहिए जिससे उन गरीबों का पालन पोषण हो सके, उन्हें कपड़ा और अन्न मिल सके। अर्थशास्त्र और नीति विद्या में कोई भेद नहीं है। जिस अर्थविद्या से व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को हानि पहुँचती हो, उसे मैं अनैतिक और इसलिए पापपूर्ण कहूँगा जो अर्थविद्या किसी देश को दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देती है, वह अनैतिक है। जो मजदूरों को योग्य मेहनताना नहीं देते और उनके परिश्रम का शोषण करते हैं, उनसे वस्तु खरीदना या उन वस्तुओं का उपयोग करना पापपूर्ण है। भारत की नहीं बल्कि दुनियाँ की अर्थरचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहें। वे हर एक को बिना किसी बाधा के उसी तरह

उपलब्ध होने चाहिए, जिस तरह भगवान् की दी हुई हवा और पानी। किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाए जाने वाले व्यापार का वाहन न बनें। आज सभी जगह गरीबी का एक मात्र कारण यही है कि इस नियम का पालन नहीं हो रहा है। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को दुर्बलों का शोषण करके धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। मैं तो सबको समान दरजा देना चाहता हूँ। मैं बुनकर, किसान और शिक्षक के लड़कों में कोई भेद नहीं होने देना चाहता। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है, पूंजी और मजदूरी के बीच के झगड़ों को हमेंशा के लिए मिटा देना। मुट्टी भर पैसे वालों की सम्पति को कम करना और करोड़ों भूखे तथा नगों की सम्पति में वृद्धि करना। बड़े बड़े महल तथा झोपड़ियाँ एक साथ अब नहीं रह सकतीं।

आर्थिक समानता—के अर्थ हैं कि सबके पास इतनी सम्पति का होना कि जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकतायें पूरी कर सकें। अहिंसा के द्वारा आर्थिक समानता लाने का यही उपाय है कि लोग अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन करें। हिन्दुस्तानी गरीब प्रजा के साथ अपनी तुलना करके अपनी आवश्यकतायें कम करें। अपने धन कमाने की शक्ति को नियन्त्रण में रखें। सट्टे तथा लोभ की प्रवृत्ति त्यागें। जीवन को हर प्रकार से संयमी बनावें। अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के बाद जो बचे उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बनें। कोई धनवान् गरीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता।

किसान—धनिक वर्ग को निश्चित रूप से स्वीकार कर लेना होगा कि किसान के पास भी वैसी ही आत्मा है जैसी उनके पास है और अपनी दौलत के कारण वे गरीब से श्रेष्ठ नहीं है। किसानों के गन्दगी भरे वातावरण और कुचल डालने वाले दारिद्रय को दूर करना आवश्यक है। आदर्श जमींदार को किसान के लिए पाठशालायें खोलना, कुयें और तालाबों को ठीक कराना, उनके मकान की व्यवस्था कराना, सड़क बनवाना, खाद तथा मलमूत्र की व्यवस्था कराना चाहिए। पूँजीपति वर्ग ऐसा कार्य करता है तो सातलाख भारत के गाँव शीघ्र ही शान्ति, स्वास्थ्य और सुख के धाम बन सकते हैं। किसानों का स्थान पहला है। उनके परिश्रम से ही पृथ्वी फल-फूल युक्त और समृद्धि शील हुई है।

इसलिए सच कहा जाय तो जमीन उनकी ही है। किसानों में आपस में घनिष्ठ सहकार होना नितान्त आवश्यक है। भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की मजदूरी इस हद तक बढ़ाई जानी चाहिए कि वे सभ्यजनोचित जीवन की सुविधाएँ प्राप्त कर सकें। यानी, उन्हें संतुलित भोजन और आरोग्य की दृष्टि से जैसे चाहिए वैसे घर और कपड़े मिल सकें। किसान राष्ट्र की रीढ़ है।

गाँव की ओर—भारत सात लाख गाँवों में बसा हुआ है। परन्तु शहरवासियों ने आम तौर पर ग्रामवासियों का शोषण किया है। सच तो यह है कि वे गरीब ग्रामवासियों की ही मेहनत पर जीते हैं। अधिकांश आबादी भुखमरी की स्थिति में है। ग्रामवासियों को इस दीनता की स्थिति से रोज गुजरना पड़ता है। अतएव उनके लिए आहार में पोषकतत्व खोज कर देना है। पीने का पानी, साग सब्जी, फल फूल आदि की सरल ढंग से व्यवस्था कराई जा सकती है। इस प्रकार से वे समय, स्वास्थ्य और पैसे की किस प्रकार बचत कर सकते हैं यह उन्हें सिखाना है। उन्हें यह ज्ञान कराना है कि वे शुद्ध हवा से घिरे हैं, ताजे अन्न से घिरे हैं, ताजे फल तथा साग सब्जी से घिरे हैं, ताजे पानी से घिरे हैं, अतएव वे उसका ठीक से प्रयोग करें। भारत की गरीबी तब शुरू हुई, जब हमारे शहर विदेशी माल के बाजार बन गए और विदेशों का सस्ता और भद्दा माल गाँवों में भर भर उन्हें चूसने लगे।

हमें गाँवों को अपने चंगुल में जकड़ रखने वाली जिस त्रिविध बीमारी का इलाज करना है, वह इस प्रकार है—सार्वजनिक स्वच्छता की कमी (२) पर्याप्त और पोषक आहार की कमी। (३) ग्राम वासियों की जड़ता।

ग्राम स्वराज्य की—मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए—जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा—वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हर एक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा करले। प्रत्येक गाँव की अपनी एक नाटक शाला, पाठशाला और सभा भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना प्रबन्ध होगा।

बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक शिक्षा सबके लिए आवश्यक होगी। प्रत्येक वर्ग गाँव का शासन चलाने के लिए गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनी जायगी। देहात वालों में ऐसी कला और कारीगरी का विकास होना चाहिए जिससे बाहर उनकी पैदा की हुई चीजों की कीमत की जा सके। उद्योग हुनर, तन्दुरुस्ती और शिक्षा इन चारों का सुन्दर समन्वय करना चाहिए। नयी तालीम में इन चारों का सुन्दर समन्वय है। इन सबके मेल से माँ के पेट में आने के समय से लेकर बुढ़ापे तक का एक खूब सूरत फूल तैयार होता है। यही नयी तालीम है। गाँव इस प्रकार से अपना अनाज, साग-भाजियाँ और फल तथा खादी खुद पैदा कर लेगा। चरागाह, प्रकाश वाला मकान, स्वच्छता, पशु आदि की सुन्दर व्यवस्था होगी।

ग्रामोद्योगों का यदि लोप हो गया तो भारत के ७ लाख गाँवों का सर्वनाश ही समझिये। हमारे गाँवों में जो लाखों करोड़ों आदमी पड़े हैं उन्हें परिश्रम की चक्की से निकाल कर किस तरह छुट्टी दिलायी जाय, बल्कि प्रश्न यह है कि उन्हें साल में जो कुछ महीनों का समय यों ही बैठे बैठे आलस में बिताना पड़ता है उसका उपयोग कैसे किया जाय। इन मिलों ने अगर हजारों मजदूरों का धन्धा छीन कर उन्हें बेकार बना दिया है तो सस्ते से सस्ता मिल का कपड़ा गाँवों की बनी हुई मँहगी से मँहगी खादी से भी ज्यादा मँहगा है। जो ग्राम वासी अपनी जरूरत भर के लिए खुद खादी बना लेता है उसे महँगी नहीं पड़ती। चक्की के पिसे हुए गेहूँ के आटे और हाथ-कुटे चावल के पौष्टिक तथा जीवन प्रद तत्वों से देश वासियों को वञ्चित रखना एक प्रकार का पाप है। ग्राम वासियों के उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग धन्धों को वे अब तक किसी कदर करते चले आ रहे हैं, उन्हीं को भलीभाँति जीवित किया जाय। हमें अपनी रोजमर्रा की आवश्यकतायें गाँवों की बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहिए।

खादी हिन्दुस्तान की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता की प्रतीक है। खादी वृत्तिका अर्थ है, जीवन के लिए जरूरी चीजों की उत्पत्ति और उनके बँटवारे का विकेन्द्रीकरण। हम ऐसी राष्ट्रिय अभिरुचि का विकास करेंगे, जो गरीबी, भुखमरी, और आलस्य या बेकारी से मुक्त नये हिन्दुस्तान के आदर्श के साथ मेल खाती होगी। कूड़ा कचड़ा गाँवों में इकट्ठा कर

मुनहली खाद बना ली जाय। गाँव की खादी, हाथ का पीसा आटा, हाथ-कुटा चावल, गाँव के चमड़े का बना जूता, गाँव की घानी का तेल, गाँव का गुड़, गाँव का साबुन, गाँव की सारी वस्तुओं का प्रयोग और उत्पादन ही सच्चा ग्रामस्वराज्य है। सारे गाँवों को आदर्श रूप बनाने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया जाय—(१) आदर्श ग्राम आहार (२) ग्रामोद्योगों और यन्त्र उद्योगों की तुलना (३) पशुपालन की आदर्श शिक्षा (४) कला विभाग (५) ग्रामीण पाखाने का आदर्श नमूना (६) खेतों से मिलने वाले, पानी, कूड़ा-कचरा, गोबर के योग से बनने वाली खाद और रसायनिक खाद की तुलना (७) मवेशियों के चमड़े और उनकी हड्डियों आदि का उपयोग (८) ग्रामीण संगीत, वाद्य, नाटक खेल, शारीरिक व्यायाम, नयी तालीम, ग्रामीण दवाइयाँ, प्रसूति गृह आदि।

चरखे का संगीत—मैं जितनी बार चरखे पर सूत निकालता हूँ उतनी ही बार भारत के गरीबों का विचार करता हूँ। भूख की पीड़ा से व्यथित और पेट भरने के सिवा और कोई इच्छा न रखने वाले मनुष्य के लिए उसका पेट ही ईश्वर है। उसे जो रोटी देता है वही उसका मालिक है। चरखे पर मैं जो सूत निकालता हूँ उसके एक एक धागे में मुझे ईश्वर दिखाई देता है। करोड़ों को भूखों मरने से बचाना हो तो उन्हें इस योग्य बनाना पड़ेगा कि वे अपने घरों में फिर से कताई जारी कर सकें। भगवान् के नाम पर मैं गरीबों के लिए, गरीबों की तरह परिश्रम करूँ। चरखा दुनियाँ के धन का अधिक समानता पूर्ण बँटवारा सिद्ध करता है। चरखा राष्ट्र की समृद्धि का और इसलिए उसकी आजादी का चिन्ह है। ग्रामीणों को अगर फिर से अपनी स्थिति में वापस आना है तो सबसे स्वाभाविक बात जो सूझती है वह यह है कि चरखे और उसके साथ लगी हुई सब बातों का पुनरुद्धार करें। यह आसानी से रोजगार तथा धन देता है। करोड़ों की बचत करता है। सभी का बिना किसी पूँजी का सहारा है। आसानी से सीखा जाता है। सबमें सहयोग की भावना तथा अभिरुचि उत्पन्न करता है। सबका परिश्रम तथा पुरुषार्थ प्रकट होता है।

चरखा हर एक घर के लिए एक उपयोगी और आवश्यक उपकरण है। वह राष्ट्र के वैभव का और इसलिए स्वतन्त्रता का प्रतीक है। वह औद्योगिक संघर्ष का नहीं, बल्कि औद्योगिक शान्ति का प्रतीक है।

उसका संदेश संसार के राष्ट्रों के प्रति वैर का नहीं, बल्कि सद्भाव और स्वावलम्बन का है।

हर एक कृषि प्रधान देश को ऐसे एक पूरक उद्योग की जरूरत होती है, जिससे किसान अपने अवकाश के समय उपयोग कर सकें। भारत में यह पूरक उद्योग हमेशा कताई रहा है। इस उद्योग के नाश के फल-स्वरूप गुलामी और गरीबी आयी।

स्वदेशी के अर्थ हैं मुझे अपने पड़ोसियों द्वारा बनाई गई वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए और उन उद्योगों की कमियाँ दूर करके उन्हें ज्यादा सम्पूर्ण और सक्षम बना कर उनकी सेवा करनी चाहिए। अगर भारत में व्यापार की कोई भी वस्तु विदेशों से न लायी गयी होती तो हमारी भूमि में दूध और मधु की नदियाँ बहती होतीं। भारत अपने जीवन का उत्तम निर्वाह तभी कर सकता है जब वह—अपने प्रयत्न से या दूसरों की मदद लेकर—अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुयें अपनी ही सीमा में उत्पन्न करने लगे। उसे नाशकारी प्रतिस्पर्धा के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।। धर्म के अनुसार प्रत्येक भारत वासी को भारत में बने हुए कपड़े पहनना चाहिए और भारत में ही पैदा हुआ अन्न खाना चाहिए, तो फिर वे कोई दूसरे कपड़े पहनने या दूसरा अन्न खाने से इनकार कर देंगे। अपनी सम्पति का उपयोग हम इस तरह करें कि उससे पड़ोसी को कोई कष्ट न हो।

गोपालन—पशु धन की रक्षा के लिए सहकारी गोपालन आवश्यक है। इससे पशुओं के रहने के लिए अलग व्यवस्था हो सकेगी। पशुओं के बढ़े हुए बछड़े आदि की ठीक से देख रेख होगी। बीमारी में पशुओं की ठीक से दवा-दारू होगी। अच्छी नस्ल के साँड़ रखे जा सकेंगे। गोबर आदि की उचित व्यवस्था होगी। चारे की ठीक से समुचित व्यवस्था हो सकेगी। पशुओं से प्राप्त वस्तुओं का अच्छा दाम प्राप्त हो सकेगा। गोबर, कचरे, मलमूत्र आदि की उचित व्यवस्था होकर सुनहली खाद बन सकेगी।

गाँव की स्वच्छता—हमें देश में घूर जैसे गन्दे गाँव देखने को मिलते हैं। आँख मूँद कर, नाक दबा कर गन्दे गाँवों में जाना पड़ता है। जलाशयों, कुओं आदि के पानी को हम गन्दा करते हैं और पुनः उन्हीं को पीते हैं। उसी कारण बीमारियाँ हमें भोगनी पड़ती हैं। अतएव सभी की सफाई की जाय और सभी गन्दगी को मिलाकर

अच्छी खाद बना दी जाय। मनुष्यों के मलमूत्र को एकत्रित करके उसे खाद में बदल दिया जाय। लोग झाड़ू और टोकरे को भी गन्दगी दूर करने के लिए अपने हाथ में वैसे ही लें जैसे कलम और पेन्सिल को हाथ में लेते हैं। गृह वाटिका का रूप गाँव को दिया जाय। प्रकाश, हवा वाले मकान हों, आँगन हों, स्वच्छ जल हो, साग सब्जी के लिए घर के पास भूमि हो। पशुओं के लिए स्वस्थ व्यवस्था हो, उद्योग शाला हो। खाद आदि के लिए स्वच्छ गड्ढे हों।

प्राकृतिक औषधि की व्यवस्था हो। देहात में साग सब्जी, फल, दूध आदि पैदा करना कुदरती इलाज का खास अंग है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हममें ईश्वर पर श्रद्धा हो, सेवा की लगन हो, पाँच महाभूतों का कुछ परिचय हो, सही भोजन का ज्ञान हो। गाँव में प्राप्त कई तरह की जड़ी बूटियों और दवाइयों का अटूट भण्डार मौजूद है।

गाँव का आहार—हाथ कुटा चावल, गेहूँ का हाथ पिसा चोकर युक्त आटा, पौष्टिक पदार्थ युक्त गाँव का गुड़, कच्ची हरी पत्ती, पत्ता भाजी आदि गाँव वाले प्रतिदिन प्रयोग करें। सभी चीजों को आग पर पका कर खाने से उनके विटामिन नष्ट हो जाते हैं। उतना ही भोजन करें जितने से आपका मन और आपका शरीर अच्छी हालत में रहे और ठीक से काम कर सके। आदमी जैसा खाना खाता है वैसा ही बन जाता है। हवा, पानी, खाना सभी स्वच्छ हों। शराब तथा अन्य मादक द्रव्य का न तो उत्पादन हो और न उपयोग हो। यदि मुझे एक घण्टे के लिए भारत का डिक्टेटर बना दिया जाय तो मेरा पहला काम यह होगा कि शराब की दुकानों को बिना मुआवजा दिए बन्द करा दिया जाय और कारखानों के मालिकों को अपने मजदूरों के लिए मनुष्योचित परिस्थितियाँ करने तथा उनके हित में ऐसे उपहार गृह, और मनोरञ्जन गृह खोलने के लिए मजबूर किया जाय जहाँ मजदूरों को ताजगी देने वाले निर्दोष पेय और उतने ही निर्दोष मनोरञ्जन प्राप्त हो सकें। ताड़ गुड़ की मिश्री और शक्कर भी बनाई जा सकती है। बीड़ी सिगरेट न दिया जाय क्योंकि ये स्वास्थ्य को नष्ट कर देते हैं। उसी प्रकार शहरों की स्वच्छता की भी व्यवस्था हो।

सारे मलमूत्र खाद में परिवर्तित कर दिए जायें सफाई प्रत्येक मनुष्य का पवित्र कार्य बने।

गांधी जी का आखिरी वसीयत नामा—शहरों और कसबों से भिन्न उसके सात लाख गांवों की दृष्टि से हिन्दुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। गाँव वाले या गाँव वालों की जैसी मनोवृत्ति वाले पाँच वयस्क पुरुषों या स्त्रियों की बनी हुई हर एक पंचायत एक इकाई बनेगी। हर एक सेवक अपने हाथ कते सूत की या चरखा संघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा पहनने वाला और नशीली चीजों से दूर रहने वाला होना चाहिए। गाँव को इस प्रकार संगठित करना कि गाँव अपनी खेती, और गृह उद्योगों द्वारा स्वयं पूर्ण और स्वावलम्बी बनें। गाँव की सफाई और तन्दुरुस्ती की तालीम देना ताकि बीमारी व रोग न आ सकें। गाँव वालों को जन्म से मरने तक की शिक्षा की व्यवस्था हो। निम्नलिखित संस्थाओं को मान्यता प्राप्त होगी—(१) अखिल भारत चरखा संघ (२) अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ (३) हिन्दुस्तानी तालीमी संघ (४) हरिजन सेवक संघ (५) गो सेवा संघ आदि ये सब आर्थिक कार्य क्रम अन्य कार्य क्रमों के साथ गांधी जी ने दिया है।

———

विविध

गांधी वाद जैसी कोई चीज मेरे दिमाग में ही नहीं है। मैं कोई सम्प्रदाय प्रवर्तक नहीं हूँ। तत्त्वज्ञानी होने का तो मैं दावा ही नहीं करता। कई लोगों ने मुझसे कहा कि तुम गांधी विचार की एक स्मृति ही लिख डालो। मैंने कहा—स्मृतिकार कहाँ और मैं कहाँ! स्मृति बनाने का अधिकार मेरा नहीं है। जो होगा मेरी मृत्यु के बाद होगा। आपको यह स्वतन्त्र रूप से सोचना चाहिए कि "मैंने विचारों को दुरुस्त किया है या बिगाड़ा है। मैं हर रोज विकास की ओर जा रहा हूँ।" आपको देखना पड़ेगा कि यह विकास ठीक तरह से हो रहा है या नहीं।

हम सारे भारत को अपना परिवार क्यों न मानें! और दर असल तो सारी मनुष्य जाति हमारा परिवार है। क्या हम सब एक ही वृक्ष की शाखायें नहीं हैं? इससे अधिक उद्दात्त या अधिक राष्ट्रीय वस्तु की मैं कल्पना नहीं कर सकता कि हम सब रोज घण्टे भर वही परिश्रम करें जो गरीबों को करना पड़ता है।

जब तक एक भी सशक्त स्त्री या पुरुष बेकार या भूखा रहे तब तक हमें आराम या भर पेट भोजन करने में शरम आनी चाहिए।

यह तो मैं नहीं जानता कि मृत्यु का समय, स्थान और ढंग पहले से निश्चित होता है। मैं इतना ही जानता हूँ कि भगवान की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

———

उपसंहार

महात्मा गांधी जी को नैसर्गिक बुद्धि प्राप्त थी। पश्चिम के भौतिकवादी जीवन को उन्होंने देखा और भारत की आध्यात्मिक भूमि में उनका पालन पोषण हुआ इसलिये वे एक अद्वितीय पुरुष हुए। महात्मा की संज्ञा इस बात का द्योतक है कि उनमें महान गुण थे और एक उनकी अपनी विशाल दृष्टि थी। भारत जैसे राष्ट्र को उनके नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस स्वतन्त्रता के संरक्षण की भी उन्हें चिन्ता थी इसीलिये उन्होंने राज्य संचालन करने वाले सेवकों को प्रशिक्षण भी दिया। बृहस्पति, महर्षि शुक्राचार्य, वशिष्ठ, व्यास, विदुर, महर्षि नारद, समर्थ रामदास आदि गुरुओं की भाँति इस देश के कोने-कोने में लोक सेवकों का जाल बिछा दिया। भारत वर्ष ही नहीं विश्व के लोग भी उन्हें एक श्रद्धा, विश्वास और आशा भरी दृष्टि से देखते। भौतिकवादियों ने उन्हें आध्यात्मिक रूप में देखा और अध्यात्मवादियों ने उन्हें भौतिक रूप में देखा। प्रारम्भ से लेकर आज तक कुछ लोगों ने उन्हें ज्ञान मार्ग से देखने का प्रयास किया, कुछ लोग भक्ति मार्ग से उनके अनुरागी रहे। उनकी भौतिकता, उनका आध्यात्म, उनकी अहिंसा, उनके दरिद्रनारायण, उनके सत्य एक विशिष्ट भौतिक रूप हैं। इसीलिए उनके जितने भी कार्यक्रम हैं, जितने भी व्यवहार हैं, उनके पीछे बहुत बड़ा दर्शन है। उस दर्शन के रहस्य को जब हम समझते हैं तो उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। चर्चिल ने ठीक ही कहा था कि महात्मा गांधी एक नंगे फकीर के रूप में महान बड़े क्रान्तिकारी हैं।

चरखा उनकी क्रान्ति का द्योतक है, चरखा स्वराज्य की कुंजी है, चरखा लँगड़े की लाठी है, चरखा निर्धन स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने वाला किला है, चरखा अहिंसक स्वराज्य का प्रतीक है, चरखे में नीतिशास्त्र भरा है, अर्थशास्त्र भरा है और अहिंसा भरी है। स्वराज्य लेना है चरखा कातो, विश्वशान्ति लानी है चरखा कातो, हिन्दू मुस्लिम एकता लानी है चरखा कातो, अस्पृश्यता निवारण करना है चरखा

कातो, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना लानी है चरखा कातो, भगवान की प्राप्ति करनी है चरखा कातो। ये सब महात्मा गांधी के वाक्य कुछ अजीब से लगते हैं परन्तु इसके पीछे एक विशाल दर्शन छिपा है। इसीलिए विद्वानों ने उनके राजनैतिक दर्शन, सामाजिक दर्शन, धार्मिक दर्शन, सांस्कृतिक दर्शन आदि का निरूपण किया है। इस पुस्तक में उनके आर्थिक दर्शन के मूलाधार का विश्लेषण किया गया है। मानव के लिए जितने भी मानवीय दर्शन हो सकते हैं या मानव के कल्याण के लिए विज्ञान से लेकर आध्यात्म तक जितने भी कल्याण-कारी रूप हो सकते हैं सबका निरूपण गांधी जी ने किया है। भारतवर्ष की साधुमहात्माओं की परंपरा में इस बात को हम पाते हैं कि उनकी अपनी एक सधुक्कड़ी भाषा है। सन्त विनोबा भावे उसी सधुक्कड़ी भाषा में अपने सटीक विचार व्यक्त करते हैं। महात्मा जी भी अपने विचारों को इसी रूप से व्यक्त करते हैं। भूखे की रोटी में भगवान को देखना, दरिद्रनारायण की पूजा करना, सभी जीवों और सभी के जीवन यही नहीं अपितु सभी वस्तुओं को भगवान की विभूति मानना यह उनकी सन्त महात्माओं की परम्परा है। इसीलिये उनके आर्थिक दर्शन का विश्लेषण बहुत आवश्यक हो जाता है।

शरीर मन आरोग्य, सफाई घर गाँव की
प्रबन्ध खाद कूड़े का, व्यवस्था मल-मूत्र की
इसमें हैं, सभी तत्व अहिंसक स्वराज्य के।

ये वाक्य उनके आर्थिक दर्शन के परिचायक हैं। साम्यवाद की इस धूम में एक नया साम्योग का दर्शन उनके सर्वोदय दर्शन का स्तम्भ है। दुनिया के करोड़ों विपन्न, त्रस्त मनुष्य के ही वे मसीहा नहीं हैं बल्कि सम्पन्न श्रीमानों के भी वे पथप्रदर्शक हैं। यह उनका आर्थिक दर्शन है जो मानवमात्र के लिये ही नहीं बल्कि सृष्टि के प्रत्येक अणु के लिये हितकारी है।

शाश्वत मूल्यों के आधार पर अपने सर्वोदय दर्शन द्वारा एक सुखमय, शान्तिमय मानव समाज की उन्होंने परिकल्पना की है। मानव स्नेह के आधार पर एक कौटुम्बिक समाज की रचना उनका लक्ष्य है। "सर्वे भवन्तु सुखिना" यह उनका उद्देश्य है। समाज के अन्तिम विपन्न, दीन व्यक्ति को समाज के सम्पन्न, समृद्धशील व्यक्ति स्नेह से गले लगा ले

यह उनकी ट्रस्टीशिप की मीमांसा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी होकर परस्परावलम्बी कौटुम्बिक समाज का सदस्य बने। जीवनदायिनी वस्तुएँ जैसे अन्न और वस्त्र बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु न रह जाय। मानव-श्रम मनुष्य की आर्थिक आवश्यकता न होकर सांस्कृतिक आवश्यकता बन जाय। ये सब उनके आर्थिक दर्शन के स्पष्ट पहलू हैं।

मनुष्य को प्रकृति के सानिध्य में लाकर उसे सारे भौतिक, नैतिक, सांस्कृतिक गुणों से पूरित कर देना चाहिए। प्रकृति, मनुष्य, वनस्पतियों, पशु-पक्षी इनका अस्तित्व और संवर्धन एक दूसरे पर निर्भर हैं। यह आर्थिक विकास का ही नहीं पूर्ण मानव विकास का सिद्धान्त है। सभी समस्याओं का समग्र दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करना परम आवश्यक है। स्वस्थ मनुष्य, स्वस्थ समाज का लक्ष्य तभी पूरा होगा जब स्वस्थ साधनों का प्रयोग हो। हमारा भौतिक जीवन तभी सुखमय और सफल हो सकता है जब हम अपने व्यक्तिगत गुणों को सामाजिक गुण बनाकर अपने व्यक्तित्व को एकरूप देखते हैं तभी मानव समाज की प्रतिष्ठा बढ़ती है। दान के, सत्य के, अहिंसा के व्यक्तिगत गुण की गाथा दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र, अशोक आदि में हम पाते हैं। परन्तु ये गुण सामाजिक गुण न होने कारण व्यक्ति के तिरोहित हो जाने पर तिरोहित हो गये। गांधी जी ने इन व्यक्तिगत गुणों का सामाजीकरण कर दिया। अपरिग्रह, ट्रस्टीशिप, शारीरिक श्रम के गुण इस बात के द्योतक हैं कि समाज का शोषण या व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण नहीं हो सकता है। सम्पन्न की, त्याग की गरीबों से तादात्म्य की भावना प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्रतिदिन के व्यवहार और अभ्यास से उत्पन्न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को समाज के अन्तिम व्यक्ति के जीवन के साथ-साथ व्यतीत करने का प्रयास करे। इससे उसकी भोग की आकांक्षायें स्वतः सीमित हो जायेंगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर श्रम से उत्पादन करके तभी उपभोग का अधिकारी हो सकता है। इससे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर आश्रित होकर अपना जीवन नहीं चलायेगा, आलस्य और शोषण के लिए कोई स्थान नहीं होगा। मनुष्य दूसरों के लिये अपना जीवन रखेगा। यही हमारे आर्थिक जीवन में अहिंसा होगी। बिना उत्पादन के उपभोग करना आवश्यकता से अधिक उपभोग करना, दूसरों को भूखे रखकर उपभोग करना, दूसरों पर आश्रित रहना यही आर्थिक हिंसा है।

गांधी जी ने अहिंसक आर्थिक जीवन के लिए उत्पादन प्रक्रिया बनाये

का समावेश प्रत्येक के जीवन में किया है। ग्रामीण जीवन की श्रेष्ठता उत्पादक की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए माना है। मजदूर और किसान उत्पादक हैं इसलिये इन्हीं की प्रतिष्ठा गांधी जी ने सर्वोदय दर्शन में की है। यह एक सीधा संकेत है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्पादक शरीर श्रम अनिवार्य है और सादा जीवन उच्च विचार मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। अपनी रोटी में ही भगवान का रूप है। यही दरिद्रनारायण की सच्ची सेवा है। सभी श्रीमान् श्रमवान बन जायँ ताकि श्रमनिष्ठ समाज का निर्माण हो सके, अहिंसक समाज बन सके। यहाँ पर सर्वोदय का आर्थिक दर्शन पायखाने से लेकर परमात्मा तक का विश्लेषण मानवता के लिये करता है। सभी प्रकार की समता चाहे वह राजनैतिक हो, चाहे आर्थिक, चाहे सांस्कृतिक इस दर्शन में सभी को प्राप्त होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ सुविधायें प्राप्त होनी चाहिए।

आज के युग का सबसे प्रबल पथ प्रदर्शक 'विज्ञान' है। अबतक के दर्शन विज्ञान का प्रयोग हिंसा और भय के लिये या पूँजीपतियों ने विज्ञान का प्रयोग शोषण के लिए किया है। सत्ता, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा के हथियाने के लिये विज्ञान का प्रयोग होता रहा है। उसी का यह परिणाम है कि समाज में शोषण, भेद, भय, अपमान आदि का राज्य है। सर्वोदय दर्शन विज्ञान का प्रयोग सभी व्यक्तियों में स्नेह का, सहिष्णुता का, सद्भावना का प्रसार करने के लिये करता है। अद्वैत दर्शन के अनुसार सभी जीवों में एक ही आत्मा है। यह अध्यात्म कहता है। गांधी जी का आर्थिक दर्शन विज्ञान को अध्यात्म में मिलाकर यही कहता है कि विज्ञान की शक्ति सभी जीवों को उपलब्ध होनी चाहिए। गांधी जी उसी निष्ठा, उसी भक्ति, उसी तत्परता के साथ भौतिक जीवन और सामान्य व्यक्ति की ओर देखते हैं जिस निष्ठा और तत्परता के साथ भक्त भगवान की ओर देखता है। गांधी जी के आर्थिक दर्शन ने अध्यात्मज्ञान और विज्ञान को एक में मिला दिया है। इसीलिये उन्हें गरीब की रोटी में भगवान दिखलाई देते हैं। इसीलिये इस दर्शन ने यह माना है कि मनुष्य को केवल रोटी, केवल अध्यात्म नहीं चाहिए बल्कि अध्यात्म के साथ या भगवान के साथ रोटी भी चाहिए।

गांधी जी के इस आर्थिक दर्शन का विवेचन इसी दृष्टि से किया गया है कि मानव समाज का मानवीय जीवन किस प्रकार से व्यवहार में सफल हो सके। वे कोरे सिद्धान्त और कोरे आदर्शवाद जो अर्थशास्त्र

में या इस भौतिक जगत में व्याप्त हैं वे गांधी जी के आर्थिक दर्शन के साम्ययोग से बहुत ही सच्चे और व्यावहारिक हो जाते हैं। जो कुछ हम अपना आदर्श रखते हैं या कहते हैं, उसे अपने जीवन में तुरन्त प्रारम्भ कर सकते हैं। यह आर्थिक दर्शन पूर्णतया व्यावहारिक और सरल है। यदि हम मनुष्य हैं और जीव और जीवन के प्रति आदर रखते हैं तो निश्चित ही इस दर्शन को हम अपने जीवन में अपनायें। इसे अपनाने से ही हम पूर्ण मनुष्य बन सकते हैं। इसीलिए गांधी जी ने मानव जीवन से सम्बन्धित सभी पहलुओं, सभी समस्याओं पर व्यावहारिक सुझाव दिया है। यह साम्ययोग का दर्शन प्रत्येक पहलू से पूर्ण और व्यावहारिक है। मानव समाज के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा सुन्दर विकल्प नहीं है। साम्ययोगी समाज ही राम राज्य होगा "दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, राम राज्य काहू न व्यापा," की यह भावना इस दर्शन से साकार हो सकेगी। गरीबी की दुःखद स्थिति को देखकर गांधी जी करुणा से विह्वल हो उठते हैं और सारी मानव जाति को साम्ययोगी समाज के लिए पुकारते हैं। इसीलिए कार्लमार्क्स के दर्शन से आगे बढ़कर सर्वोदय दर्शन करुणा, सत्य, प्रेम और अहिंसा से प्रेरित होकर हमारे सम्मुख आता है। मानवीय दृष्टि होने के कारण इसका भौतिक स्वरूप इसमें ओझल हो जाता है। परन्तु उस मानवीय दर्शन में से मानवीय भौतिकता-स्वरूप समग्र नीतिमय भौतिकता बराबर झाँका करती है। यही गांधी जी के दर्शन का प्राण है।

गांधी वचन

(१) "खादी मजदूरों की सेवा करती है, मिल का कपड़ा उनका शोषण करता है।"

(२) "चरखे में नीतिशास्त्र भरा है, अर्थशास्त्र भरा है और अहिंसा भरी है।"

(३) "खादी ऐसा ग्रामोपयोगी उद्योग है, जैसा और कोई उद्योग न तो है, न हो सकता है।"

(४) "चरखा तो लँगड़े की लाठी है, सहारा है। निर्धन स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने वाला किला है।"

(५) "कातो समझ बूझकर कातो जो काते सो पहने, जो पहने सो काते।"

(६) "खादी मानवीय मूल्यों की प्रतीक है। जब कि मिल का कपड़ा केवल भौतिक मूल्य प्रकट करता है।"

(७) जो अर्थशास्त्र किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र के विकास अथवा कल्याण में रुकावट डालता है.......और जो एक देश को दूसरे देश में लूट चलाने की छूट देता है, वह अर्थशास्त्र अनीतिमय है, पापरूप है।

(८) हमारे गाँव पामाल हो गए हैं, क्योंकि हमें सच्चे अर्थशास्त्र और सच्चे समाजशास्त्र का ज्ञान नहीं है।

———

बापू का संदेश

पंछी लेकर आया मेरे बापू का संदेश,
उनके परों पर लिखा है कैसा अपना देश।
अब तो विदेशी लूट नहीं है,
घर की कोई फूट नहीं है।
छोटे बड़े का फर्क मिटा है,
प्रेम का सब पर रंग चढ़ा है।
चरखा अब भी चलता होगा,
घर-घर कपड़ा बनता होगा।
जोर बढ़ा होगा खादी का,
शोर मचा होगा खादी का।
खुश होगा शिवलाल जुलाहा,
गोपी और अनूप जुलाहा।
इन सब को प्रणाम हो देना,
मेरी तरफ से पूछ भी लेना।
उनकी अब तो बनती होगी,
चैन से खूब गुजरती होगी।
बच्चे सबके पढ़ते होंगे,
आपस में नहीं लड़ते होंगे।
हाथ उद्योग चलाने वाले,
हैं कैसे मेरे मतवाले।
बढ़ई रहमान, लोहार तिवारी,
पानी वाला बद्द गिरधारी।
सबका धंधा चलता होगा,
पेट मजे में पलता होगा।
रोजी खूब कमाते होंगे,
मक्खन रोटी खाते होंगे।
अब न कहीं होगी बेकारी,
मन तन की चिन्ता बेगारी।

मेरे किसान हैं प्यारे कैसे,
हलवाहे, बनहारे कैसे।
मिहनत खूब ही करते होंगे,
अन्न से देश को भरते होंगे।
देश उन्हीं का खाता-पीता,
इनके जीने से है जीता।
दान धनी का, हाथ उन्हीं का,
चाहिए देश को साथ उन्हीं का।
मुक्त हुई होगी अब धरती,
कैद रही भी है कब धरती।
धरती माता सबकी माता,
इनकी माता उनकी माता।

कैसे हैं मेरे अनुयायी,
मैंने गद्दी जिनको दिलवायी।
सेवा सबकी करते होंगे,
जनहित खातिर मरते होंगे।
रिश्वत और बेगार न होगी,
जुल्म न होगा, मार न होगी।

—:o:—

अध्ययन सामग्री

(१) गांधी जी—अहिंसक समाजवाद की ओर
(२) ,, —आर्थिक और औद्योगिक जीवन भाग १-२
(३) ,, —खादी क्यों और कैसे ?
(४) ,, —खुराक की कमी एवं खेती
(५) ,, —गाँव की मदद में
(६) ,, —ग्राम स्वराज्य
(७) ,, —पंचायत राज
(८) ,, —भारत की खुराक की समस्या
(९) ,, —मेरे सपनों का भारत
(१०) ,, —मेरा समाज वाद
(११) ,, —रचनात्मक कार्यक्रम
(१२) ,, —शरीर श्रम
(१३) ,, —संरक्षता का सिद्धान्त
(१४) ,, —सर्वोदय
(१५) ,, —सहकारी आन्दोलन
(१६) ,, —साम्यवाद एवं साम्यवादी
(१७) ,, —स्वेच्छा से स्वीकार की गयी गरीबी
(१८) ,, —हड़तालें
(१९) ,, —हमारे गाँव का पुनर्निर्माण
(२०) ,, —हिन्द स्वराज्य
(२१) ,, —धर्मनीति
(२२) ,, —ग्राम सेवा
(२३) ,, —रामनाम की महिमा
(२४) ,, —वर्ण व्यवस्था
(२५) ,, —अस्पृश्यता
(२६) ,, —अहिंसा का पहला प्रयोग
(२७) ,, —आरोग्य की कुंजी
(२८) ,, —आश्रम जीवन

(२६) गांधी जी—गांधी-विचार-सार
(३०) ,, —गीता बोध
(३१) ,, —दिल्ली डायरी
(३२) ,, —नयी तालीम की ओर
(३३) ,, —प्रजातन्त्र सच्चा एवं झूठा
(३४) ,, —बापू की कलम से
(३५) ,, —बापू के पत्र—१. आश्रम की बहनों को
(३६) ,, —बापू के पत्र—२. सरदार वल्लभ भाई के नाम
(३७) ,, —बापू के पत्र—३. कुसुम बहन देसाई के नाम
(३८) ,, —बापू के पत्र—४. मणि बहन पटेल के नाम
(३९) ,, —बापू के पत्र—५. कुमारी प्रेमा बहन कण्टक के नाम
(४०) ,, —बापू के पत्र—६. बीबी अमतुस्सलाम के नाम
(४१) ,, —बापू के पत्र मीरा के नाम
(४२) ,, —बुनियादी शिक्षा
(४३) ,, —मेरा धर्म
(४४) ,, —रचनात्मक कार्यक्रम
(४५) ,, —विद्यार्थियों से
(४६) ,, —शिक्षा की समस्या
(४७) ,, —संयम और सन्तति नियमन
(४८) ,, —सत्य के प्रयोग
(४९) ,, —सत्याग्रह आश्रम का इतिहास
(५०) ,, —स्त्रियाँ और उनकी समस्यायें
(५१) ,, —सुवर्ण दान
(५२) श्री जे० सी० कुमारप्पा—स्थायी समाज व्यवस्था
(५३) ,, ,, —गाँव आन्दोलन क्यों ?
(५४) ,, ,, —कर्म विज्ञान और अन्य प्रबन्ध
(५५) ,, ,, —गांधी अर्थ विचार
(५६) ,, ,, —मुद्रास्फीत—उसके कारण एवं उपचार
(५७) ,, ,, —गाँव के सुधार की एक योजना
(५८) ,, ,, —हिन्दुस्तान एवं ब्रिटेन का आर्थिक लेन-देन
(५९) श्री धीरेन्द्र मजूमदार—समग्र ग्राम सेवा की ओर (३ खण्डों में)
(६०) ,, ,, —बापू की खादी

(६१) श्री धीरेन्द्र मजूमदार—आजादी का खतरा
(६२) ,, ,, —बुनियादी शिक्षा पद्धति
(६३) ,, ,, —दण्ड निरपेक्ष समाज रचना।
(६४) ,, ,, —ग्राम भारती
(६५) ,, ,, —ग्राम राज
(६६) ,, ,, —नयी तालीम समाज का नवनिर्माण
(६७) ,, ,, —सर्वोदय आन्दोलन की समीक्षा
(६८) ,, ,, —शासन मुक्त समाज की ओर
(६९) ,, ,, —स्वराज्य की समस्या
(७०) ,, ,, —यह स्वराज्य कैसा !
(७१) ,, ,, —जमाने की मांग
(७२) श्री दादा धर्माधिकारी—सर्वोदय दर्शन
(७३) ,, ,, —अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया
(७४) ,, ,, —स्त्री-पुरुष सहजीवन
(७५) रिचर्ड बी० ग्रेग—आशा का एक मात्र मार्ग
(७६) श्री मशरूवाला—जड़मूल से क्रान्ति
(७७) ,, —गांधी और साम्यवाद
(७८) ,, —गांधी विचार दोहन
(७९) श्री गोपीनाथ धवन—सर्वोदय तत्व दर्शन
(८०) श्री प्यारे लाल—आधुनिक जगत में गांधीजी की कार्य पद्धतियाँ,
(८१) श्री मशरूवाला—भावी भारत की तस्वीर
(८२) श्री भारतन् कुमारप्पा—पूँजीवाद, समाज और ग्रामोद्योग
(८३) श्री अन्ना साहब—कोरापुट में ग्राम विकास
(८४) श्री जयप्रकाश नारायण—लोक स्वराज्य
(८५) ,, ,, —भारतीय राजनीति पर एक सुझाव
(८६) ,, ,, —देश की समस्यायें और समाधान
(८७) प्रो० राममूर्ति—गाँव का विद्रोह
(८८) सर्व सेवा संघ—सर्वोदय संयोजन
(८९) श्री आर० जी० अन्ना साहब—चरखा संघ का इतिहास
(९०) श्री जे० बी० कृपलानी—सामाजिक क्रान्ति और भूदान
(९१) श्री जे० बी० कृपलानी - वर्ग संघर्ष
(९२) प्रो० ठाकुरदास बंग—ग्राम स्वराज्य

(९३) प्रो० गोरा—ग्राम राज्य क्यों !
(९४) श्री कृष्णदत्त भट्ट—आर्थिक विचारधारा उदय से सर्वोदय तक
(९५) श्री कृष्णदास जाजू—संपत्तिदान
(९६) श्री मुरुफ वारात्ज—सहजीवी गांव : इजराइल का एक प्रयोग
(९७) आचार्य विनोबा भावे—लोक नीति
(९८) ,, ,, —भूदान गंगा, आठ खण्डों में
(९९) ,, ,, —ग्रामदान
(१००) ,, ,, —सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र
(१०१) ,, ,, —ग्रामाभिमुख खादी
(१०२) ,, ,, —सर्वोदय और साम्यवाद
(१०३) ,, ,, —सुलभ ग्रामदान
(१०४) ,, ,, —ग्राम पंचायत
(१०५) ,, ,, —सर्वोदय पात्र
(१०६) ,, ,, —सर्वोदय के आधार
(१०७) गाँधीजी—स्वदेशी
(१०८) श्री नरहरी द्वारका परीख—मानव अर्थशास्त्र
(१०९) श्री वसन्त व्यास—आंध्र में ग्रामदान
(११०) आचार्य विनोबा भावे—विज्ञान और अध्यात्म
(१११) टालस्टाय—यह कैसा अन्धेर

1 Jai Prakash Narayan Socialism to Sarvodaya
2 ,, Pyarelal The last phase (volume 1 and volume 2)
3 ,, T. M. Dutta The Philosophy of Mahatma Gandhi
4 D. G. Tendulkar—Mahatma [Volume (I) to (VIII)]
5 ,, Pyarelal—Early Phase (volume 1)
6 ,, Jai Prakash Narain—Sarvodaya Social Order
7 ,, R. B. Gregg—A Compass for Civilisation
8 ,, ,, A Dicipline for Nonviolence
9 ,, ,, A Philosophy of Indian Ecomic Devolopment

10 „ „ A Preparation for Science
11 „ „ The Big Idol
12 „ „ The Nonviolence
13 „ J. B. Kripalani—The Gandhian way
14 „ B. T. Ranadive—Sarvodaya and Communism
15 „ V. L. Mehta—Why Decentrilization ?
16 „ „ Decentrilized Economic Devolopment
17 „ J. B. Kripalani—Sarvodaya and Democracy
18 „ Dr. Ram Manohar Lohia-Marx, Gandhi and Socilism
19 „ Raj Krishna—Human Values and Technological Change
20 „ E.F. Schumacher-Roots of Economic Growth
21 „ J. K. Galbraith—The Afiluent Society
22 „ S. N. Jha—Gandhian Economic Thought
23 „ J. S. Mathur and A. S. Mathur—Economic Thought of Mahatma Gandhi
24 „ Huxley—Ends and Means
25 „ Majumdar, H. T.—Mahatma Gandhi-Peaceful Revolutionary
26 „ Pyarelal—Towards New Horizons
27 „ M. P. Desai—Planning for Basic National Recovery
28 „ „ Population Control
29 „ Vithal Das Kothari-Why Khadi and Village Industries ?
30 „ Pyare Lal—A Nation Builder at Work
31 „ Mahadeo Prasad—Social Philosophy of Mahatma Gandhi
32 „ Government of India-Gandhian Outlook and Technique

33 ,, W. Wellock—A Machanistic or Humanistic Society
34 ,, ,, Gandhi as Social Revolutionary
35 ,, ,, Nai Talim and Social Order
36 ,, ,, Not by Bread Alone
37 ,, ,, The Third Way
28 Sri M. Vinaik—Sarvodaya and Electricity
39 ,, W. Wellok—A Machanisation in Modern World
40 ,, ,, Money has Destroyed your Peace
41 ,, Anna Sahib—Bulding from Below
42 ,, R. J. Soman—Peaceful Industrial Relations : Their Science and Technique
43 ,, Rene Fulop Millor—Dehumanisation in Modern Society.

———